जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य कृत

श्री भाष्य

द्वितीय खंड

प्रस्तोता

आचार्य श्री ललितकृष्ण गोस्वामी

श्री निम्बार्काचार्य पीठ

१२, महाजनी टोला

प्रयाग

मुनिलाल, प्रकाशन अधिकारी
श्री निम्बार्क पीठ
१२ महाजनी टोला, प्रयाग

मूल्य : इक्यावन रुपये मात्र

मुद्रक
ईश्वर शरण आश्रम मुद्रणालय, इलाहाबाद

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद

१ स्मृत्यधिकरण :—

स्मृत्यनवकाश दोषप्रसंग इतिचेन्नान्य स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंगात् ।२।१।१।

प्रथमे अध्याये प्रत्यक्षादिप्रमाण गोचरादचेतनात्तत्संसृष्टाद् वियुक्ताच्च चेतनादर्थान्तरभूतं निरस्तनिखिलाविद्याद्यपुरुषार्थ गंधमनंतज्ञानानंदैकतानमपरिमितोदारगुणसागरं निखिलजगदेक कारणं सर्वान्तरात्मभूतं परंब्रह्म वेदांतवेद्यमित्युक्तम्। अनन्तरस्या र्थस्य संभावनीयसमस्तप्रकारदुर्धर्षणत्वप्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते। प्रथमंतावत् कपिलस्मृति विरोधात् वेदांतानाम-तत्परत्वमाशंक्य तन्निराक्रियते।

प्रथम अध्याय में कहा गया कि-प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सुस्पष्ट, अचेतन से संयुक्त और वियुक्त, चेतन जीव से भिन्न, अविद्या आदि सभी अपुरुषार्थों से रहित, असीम ज्ञान और आनंद से पूर्ण, अपरमित उदार गुणों के सागर, समस्त जगत के एक मात्र कारण, सर्वान्तर्यामी परंब्रह्म ही वेदांत वाक्यों के वेद्य तत्त्व हैं। इसके बाद अब, उक्त संबंध में संभावनीय सभी प्रकार की शंकाओं के निवारण के लिए और तत्त्व के प्रतिपादन के लिए, द्वितीय अध्याय का प्रारंभ करते हैं। सर्व प्रथम, सांख्य स्मृति के साथ विरोध होने से, वेदांत वाक्यों का, अन्यपरत्व है, ऐसी आशंका करते हुए, उसका निवारण करेंगे।

कथं स्मृति विरोधाच्छ्रुतेरन्यपरत्वम् ? उक्तं हि "विरोधे-त्वनपेक्ष्यंस्यात् "इति श्रुतिविरुद्धायाः स्मृतेरनादरणीयत्वम्। सत्यम्

"औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इत्यादिषु स्वतएवार्थं निश्चयसंभवात्त-द् विरुद्धा स्मृतिरनादरणीयैव, इहतु वेदांतवेद्यतत्त्वस्य दु:खबोधत्वेन परमर्षिप्रणीत स्मृति विरोधे सत्ययमर्थं इतिनिश्चयायोगात् स्मृत्या श्रुतेरतत्परत्वोपपादनमविरुद्धम् ।

सांख्य स्मृति, विरुद्ध होने से श्रुति वाक्यों का अन्य परत्व कैसे संभव है?कहते हैं कि"श्रुति के साथ, विरोध अर्थ वाली स्मृति अनपेक्षणीय है" इत्यादि में, श्रुति विरुद्ध स्मृति की अनादरणीयता बतलाई गई है वह ठीक ही है । "उदुम्बरी का स्पर्श करके गान करो।" इत्यादि स्थलों में तो बिना विचारे ही, श्रुति का अर्थ निश्चय किया जा सकता है । इसलिए यह स्मृति, श्रुति विरुद्ध और अनादरणीय मानी जावेगी किन्तु वेदांत तत्त्व दुर्बोध हैं,इसलिए कापिल स्मृति के विरुद्ध होते हुए भी उनका यही अर्थ होगा ऐसा निश्चित करना कठिन है, अतः स्मृति से श्रुति का अन्यपरत्व मानना ठीक ही हैं ।

एतदुक्तं भवति-प्राचीनभागोदितनिखिलाभ्युदयसाधनभूत अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिकर्माणि यथावदभ्युपगच्छता श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु"ऋषिं प्रसूतं कपिलम्"इत्यादिवाक्यैराप्तत्वेन संकीर्त्तितेन परमर्षिणा कपिलेन परमनिःश्रेयसतत्साधनावबोधित्वेनोपनिबद्धस्मृत्युपबृंहणेन विना अल्पश्रुतैर्मंदमतिभिर्वेदांतार्थ निश्चयायोगाद्यथाश्रुतार्थग्रहणे चाप्तप्रणीतायाः सांख्यस्मृतेः सकलाया एवानवप्रकाशप्रसंगाच्च स्मृतिप्रसिद्ध एवार्थो वेदांतवेद्य इति बलादभ्युपगमनीयमिति ।

कहने का तात्पर्य यह है कि-महर्षि कपिल कर्मकाण्ड में उपदिष्ट अभ्युदय के साधन-अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि कर्मों की महिमा यथारूप में स्वीकारते हैं, तथा श्रुति-स्मृति -इतिहास -पुराणादि में "ऋषिं प्रसूतं कपिलम्" इत्यादि में उन्हे आप्त ऋषि भी कहा गया है। इसलिए कपिल प्रणीत, परमनिःश्रेयस (मोक्ष) और उसके साधनों के

प्रतिपादक, स्मृति शास्त्र की सहायता के बिना, अल्पज्ञ और मंदबुद्धि व्यक्तियों को, वेदांत के वास्तविक अर्थ का ज्ञान असंभव है, ऐसा मानना चाहिए। यथाश्रुत (अविचारित) अर्थ का मान लेने से तो आप्त प्रणीत सांख्य स्मृति की निर्विषयता हो जायेगी जो कि–दोष है, इसलिए सांख्य स्मृति प्रसिद्ध (प्रतिपादित) विषय ही, वेदांत शास्त्र का प्रतिपाद्य है, ऐसा तुम्हें, अनिच्छा होते भी स्वीकारना पड़ेगा।

न च वाच्यं मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणत्ववादिनामेवं-सति अनवकाशदोष प्रसंग इति, धर्मप्रतिपादनद्वारा प्राचीन भागोप-बृहंणएव सावकाशत्वात्। अस्यास्तु कृत्स्नायास्तत्त्वप्रतिपादनपरत्वा-त्तथाऽनभ्युपगमे निरवकाशत्वमेव स्यात्। तदिमाशंकतेस्मृत्यनवकाशदोष प्रसंग इति चेत्।

ऐसा मानने से तो, एकमात्र ब्रह्म को ही कारण मानने वाली मनु आदि स्मृतियाँ भी निर्विषय हो जावेंगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्यों-कि-मनु आदि स्मृतियों की तो, पूर्वकाण्डोक्त धर्म के प्रतिपादन से ही, चरितार्थता है। यह सांख्य स्मृति तो सारी की सारी, तत्त्व प्रतिपादन में ही तत्पर है, यदि उसके एक अंश को भी अस्वीकार करेंगे तो वह, पूरी ही निर्विषय हो जावेगी यही बात सूत्र में "स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंग इतिचेत्" में निहित है, जो कि शंका रूप से प्रस्तुत की गई है।

सिद्धान्तः—तत्रोत्तरं-नान्यस्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगात् इति। अन्या हि मन्वादिस्मृतयो ब्रह्मैककारणतां वदंति, यथाह मनुः "आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य "ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्, महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः, अपएव ससर्जादौ तासुवीर्यम-पासृजत्" इति। भगवद्गीतासु च "अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। अहं सर्वस्यप्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इति च॥ महा-भारते- "कुतः सृष्टिमिदं सर्वं जगत् स्थावरजंगमम्, प्रलये च

कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह !" इति पृष्टश्राह-"नारायणोजगन्मूर्त्तिं-रनंतात्मा सनातनः" इति। तथा-"यस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणद्विज-सत्तम" इति। "अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मनिष्क्रिये सम्प्रलीयते" इति च। आह च भगवान् पराशरः "विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ,स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौजगतोऽस्य जगच्चसः" इति। आह-चापस्तम्बः "पूः प्राणिनः सर्वएवगुहाशयस्य अहन्यमानस्य विकल्मषस्य इत्यारभ्य-"तस्मात्कायाः प्रभवंतिसर्वे समूलं शाश्वतिकः सनित्यः" इति। यदिकपिलस्मृत्या वेदांतवाक्यार्थव्यवस्थास्यात् तदैतासां सर्वासां स्मृतीनामनवकाशत्वरूपो महान् दोष प्रसज्येत्।

सूत्रकार सिद्धान्त रूप से उक्त शंका के उत्तर में- "नान्यस्मृत्यनवकाश दोषप्रसंगात्" ऐसा वाक्य सूत्रार्थ में प्रस्तुत करते हैं। अन्य मनु आदि स्मृतियाँ,, ब्रह्मैककारणता का ही प्रतिपादन करती हैं–जैसे–कि–मनु में- "यह सब तमोभूत था से प्रारंभ करके- "इसके बाद अव्यक्त (प्राकृत बुद्धि से अगोचर)भगवान स्वयम्भू, महाभूत आदि चौबीस तत्वों में स्वशक्ति संचार करके जगत को क्रमशः अभिव्यक्त करके तमोनुद (प्रलय कालीन अंधकार शक्ति) को विध्वस्त कर प्रकट हो गए उन्होने विविध प्रजा की सृष्टि की और उसमें वीर्य का संचार किया" इत्यादि। भगवद् गीता में भी इसी प्रकार–"मैं ही समस्त जगत की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ "मैं ही समस्त जगत का कारण हूँ, मुझसे ही सारा जगत प्रादुर्भूत होता है इत्यादि। महाभारत में भी"हे पितामह! स्थावर जंगममय यह सारा जगत कहाँ से उत्पन्न हुआ है? एवं प्रलय काल में कहाँ रहता है? "ऐसा पूछने पर उत्तर "अनंतमूर्त्ति सनातन नारायण ही जगत रूपी मूर्त्ति हैं "तथा- "हे द्विजसत्तम,उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त (प्रकृति का उद्भव हुआ, वह अव्यक्त, निष्क्रिय और निरवयव नारायण में विलीन हो जाता है। ऐसा ही भगवान पराशर विष्णु पुराण में कहते हैं–"यह जगत विष्णु से उत्पन्न है एवं उन्ही में अवस्थित है, वे ही इस जगत के संयामक है, यह जगत उन्ही का रूप है" इत्यादि, आपस्तम्ब स्मृति में भी जैसे–"ये सारे प्राणी, सर्वान्तर-

यामी, अविनश्वर निष्पाप (विष्णु) के शरीर हैं "सारे शरीर उन्हीं से प्रकट हुए हैं, वह परमात्मा ही मूल और निर्विकार हैं एवं वही नित्य हैं" इत्यादि। यदि कपिल स्मृति के अनुसार वेदांत वाक्यों का निर्णय किया जावेगा तो, उक्त सभी स्मृतियां निर्विषय हो जावेंगी, तब तो महान् दोष होगा।

अयमर्थ :—यद्यपि वेदांतवाक्यानामतिक्रान्तप्रत्यक्षादि सकलेतर प्रमाण संभावनाभूमिभूतार्थप्रतिपादनपरत्वात्तदर्थं वैशद्यायाल्पश्रुतानां प्रतिपत्तॄणां तदुपबृंहणमपेक्षितम् 'तथापि तदर्थानुसारिणीनामाप्ततम प्रणीतानां बह्वीनां स्मृतीनां तदुपबृंहणाय प्रवृत्तानामनवकाशत्वं मा प्रसांक्षीदिति श्रुतिविरुद्धार्थ कपिलस्मृतिरुपेक्षणीया।

कहने का तात्पर्य यह है कि-यद्यपि समस्त वेदांत, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतीत परमात्मा के प्रतिपादन में तत्पर हैं, तथापि अल्पज्ञों के लिए इसका विशदीकरण आवश्यक है। वेदांत अर्थ का अनुसरण करने वाली आप्ततम (कपिल से भी अधिक मान्य) वेदांत तत्त्व के उपवृंहण में संलग्न स्मृतियाँ निर्विषय न हो जायें, इसलिए भी, वेदांतविरुद्ध कपिल स्मृति उपेक्षणीय है।

उपवृंहणं च श्रुतिप्रतिपन्नार्थं विशदीकरणम्। तच्च विरुद्धार्थ-या स्मृत्या न शक्यते कर्त्तुम्। न चैतासां स्मृतीनां प्राचीनभागोदितधर्मांश विशदीकरणेन सावकाशत्वम्, परब्रह्मभूतपरमपुरुषाराधनत्वेनधर्मान् विदधतीनामेतासामाराध्यभूतपरमपुरुष प्रतिपादनाभावे सति तदाराधनभूतधर्म प्रतिपादनासंभवात्।

श्रुति प्रतिपादित अर्थ के विशदीकरण को ही उपवृंहण कहते हैं। वह उपवृंहण, विरुद्धार्थ प्रतिपादिका स्मृति से होना संभव नहीं है। एक मात्र कर्म काण्ड के धर्मांशा के प्रतिपादन से ही, मनुआदि स्मृतियों की सार्थकता हो, ऐसा कहना असंगत है, परब्रह्म परमात्मा की उपासना के उद्देश्य से ही धर्म का प्रतिपादन करने वाली ये स्मृतियाँ हैं, यदि इन स्मृतियों में आराध्य परमपुरुष का प्रतिपादन किया न गया होता तो

आराधनारूपी धर्म के प्रतिपादन का क्या अर्थ होता? अर्थात् बिना परब्रह्म के प्रतिपादन के आराधनारूपी धर्म का प्रतिपादन हो नहीं सकता।

तथाहि परमपुरुषाराधनरूपता सर्वेषां कर्मणां स्मर्यते—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येनसर्वमिदंततम्। स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धि विंदंति-मानवः"॥ "ध्यायेन्नारायणंदेवं स्नानादिषु च कर्मसु। ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहावर्त्ततेपुनः॥ "यैः स्वकर्मपरैर्नाथनरैराराधितोभवान्। ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये॥ "इति, न च ऐहिकामुष्मिक-सांसारिकफलसाधनकर्मप्रतिपादनेनैतासां सावकाशत्वम्, यतस्तेषामपि कर्मणां परमपुरुषाराधनत्वमेवस्वरूपम्, यथोक्तं "येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः, तेऽपिमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। नतु मामभिजानंति मयाच्युत, हव्यकव्यभुगेकस्त्वम् पितृदेवस्वरूपधृक "इति।

सभी कर्मो को, परमपुरुष की आराधना के साधन रूप से स्मृतियों में स्पष्ट वर्णन किया गया है—"जिनसे समस्तभूतों की उत्पत्ति है, एवं जो समस्त जगत में व्याप्त है, मनुष्य अपने अधिकारानुसार कर्मों से उनकी अराधना करके, सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त करते हैं "स्नानादि कर्मों में नारायण काध्यान करना चाहिए, ऐसा करने वाले ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते हैं, फिर कभी इसलोक में नहीं लौटते "हे प्रभु जो अपने अधिकारानुसार कर्मों में आरूढ रहकर आपकी आराधना करते हैं, वे माया से मुक्त होने के लिए ही ऐसा करते हैं।" इत्यादि, ऐहिक व पारलौकिक, सांसारिक फलों के साधन रूप कर्मों का प्रतिपादन करने के कारण ही, इन स्मृतियों की सार्थकता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः परमपुरुष अराधना ही, इन समस्त कर्मों का स्वरूप है जैसा कि—"जो भक्ति और श्रद्धा से अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, वे भी मेरी ही, विधिरहित पूजा करते हैं "मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूँ किन्तु साधक मुझे भली भाँति नहीं जानते इसलिए पतित होते हैं, "हे सर्वदेवमय अच्युत! आप सदा समस्त यज्ञों द्वारा अर्चित होते हैं, एकमात्र आपहीदेव-

रूप धारण करके यज्ञीय और श्राद्धीय द्रव्य को ग्रहण करते हैं "इत्यादि से ज्ञात होता है।

यदुक्तं "ऋषिं प्रसूतं कपिलम् "इति कपिलस्याप्तया संकीर्त्तनात्तत्स्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्थव्यवस्थापनंन्याय्यम्-इति, तदसत् ,वृहस्पतेः श्रुतिस्मृतिषु सर्वेषामतिशयितज्ञानानां निदर्शनत्वेन संकीर्त्तनात्तत्प्रणीतेन लोकायतेन श्रुत्यर्थव्यवस्थापनप्रसक्तेः, इति

जो यह कहा कि–शास्त्रों में "ऋषिं प्रसूतं कपिलम्,, इत्यादि कह कर कपिल की आप्त रूप से प्रशंसा की गई है, इसलिए उनकी स्मृति के अनुसार वेदांतार्थ का व्यवस्थापन करना उचित है, यह कथन भी असंगत है, ऐसा मानोगे तो, सर्वश्रेष्ठ ज्ञानियों के अग्रगण्य परं बुद्धिमान वृहस्पति का श्रुतिस्मृतियों में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ उल्लेख किया गया है, उनके लोकायत (नास्तिक) सिद्धान्त के अनुसार भी वेदांतों का सामंजस्य करना पड़ेगा।

अथ स्यात् कपिलस्य स्वयोगमहिम्ना वस्तुयाथात्म्योपलब्धेः तत्स्मृत्यनुसारेण वेदांतार्थो व्यवस्थापयितव्यः इति अतउत्तरं पठति।

यदि कहें कि..इसका उत्तर देते हैं

इतरेषां चानुपलब्धेः।२।१।२॥

च शब्दः तु शब्दार्थः चोदिताशंकानिवृत्यर्थः। इतरेषां मन्वादीनां बहूनां स्वयोगमहिम साक्षात्कृतपरावरतत्वेयाथात्म्यानां निखिल जगद् भेषजभूतस्ववाक्यतया "यद्वैकिंच मनुरवदत्तदभेषजम्"इति श्रुतिप्रसिद्धानां कपिल दृष्टप्रकारेण तत्त्वानुपलब्धेः श्रुतिविरुद्धा कपिलोपलब्धिर्भ्रान्तिमूलेति न तया यथोक्तो वेदांतार्थश्चालयितुं शक्य इतिसिद्धम्।

सूत्रस्थ "च" शब्द "तु" शब्द का समानार्थक है, जो कि की गई शंका की निवृत्ति के उद्देश्य से प्रयोग किया गया है। अन्यान्य मनु आदि अनेक महात्माओं ने अपने अर्जित यौगिक बल से परतत्त्व (ईश्वर) और

अपरतत्त्व (जगत) का यथार्थ रूप से साक्षात् करके,अपने अर्जित ज्ञान को जगत के लिए औषधिरूप से प्रस्तुत किया "जो कुछ भी मनु कहता है वह औषध रूप है "इत्यादि। उन्हीं मनु आदि के ग्रन्थों में कहा गया है कि-कपिल के उपदेश से अनुरूप तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती इसलिए कपिल की उपलब्धि (तत्त्व चिन्तन प्रणाली) श्रुति विरुद्ध और भ्रांति मूलक है। इसलिए वेदांतार्थ के यथार्थ स्वरूप को, उसके आधार पर, अन्यथा नहीं किया जा सकता।

२ योगप्रत्युक्त्यधिकरण:

एतेन योगप्रत्युक्तः ।२।१।३॥

एतेन—कापिलस्मृति निराकरणेन योगस्मृतिरपि प्रत्युक्ता कापुनरत्राधिशंका, यन्निराकरणायन्यायातिदेशः योगस्मृतावपि ईश्वराभ्युपगमान्मोक्षसाधनतया वेदांतविहितयोगस्य चाभिधानात् वक्तुर्हिरण्यगर्भस्य सर्ववेदांतप्रवर्त्तनाधिकृतत्वाच्च तत्स्मृत्या वेदांतोपवृंहणं न्याय्यम्-इति।

इस कपिल स्मृति के निराकरण से, योग स्मृति का भी निराकरण हो जाता है, । प्रश्न होता है कि-योग स्मृति में कौन सी ऐसी वेदांत भिन्न विशेषता है, कि जिसके निराकरण की आवश्यकता पड़ गई? योग स्मृति में भी, वेदांत विहित, मोक्ष साधना रूप, ईश्वर प्रणिधान को मान्यता दी गई है, योगवक्ता हिरण्यगर्भ ने, लोक प्रवृत्ति के उद्देश्य से ही, संपूर्ण वेदांत तत्त्वों का उपदेश दिया है, इसलिए योग स्मृति के अनुसार, वेदांत वाक्यों की व्याख्या न्याय संगत ही है।

आ) परिहारस्तु — अब्रह्मात्मकप्रधानकारणवादानिमित्ताकारण-मात्रेश्वराभ्युपगमात् ध्यानात्मकस्य योगस्यध्येयैकनिरूपणीयस्य ध्येयभूतयोरात्मेश्वरयोर्ब्रह्मात्मकत्वजगदुपादानतादिसर्वकल्याणगु-णात्मकत्वविरहेण अवैदिकत्वाद् वक्तुर्हिरण्यगर्भस्यापि क्षेत्रज्ञ-भूतस्य कदाचिद्रजस्तमोभिभवसंभवाच्च योगस्मृतिरपितत्प्रणीत रजस्तमोमूलपुराणवद्भ्रांतिमूलेति न तया वेदांतोपवृंहणंन्याय्यम्-इति

उक्त संशय का परिहार करते हैं-योग स्मृति, अब्रह्मात्मक प्रधान कारणवाद का ही अनुमोदन करती है तथा ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानती हैं। उनके मत में, ध्येय आत्मा और ईश्वर को अब्रह्मात्मक तथा जगत को उपादान कारण संपूर्णगुणात्मक तत्त्वों का निराकरण एवं वेदविरुद्ध तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। जीव रूप हिरण्यगर्भ भी कभी, रज, तम गुणों से अभिभूत हो जाता है, इसलिए योग स्मृति भी उन्ही के प्रणीत, रजस्तमोमूलक पुराण की तरह भ्रांतिमूलक ही है इसलिए योगस्मृति के आधार पर वेदांत वाक्यों की व्याख्या न्यायोचित नहीं है।

३ विलक्षणत्वाधिकरणः—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।२।१।४।।

पुनरपि स्मृतिविरोधवादी तर्कमवलम्बमानः प्रत्यवतिष्ठते, यत्सांख्यस्मृतिनिराकरणेन जगतो ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्, तन्नोपपद्यते, अस्यप्रत्यक्षादिभिरचेतनत्वेनाशुद्धत्वेनानीश्वरत्वेन दुःखात्मकत्वेन चोपलभ्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः भवदभ्युपेतात् सर्वज्ञात् सर्वेश्वराद् हेयप्रत्यनीकादानंदैकतानात् ब्रह्मणो विलक्षणत्वात् ।

विरोधी, स्मृति वादी पुनः तर्क का आश्रय लेकर सम्मुख आते हैं कि-जो तुमने सांख्य स्मृति का निराकरण करके, जगत को ब्रह्म का कार्य बतलाया 'वो असंगत् है; प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यह जगत, अचेतन, अशुद्ध, अनीश्वर, दुःखात्मक और जड़चेतानात्मक है तथा वह तुम्हारे अभिमत सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वोत्तम एकमात्र आनंदमय से विलक्षण है।

न केवलं प्रत्यक्षादिभिरेव जगतो वैलक्षण्यमुपलभ्यते, शब्दत्वाच्च तथात्वं विलक्षणत्वम् उपलभ्यते-"विज्ञानं चाविज्ञानं च" एवमेवैताभूममात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राप्राणेऽर्पिता "समानेवृक्षेपुरुषो निमग्नोऽनीशयाशोचतिमुह्यमानः" अनीशश्चात्मा-बध्यतेभोक्तृभावात् इत्यादिभिः। कार्यस्य हि जगतोऽचेतनत्वदुःखि-

त्वादयोनिर्दिश्यंते। यद्धि यत्कार्यं, तत्तस्मादविलणम् यथा मृत्सुवर्णादि-कार्यंघटरुचकादि। अतो ब्रह्मविलक्षणस्यास्यजगतः तत्कार्यत्वं न संभवतीति सांख्यस्मृत्यनुरोधेन कार्यसलक्षणं प्रधानमेव कारणंभवितुमर्हति।

केवल प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही जगत की विलक्षणता ज्ञात होती हो ऐसा नहीं है अपितु शब्द शास्त्र भी उसे विलक्षण बतलाता है–"यह जगत विज्ञान और अविज्ञान (जड़ चेतन) है "ये भूतमात्रायें (शब्द आदि विषय) बुद्धि वृत्ति के अधीन हैं, वह बुद्धि प्राण के अधीन है "जीव एक ही वृक्ष पर अवस्थित होकर,अनीश्वर होने से,मुग्ध और शोकाकुल होता है जीव भोक्ता होने के कारण, पराधीन होकर विषयानुभूति करता है" इत्यादि शास्त्र वाक्यों में कार्यभूत जगत की जड़ता, दुखात्मकता आदि विलक्षणतायें बतलाई गई हैं। जिस कारण का जो कार्य होता है, वह कारण से कभी विलक्षण नहीं होता, जैसे कि मिट्टी और सुवर्ण के, घट, आभूषण आदि कार्य। इसलिए ब्रह्म से विलक्षण, यह जगत् ब्रह्म का कार्य नहीं हो सकता। कार्य के अनुरूप,सांख्य प्रतिपादित प्रधान ही,जगत की कारण हो सकती है।

अवश्यं च शास्त्रस्यानन्यापेक्षस्यातीन्द्रियार्थगोचरस्यापि तर्कोऽनुसरणीयः, यः, यतः सर्वेषां प्रमाणानां क्वचिद् क्वचिद् विषये तर्कानुगृहीतानामेवार्थनिश्चय हेतुत्वम्। तर्को हि नाम अर्थस्वभाव-विषयेण वा सामग्री विषयेण वा निरूपणेनार्थविशेषे प्रमाणंव्यवस्था-पयत्तदितिकर्त्तव्यतारूपमूहापरपर्यायं ज्ञानं तदपेक्षा च सर्वेषां प्रमाणानां समाना, शास्त्रस्य तु विशेषणाकांक्षासन्निधियोग्यताज्ञाना-धीनप्रमाणभावस्य सर्वत्रैव तर्कानुग्रहापेक्षा, उक्तं च मनुना– "यस्तर्केणानुसंधत्ते सधर्मं वेदनेतरः" इति तदेवहि तर्कानुगृहीत शास्त्रार्थं प्रतिष्ठापनंश्रुत्या च मन्तव्यः इत्युच्यते।

निश्चित ही इंद्रियातीत, अर्थ प्रतिपादक शास्त्र, अपने अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी उसके लिये तर्क का आश्रय

लेना आवश्यक हो जाता है। क्यों कि-सभी प्रमाण, किसी न किसी विषय में तर्क का सहारा लेकर ही, वास्ताविक अर्थ का निर्णय कर पाते हैं। वस्तु विशेष के स्वाभावविशेष के निरूपण से हो अथवा सामग्री (कारण) विशेष के निरूपण से हो, ऐसे विषय विशेष के प्रामाण्य व्यवस्थापक, इत्तिकर्त्तव्यता रूपी ज्ञान का नाम ही तर्क है, इसी का दूसरा प्रर्यायवाची नाम "ऊह्" है [अर्थात्- किसी एक विषय में, दो या उससे अधिक प्रमाणों के परस्पर विरोधी होने पर, जिसके द्वारा उक्त विरोध का परिहार करके सामंजस्य स्थापना की जाय उसे ही तर्क या ऊह कहते हैं- विरोध परिहार के दो उपाय हैं-(१) विवादास्पद विषय के स्वाभाविक, विषय का निर्धारण (२) विवाद के कारण की पर्यालोचना] विषय के समाधान में, सभी प्रमाणों की तरह तर्क भी अपेक्षा होती है. ऐसा मनु ने भी कहा है "जो तर्क को द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म तत्त्व को जान पाता है, दूसरा नहीं "ऐसे तर्क की सहायता से, शास्त्रार्थ निरूपण को ही श्रुति में "मंतव्य" कहा गया है।

अथोच्येत्—श्रुत्या जगतो ब्रह्मैककारणत्वे निश्चिते सति, तत्कार्यस्यापि जगतश्चैतन्यानुवृत्तिरभ्युपगम्यते। यथा चेतनस्य सुषुप्तिमूर्च्छादिषु चैतन्यानुपलम्भः, तथा घटादिष्वपि सदेव चैतन्यमनुद्भूतं अतएव चेतनाचेतन विभाग इति। नैतदुपपद्यते यतो नित्यानुपलब्धिरसद्भावमेव साधयति। अतएव चैतन्यशक्तियोगोऽपि तेषु निरस्तः। यस्य हि क्वचित्कदाचिदपि यत् कार्यानुपलब्धिः, तस्य तत्कार्यशक्ति ब्रुवाणो, बन्ध्यासुतसमितिषु तज्जननीनां प्रजननशक्ति ब्रूताम्।

यदि कहो कि-श्रुति से जगत के एकमात्र कारण ब्रह्म को निश्चित कर देने से, तदनुसार उसके कार्य रूप जगत को भी चैतन्य वृत्ति वाला मानलेंगे, जैसे कि-चैतन्य की सुषुप्ति मूर्च्छा इत्यादि अवस्थाओं में, चैत्न्योचित चेष्टायें नहीं पाई जातीं, उसी प्रकार घट आदि जागतिक पदार्थों में भी, जो कि चैतन्य ही हैं, चैतन्यता अव्यक्त रहती है, ऐसा मानने से, चेतनाचेतन का भेद भी संगत हो जाता है इत्यादि, तुम्हारा यह कथन सर्वथा हास्यास्पद है, जागतिक घट आदि पदार्थ सदा ही

अचेतन रहते हैं, कभी भी उनमें चेतनता नहीं पाई जाती, इसलिए, जगत् में अव्यक्त चैतन्य शक्ति भी है, यह कथन भी निरस्त हो जाता है। किसी अवस्था या किसी काल में भी, जिसका निर्धारित कार्य, प्रतीत गोचर नहीं होता उसे शक्ति संपन्न कहना तो वैसा ही हास्यास्पद है जैसे, कि-वह बंध्यापुत्रों की माताओं की प्रजनन शक्ति की चर्चाकर रहा हो।

किं च वेदांतैर्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादन निश्चये सति-घटादीनां चैतन्यशक्तेः चैतन्यस्य वाऽनुद्भूतस्य सद्भावनिश्चय-इतीतरेतराश्रयत्वम्। विलक्षणयोर्हि कार्यकारणभावः प्रतिपादयितुमेव न शक्यते।

एक बात और भी है-जब समस्त वेदांतों में ब्रह्म ही जगत का एक मात्र उपादान कारण निश्चित है तो घटादि जागतिक पदार्थों की चैतन्य शक्ति और उनकी चैतन्यस्वरूप अव्यक्त सत्ता भी निश्चिय हो जाती है, तथा उस अव्यक्त सत्ता के निश्चित हो जाने पर, ब्रह्मोपादानकारणता भी निश्चित हो जाती है इस प्रकार दोनों में परस्पर आश्रयता सिद्ध होती है। विसदृश पदार्थों का कार्य कारणरूप प्रतिपादन भी नहीं हो सकता।

किं पुनः प्रकृतिविकारयोः सालक्षण्यमभिप्रेतम्, यदभावाज्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादनसंभवं ब्रूषे, न तावत् सर्वधर्मसारूप्यम्, कार्यकारणभावानुपपत्तेः। न हि मृत्पिडकार्येषु घटशरावादिषु पिण्डत्वाद्यनुवृत्तिर्दृश्यते। अथयेनकेनचिद्धर्मेण सारूप्यम्, तज्जगद्ब्रह्मणोरपि सत्तादिलक्षणं संभवतितदुच्यते, येनस्वभावेन कारणभूतं वस्तु वस्त्वंतराद्व्याबृत्तम् तस्य स्वभास्य तत्कार्येऽप्यनुवृत्तिः कार्यस्य कारण सालक्षण्यम् येनहि आकारेण मृदादिभ्यो हिरण्यं व्यावर्त्तते तदाकारानुवृत्तिः तत्कार्येषु कुंडलादिषु दृश्यते। ब्रह्म च हेय प्रत्यनीकज्ञानानंदैश्वर्यस्वभावम, जगच्च तत्प्रत्मनीकस्वभावमिति न तदुपादानम्। ननु च वैलक्षण्येऽपि कार्यकारणभावो दृश्यते, यथा

चेतनापुरुषादचेतनानि केशखदंतलोमानिजायंते, यथाचाचेतनाद्- गोमयाच्चेतनो वृश्चिकोजायते, चेतनाच्चोर्णनाभेरचेतनस्तन्तुः, नैतदेवम्, यतस्तत्रप्यचेतनांश एव कार्यकारणभावः।

(विवाद) आप, प्रकृति और विकार रूप जगत में किस प्रकार की समता मानते हैं कि जिसके अभाव में, ब्रह्मोपादानकता असंभव बतलाते हैं, कारण और कार्य में सभी प्रकार की समानता तो प्रायः होती नहीं, यदि ऐसा हो तो कार्य और कारण भाव की प्रतीति होगी कैसे? मिट्टी रूपी कारण में, घट आदि कार्यों की आकृति तो दृष्टिगोचर होती नहीं। इसलिए किसी न किसी प्रकार की समानरूपता कारण और कार्य में भी माननी होगी,जगत और ब्रह्म में भी सत्ता आदि रूपी समानता हो सकती है। कारण वस्तु में जो अपनी एक विशेषता होती है, जिससे कि वह अन्य वस्तुओं से पृथक् प्रतीत होती है, कारण की वही विशेषता यदि कार्य में भी तदनुरूप ही दिखलाई दे तो कारण और कार्य को समान कहना पड़ेगा। जैसे कि आकृति गुण आदि में मिट्टी, सोना से भिन्न है, वैसे है, सुवर्ण निर्मित पदार्थों से, मिट्टी के निर्मित प्रदार्थों में भी तन्नि- मित्तक भिन्नता दीखती है। पर ब्रह्म तो अत्युत्तम ज्ञान-आनंद और ऐश्वर्य स्वभाव से संपन्न है, जगत उससे सर्वथा विपरीत स्वभाव का है, इसलिए ब्रह्म, जगत का उपादान कारण कैसे माना जा सकता है? यदि कहें कि— विपरीत रूपों में भी कारण कार्य भाव देखा जाता है, जैसे कि चेतन पुरुष से अचेतन नख-दंत-केश आदि की उत्पत्ति तथा अचेतन गोबर से चेतन गुबरैले कीड़ों की उत्पत्ति एवं चेतन मकड़ी से अचेतन सूत्र की उत्पत्ति इत्यादि, वैसी ही विलक्षणता ब्रह्म और जगत में भी हो सकती है। यह कथन असंगत है, क्यों कि- वहाँ तो अचेतनांश में ही कारण कार्य भाव है [चेतनांश में नहीं]

अथ स्यात्- अचेतनत्वेनाभिमतानामपि चैतन्ययोगः श्रुतिषु श्राव्यते "तं पृथिव्यब्रवीत् "आपोवाअकामयन्त "त हेमेप्राणाअहंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्माणं जग्मुः" इति। नदीसमुद्रपर्वतादीनामपि चेतनत्वं पौराणिक आतिष्ठंते, अतो नवैलक्षण्यमिति। अत उत्तरं पठति-

आप जिन्हें अचेतन कहते हैं, उन्हें ही श्रुतियों में चैतन्ययुक्त कहा गया है जैसे कि–"पृथ्वी ने उससे कहा "जलों ने कामना की "वे इंद्रिया आपस में अपनी श्रेष्ठता के लिए झगड़ती हुई ब्रह्मा के पास गई" इत्यादि ऐसे ही, नदी समुद्र पर्वत आदि की भी, पौराणिक चैतन्यता मानते हैं, इसलिए कारण कार्य में कोई विलक्षणता नहीं है। इसका उत्तर देते हैं–

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।२।१।५।।

तु शब्दश्चोदिताशंकानिवृत्त्यर्थः, पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः "तं पृथिव्यब्रवीत" इत्यादिषु पृथिव्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते। कुतः? विशेषानुगतिभ्यां-विशेषः, विशेषणं, देवताशब्देन विशेष्य पृथिव्यादयोऽभिधीयंते "हंताऽहमिमास्तिस्रो देवताः "इति तेजोऽबन्नानि देवता-शब्देन विशेष्यंते "सर्वाहवै देवताअहं श्रेयसे विवदमानाः" ते देवाःप्राणे-निः श्रेयसं विदित्वा" इति च। अनुगतिः, अनुप्रवेशः, "अग्निर्वाग्भूत्वा-मुखं प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणीप्राविशत् वायुः प्राणोभूत्वा-नासिके प्राविशत् "इत्यादिना वागाधभिमानित्वेनाग्न्यादीनां अनुप्रवेशः श्रूयते। अतोजगतोऽचेतनत्वेन विलक्षणत्वाद्ब्रह्मकार्यत्वानुपपत्तेः तर्कानुग्रहीतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानत्वं वेदांतैः प्रतिपाद्यते इति

सूत्रस्थ तु शब्द की गई शंका के निवारण के लिए प्रयुक्त है। पृथ्वी आदि के अभिमानी देवता ही "पृथ्वी ने उससे कहा" इत्यादि वाक्यों में पृथ्वी आदि शब्दों से बतलाए गए हैं। पृथ्वी आदि देवताओं को विशेष नाम तथा अनुप्रवेश वाला कहा गया है। सूत्रस्थ विशेष्य शब्द विशेषण अर्थ में प्रयुक्त है, देवता शब्द से विशेष्य, पृथिवी आदि का ही निर्देश है। "मैं इन तीनों देवताओं को नाम रूप वाला करूँगा" इत्यादि में तेज जल पृथिवी आदि, देवता शब्द से विशेषित किये गए हैं।" सारे देवता अपनी अपनी प्रधानता बतलाते हुए पहुँचे "वे देवता प्राण में निःश्रेयस जानकर" इत्यादि में भी इन्द्रियादि को देवता कहा गया है। सूत्रस्थ अनुगत शब्द का अर्थ है, मध्य में प्रवेश करना। "अग्नि वाक्य

रूप से मुख में प्रविष्ट है" सूर्य चक्षु रूप से नेत्रों में प्रविष्ट है," वायु प्राण रूप से नासिका में प्रविष्ट है" इत्यादि में वागादि इन्द्रियों के अभिमानी अग्नि आदि देवताओं का अनुप्रवेश बतलाया गया है। इसलिए युक्ति संगत सांख्य स्मृति के मतानुसार, वेदांतशास्त्र में, प्रकृति को ही जगत का उपादान कारण प्रतिपादन किया गया है, ऐसा ही मानना चाहिए।

उक्त तर्क के निराकरण में सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—एवं प्राप्तेऽभिधीयते,

दृश्यते तु ।२।१।६॥

तु शब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते, यदुक्तं जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वेन ब्रह्मोपादानत्वं न संभवति, इति, तदयुक्तम्, विलक्षणयोरपि कार्यकारणभाव दर्शनात्। दृश्यते तु माक्षिकादेर्विलक्षणस्य कृम्यादेस्तस्मादुत्पत्तिः। ननु उक्तमचेतनांश एव कार्यकारणभावात्तत्र सालक्षण्यम्। सत्यमुक्तम्, न तावता कार्यकारणयोर्भवदभिमत सालक्षण्यसिद्धिः। यथाकथंचित्सालक्षण्ये सर्वस्य सर्वसालक्षण्येन सर्वस्मात्सर्वोत्पत्ति प्रसंग भयाद्वस्तुनो, वस्त्वंतराद्व्यावृत्तिहेतु भूतस्याकारस्यानुवृत्तिः सालक्षण्यं भवताऽभ्युपेतं, स तु नियमो माक्षिकादिभ्यः कृम्यादि उत्पत्तौ न दृश्यत इति ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतो ब्रह्मकार्यत्वं नानुपपन्नम्। न हि मृत्हिरण्यघटमुकुटादिष्विव वस्त्वंतरयावृत्तिहेतुभूतासाधारणाकारानुवृत्तिर्माक्षिक गोमयकृमिवृश्चिकादिषु दृश्यते।

सूत्रस्थ तु शब्द, परपक्ष का द्योतक है। विलक्षणता के कारण जगत का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता, यह कथन असंगत है, क्योंकि कार्य और कारण में विभिन्नता भी देखी जाती है। शहद की मक्खियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यदि कहें कि उक्त उदाहरण में केवल अचेतनांश में ही कार्य कारण की समानता है, सो तो आपने ठीक ही कहा, आपके कथन मात्र से ही, कार्य कारण की समानता सिद्ध न

होगी [अर्थात् अचेतन मक्खियों के शरीर में चेतनांश भी तो है, उसे किस कारण का कार्य सिद्ध करेंगे ?] जिस किसी भी प्रकार की समानता तो हर पदार्थ में अवश्य होती है, अतः यह मान्य होगा कि समस्त पदार्थों में किसी न किसी प्रकार की समानता विद्यमान है, तथा इस समानता के सिद्धान्त के अनुसार यह भी मानना पड़ेगा कि—हर वस्तु से हर वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है ? सो तुम मानने में हिचकोगे और तुम्हें यह स्वीकारना पड़ेगा कि—वस्तु से वस्तु का भेद बतलाने वाला जो लक्षण है वही समानता का भी लक्षण है। किन्तु यह नियम मधुमक्खी के प्रसंग में घटित नहीं होता, इसलिए विलक्षण ब्रह्म से, जगत की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा, उपस्थित नहीं होती। मिट्टी से निर्मित घट एवं सुवर्ण रचित मुकुट आदि में, मिट्टी और सुवर्ण जैसी, अनुरूप आकृति समानता दिखाई देती है, वैसी मधुमक्खी, गुबरैले आदि में तो दीखती नहीं।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।२।१।७॥

यदि कार्यभूताज्जगतः, कारणभूतं ब्रह्मविलक्षणम् तर्हि कार्यकारणयोर्द्रव्यांतरत्वेन कारणे परस्मिन् ब्रह्मणि कार्यं जगन्न विद्यत इत्सत एव जगदुउत्पत्तिः प्रसज्यत् इति चेत्—नैतदेवम्, कार्यंकारणयोः सालक्षण्य नियम प्रतिषेधमात्रमेव हि पूर्वसूत्रेऽभिप्रेतम्, न तु कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वम्, कारणभूतं ब्रह्मैव स्वस्माद्विलणणजगदाकारेण परिणमत इत्येतत्तु न परित्यक्तम्, कृमिमाक्षिकयोरपि हि सति च वैलक्षण्ये, कुण्डलहिरण्योरिव द्रव्यैक्यमस्त्येव।

इस पर, यदि कहो कि—कार्य रूप जगत से, कारण रूप ब्रह्म भिन्न लक्षण वाला है, तो कार्य और कारण दो भिन्न पदार्थ हो जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि—परब्रह्म में, इस कार्य रूप जगत का अस्तित्व नहीं है, तथा इस जगत् की उत्पत्ति जड से ही है। सो ऐसी बात नहीं है ऊपर के सूत्र में केवल, कार्य और कारण की समानता के नियम का ही प्रतिषेध किया गया है, कारण से कार्य भिन्न है, ऐसा नहीं कहा गया है, तथा कारण ब्रह्म, जो कि—असमान स्वभाव जगत् के रूप में परिणत

हो जाते हैं, इस बात को भी छोड़ा नहीं गया है। कृमि और मक्खी आदि में स्वभावगत असमानता तो है, किन्तु सुवर्ण कुंडल की तरह द्रव्यैक्य भी है।

उक्त कथन का पुनः प्रधान कारणवादी खंडन करते हैं—
अत्र चोदयति

अपीतौ तद्वतप्रसंगाद समंजसम् २।१।८॥

अपीताविति अपीतिपूर्वकसृष्ट्यादेः प्रदर्शनार्थम् "सदेव सोम्यइदमग्रआसीत् "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिषु अप्ययावस्थोपदेशपूर्वकत्वदर्शनात् सृष्ट्यादेः। यदि कार्यकारणयोर्द्रव्यैक्यमभ्युपेतम् तदा कार्यस्य जगतो ब्रह्मणि अप्ययसृष्ट्यादिषु सत्सु, ब्रह्मण एव तत्तदवस्थान्वय इति कार्यगताः सर्व एवापुरुषार्था ब्रह्मणि प्रसज्येरन्, सुवर्ण इव कुंडलगताविशेषाः। ततश्चं वेदांतवाक्यं सर्वमसमंजसं स्यात् यः सर्वज्ञः सर्ववित् "अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युः" न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते "तयोरन्नं पिप्पलं स्वाद्वत्ति" अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् "अनीशया शोचति मुह्यमानः" इत्येकस्मिन्नेववस्तुनि येषां परस्परे विरुद्धानां प्रसक्तेः।

सूत्र में अपीति शब्द प्रलय पूर्विका सृष्टि का वाचक है। "हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह सारा जगत् सत् ही था" सृष्टि के पूर्व यह जगत एकमात्र आत्मस्वरूप ही था "इत्यादि वाक्यों में सृष्टि के पूर्व की प्रलयावस्था का वर्णन किया गया है। यदि कार्य और कारण को एक ही द्रव्य माना जायेगा तो, ब्रह्म सृष्ट इस जगत का, जो कि उन्हीं से उत्पन्न, स्थित और लय हो जाता है, उसका ब्रह्म के साथ संबंध होना स्वाभाविक ही होगा ऐसा होने से कुंडल की द्रव्यगत विशेषतायें जैसे सुवर्ण में मिल जाती हैं, वैसे ही जगत् की अपुरुषार्थ रूप त्याज्य वस्तुएँ भी प्रलय काल में ब्रह्म से संसक्त हो जावेंगी। इस प्रकार—"जो सर्वज्ञ और सर्वविद है" वह निष्पाप जरामृत्यु रहित है" उसमें कार्य और

कारण नहीं हैं, और न उसमें वृद्धि और ह्रास ही है "उन दोनों में दूसरा जीव ही स्वादुफल का भोग करता है" परतंत्र जीव ही भोक्ता होने के कारण बंधन में पड़ता है "परतंत्र होने से ही मोहवश शोक करता है" इत्यादि वाक्यों में जो परस्पर भिन्नता दिखलाई गई है, वह कार्यकारण की एकता मानने से, असंगत हो जावेगी, अर्थात् उक्त वेदांत वाक्यों में असामंजस्य हो जावेगा।

अथोच्येत—चिदचिद्वस्तुशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मणः कार्यकारणभावाच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतत्वाच्च दोषाणाम् न शरीरिणि ब्रह्मणि कार्यावस्थे कारणावस्थेच प्रसंगः, इति। तदयुक्तम्जगद्ब्रह्मणोः शरीरशरीरिभावस्यैवासंभवात्, संभवे च, ब्रह्मणि शरीर संबंधनिबंधनदोषाणामनिवार्यत्वात्; न हि चिदचिद्वस्तुनोर्ब्रह्मणः शरीरत्वं संभवति, शरीरं हि नाम कर्मफलरूपसुखदुःखभोगसाधनभूतेन्द्रियाश्रयः, पंचवृत्तिप्राणाधीनधारणः पृथिव्यादिभूत संघातविशेषः, तथाविधस्यैव लोकवेदयोः शरीरत्व प्रसिद्धेः। परमात्मनश्च "अपहतपाप्मा विजरः अनश्नन्न्यो अभिचाकशीति-अपाणिपादोजवनोग्रहीतापश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः अप्राणो ह्यमनाः" इत्यादिभिः कर्मतत्फलभोगयोरभावादिन्द्रियाधीनभोग-। त्वाभावात्प्राणवत्त्वाभावाच्च न तं प्रति चेतनाचेतनयोः शरीरत्वम् न चाचेतनव्यष्टिरूपतृणकाष्ठादीनां समष्टिरूपस्यभूतसूक्ष्मस्य च न विद्यते। चेतनस्य तु ज्ञानेकाकारस्य सर्वमेतन्नसंभवतीति नितरां शरीरत्वसंभवः।

जो यह कहते हो कि—चैतन्यजडमय समस्त वस्तुएँ ब्रह्म का ही शरीर हैं, इस लिए उनका ब्रह्म के साथ कारण कार्य भाव संबंध है, जड़चेतनमय वस्तुओं के समस्त दोष शरीरी ब्रह्म में संसक्त नहीं होते, वह तो उसकी कार्य कारण अवस्था में ही रह जाते हैं। इत्यादि

कथन भी असंगत है, ऐसा मानने से तो जगत और ब्रह्म का शरीर शरीरी भाव ही असंभव हो जायेगा, यदि उनमें शरीर शरीरी भाव है, तो ब्रह्म में शरीर संबंध के कारण दोषों की अनिवार्यता भी निश्चित है। जड़-चेतनमय वस्तु, ब्रह्म का शरीर नहीं हो सकती, क्योंकि—कर्मफल सुखदुःख आदि के उपभोग कासाधन रूप, इन्द्रियों का आश्रय पंचवृत्ति (प्राण अपान उदान व्यान समान) के अधीन रहने वाला, पृथिव्यादि भूतों का संघात रूप विशेषांकार ही, लोक और वेद में शरीर रूप से प्रसिद्ध है। परमात्मा को तो "निष्पाप अजर अमर" "भोग नहीं करता केवल देखता ही है" बिना हाथ पैर का होते हुए भी दौड़ कर पकड़ने वाला, बिना नेत्र के देखने वाला, बिना कर्ण के सुनने वाला प्राण एवं मन हीन" कहा गया है। न वाक्यों से ज्ञात होता है कि—परमात्मा के लिए कर्म और कर्म का भोग नहीं है, और न इन्द्रिय साध्य भोग ही संभय हैं, तथा प्राणों संयोग भी संभव नहीं है। इसलिए उसे जडचेतन शरीर वाला नहीं कह सकते। और न, अचेतन व्यष्टि रूप तृण काष्ठ आदि के सूक्ष्म भूत सृष्टि रूप का, इन्द्रियों के आश्रित रहना ही संभव है तथा पृथ्वी आदि और सूक्ष्म भूत समष्टि का संघात (अर्थात् शरीराकार में परिणत होना) संभव ही है। एकमात्र ज्ञानस्वरूप चेतन में तो इन सब का होना, एक दम ही असंभव है। इसलिए उसका शरीरी होना भी संभव नहीं है।

न च भोगायतनत्वं शरीरत्वसंभवः भोगायतनेषु वेश्मादिषु शरीरत्वाप्रसिद्धः, यत्र वर्त्तमानस्यैव सुखंदुःखोपभोग, तदेव भोगायतनमितिचेन्नत परकायप्रवेशजन्म सुखदुःखोपभोगायतनस्य परकायस्य प्रविष्टशरीरत्वाप्रसिद्धेः, ईश्वरस्य तु स्वतः सिद्धनित्यनिरतिशयानंदस्य भोगं प्रति चिदचितयोरायतनत्व नियमो न संभवति। एतेन भोगसाधनमात्रस्य शरीरत्वं प्रत्युक्तम्।

भोगायतन ही शरीर है, इस नियम से भी परमात्मा का शरीर होना असंभव है क्योंकि भोगायतन घर आदि को कहीं भी शरीर नहीं कहा गया है। यदि कहें कि जिसमें रहकर आत्मा को भोग प्राप्त होता है,

वही शरीर है ; तो परकाय प्रवेश जनित सुख दुःख आदि भोग के आयतन प्रविष्ट रूप में, परकाय में प्रविष्ट व्यक्ति का नहीं सुना जाता, अर्थात् परकाय में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को शरीर संबन्ध होने पर भी सुख–दुःख आदि भोग का अनुभव नहीं होता । विशेष रूप से स्वतः सिद्ध नित्य निस्सीम आनन्दमय ईश्वर के भोग साधन के लिये जड़चेतन वस्तु को, आयतन या देह कहना संगत नहीं है । इस विवेचन से, भोग मात्र ही शरीर है, इस कथन का भी निराकरण हो जाता हैं ।

अथ मतं–यदिच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्ति यत् तत्तस्य शरीरमिति, सर्वस्येश्वरेच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन ईश्वर शरीरत्वं संभवति इति, तदपि न साधीयः, शरीरतया, प्रसिद्धेषु तत्तच्चेतनेच्छायत्तस्वरुपत्वाभावात् रुग्णशरीरस्य तदिच्छाधीनप्रवृत्तित्वाभावात् मृतशरीरस्य तदात्मायत्तास्थित्वाभावच्च, सालभंजिकादिषु चेतनेच्छाधीन स्वरूपस्थिति प्रवृत्तिषु तच्छरीत्वाप्रसिद्धेश्च, चेतनस्यनित्यस्येश्वरेच्छायत्त स्वरूपत्वाभावाच्च न तच्छरीत्वसंभवः ।

यदि कहो कि–जिसकी स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति उसकी इच्छा के ही अधीन है, वह इच्छा ही उसका शरीर है, जड़चेतनमय समस्त जगत का स्वरूप, स्थिति और चेष्टा, ईश्वर के इच्छा के ही अधीन है । इसलिए वही उसका शरीर है यह बात भी असंभव है । क्योंकि संसार में कहीं भी चेतन की इच्छानुसार शरीर के चेष्टा नहीं देखी जाती, चेतन की इच्छा होते हुये भी रुग्ण शरीर में, तदनुरूप कोई चेष्टा नहीं होती, मृत शरीर भी तो शरीर है, उसमें भी चेतन की इच्छा के अनुसार कोई प्रवृति नहीं होती । कठपुतली में चेतन की इच्छानुसार चेष्टा में अवश्य होती हैं, परन्तु वह चेतन का शरीर नहीं है । चेतन (जीव) स्वयं नित्य है, इसलिए उसका स्वरूप कभी ईश्वरेच्छा के अधीन तो हो नहीं सकता । इन सब कारणों से ईश्वर के इच्छामय शरीर का होना असंभव है ।

न च यद्येकनियाम्यम्, यदेकधार्यम्, यस्यैकशेषभूतम्, तत्तस्यशरीरमिति वाच्यम्, क्रियादिषु व्यभिचारात्। "अशरीरंशरीरेषु" "अपाणिपादोजवनो ग्रहीता" इत्यादिभिश्चेश्वरस्य शरीराभावः प्रतिपाद्यते। अतो जगद्ब्रह्मणोःशरीरशरीरि भावस्य असंभवात्तत्संभवे च ब्रह्मणि दोषप्रसंगात्ब्रह्मकारणवादे वेदांतवाक्यानाम सामंजस्यम्—इति।

जो जिससे एकमात्र नियम्य, एकमात्र धार्य तथा कर्मभोग का सहायक हो, वही उसका शरीर हो, ऐसा भी कहना कठिन है, ऐसा मानने से क्रिया आदि में अड़चन पड़ेगी। अर्थात् सारी क्रियायें कर्त्ता की अधीनस्थ होकर परिचालित होती हैं तथा भोगादि साधन करती हैं, यदि उक्त प्रकार का शरीर का लक्षण स्वीकारेंगे तो समस्त क्रियायें उस कर्त्ता का शरीर हो जायेंगीं। "वह अशरीरी होकर शरीरों में स्थित है वह हाथ पैर वाले न होकर भी दौड़कर पकड़ते हैं" इत्यादि वाक्यों में कर्ता को शरीर रहित बतलाया गया हैं, इसलिए जगत और ब्रह्म में शरीर शरीरी भाव न होने से अथवा होने से किसी भी प्रकार, ब्रह्म में दोष प्रसंग उपस्थित करने वाले, ब्रह्मकारणवादी वाक्यों का असामंजस्य बना ही रहता है।

अत्रोत्तरम्—इसका उत्तर सिद्धांत रुप से प्रस्तुत करते हैं।

न तु दृष्टांत भावात् ।२।१।६॥

नैवमसामंजस्यम्-एकस्यैवावस्थाद्वयान्वयेऽपि गुणदोष व्यवस्थितेर्दृष्टान्तस्य विद्यमानत्वात्। तु शब्दोऽत्र हेयसंबंधगंधस्या संभावनीयतां द्योतयति। एतदुक्तं भवति—चिदाचिद् वस्तु शरीरतया तदात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणः संकोचविकासात्मककार्यकारण भावावस्थाद्वयान्वयेऽपि न कश्चिद् विरोधः यतः संकोच विकासौ परब्रह्म शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतौ शरीरयंतास्तुदोषा नात्मनि प्रसक्यन्ते, आत्मगताश्चगुणाः न शरीरे अथ च "देवोजातो मनुष्योजातः, तथा स एव बालो युवा स्थविरश्च" इति व्यपदेशश्च मुख्यः

"भूतसूक्ष्मशरीरस्यैव क्षेत्रज्ञस्य देवमनुष्यादिभाव इति" "तदन्तर प्रतिपत्तौ" इति वक्ष्यते ।

उक्त प्रकार के असमंजस की संभावना नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु के अवस्थाभेद से गुण और दोष की व्यवस्था होती है, ऐसे दृष्टांत विद्यमान हैं। तु शब्द हेय संबंध की असंभावना का द्योतक है। कथन यह है कि-जड़चेतनमयशरीर होने से तदात्मक परब्रह्म की संकोचविकासात्मक कार्यकारणाभावरूप, दो अवस्थाओं के होते हुए भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि संकोचविकास, परब्रह्म के शरीरभूत जड़चेतनगत ही हैं। शरीरगत दोष आत्मा में तथा आत्मगत गुण शरीर में संसक्त नहीं होते। फिर भी "देवता हुआ, मनुष्य हुआ, वह बालक युवक बृद्ध हैं" इत्यादि व्यवहार जीव के लिए ही होता है, वस्तुतः सूक्ष्मभूत शरीर का ही, देव मनुष्य आदिभाव होता है, ऐसा "तदन्तर प्रतिपत्तौ" सूत्र में सूत्रकार बतलाते हैं।

यत्पुनरुक्तं-चिदचिदात्मकस्य जगतः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परमात्मानं प्रति शरीरभावो नोपपद्यते-इति। तदनाकलित सम्यङ्‍ न्यायानुगृहीत वेदांत वाक्य गणस्य स्वमतिपरिकल्पित कुतर्क कविविजृंभितम् सर्व एवहि वेदांताः स्थूलस्य चेतनस्याचेतनस्य समस्तस्य च परमात्मानं प्रति शरीरत्वं श्रावयंति, वाजसनेयके तावत् काण्वशाखायां चांतर्यामिब्राह्मणे "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्यपृथ्वी शरीरम्" इत्यारभ्य पृथिव्यादि समस्तमचिद्वस्तु "यो विज्ञाने तिष्ठन्-यस्य विज्ञानं शरीरं "य आत्मनि तिष्ठन्-यस्यात्मा शरीरं" इति चेतनमचेतनं च पृथङ्‍ निर्दिश्य तस्य तस्य परमात्मशरीरत्वमभिधीयते। सुबालोपनिषदि च "यः पृथिवीमंतरेसंचरन् यस्य पृथ्वीशरीरम्" इत्यारभ्य तद् व देव चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमात्म शरीरत्वमभिधाय "एष सर्वं भूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः" इति तस्य सर्वभूतानि प्रत्यात्मत्वमभिधीयते।

जो यह कहा कि – स्थूल सूक्ष्मामक जडचेतनमय जगत परमात्मा का शरीर हो ही नहीं सकता, यह कथन, वेदान्तशास्त्र के सम्यक् ज्ञान न होने से मनः कल्पित कुतर्क का फल है। सारे ही वेदांतशास्त्र स्थूल सूक्ष्म चेतन अचेतन समस्त को परमात्मा का शरीर बतलाते हैं। वाजसेनयी काण्व और माध्यंदिन शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में जैसे—"जो पृथ्वी में स्थित हैं पृथ्वी जिनका शरीर है' इत्यादि से पृथिव्यादि समस्त अचिद् वस्तु तथा "जो विज्ञान में स्थित हैं विज्ञान जिनका शरीर है" "जो आत्मा में स्थित हैं आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि से चेतन वस्तुओं का पृथक—पृथक निर्देश करके, उनको परमात्मा का शरीर बतलाया गया है। सुबालोपनिषद में भी इसी प्रकार "जो पृथ्वी में संचरण करते हैं, पृथ्वी जिनका शरीर है' तथा "जो आत्मा में संचरण करते हैं, आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि में उसी प्रकार चिदचिद की समस्त अवस्थाओं को परमात्मा का शरीर बतलाकर "वह सर्वान्तिर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं" इत्यादि से उन परमात्मा को भूतों का अन्तर्यामी बतलाया गया है।

स्मरन्ति च "जगत्सर्वं शरीरं ते यदम्बुवैष्णवंकायः" "तत्सर्वं वै हरेस्तनुः" तानिसर्वाणि तद्वपुः "सोऽभिध्याय शरीरा—त्स्वात्" इत्यादि। भूतसूक्ष्मत्वात्स्वाच्छरीरादित्यर्थः। लोके च शरीर शब्दो घटादिशब्दवदेकाकारद्रव्यनियत वृत्तिमनासादितः कृमिकीटपतंगसर्पनरपशुप्रभृतिष्वत्यंत विलक्षणाकारेषु द्रव्येष्वगौणः प्रयुज्यमानो दृश्यते। तेन तस्य प्रवृत्तिनिमित्त व्यवस्थापनं सर्वं प्रयोगानुगुण्येनैव कार्यम् त्वदुक्तं च "कर्मफलभोगहेतुः" इत्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्त लक्षणं न सर्वं प्रयोगानुगुणम्, यथोक्तेष्वीश्वर शरीरतयाऽभिहितेषु पृथिव्यादिष्वव्याप्तेः।

"सारा जगत तुम्हारा ही शरीर है, जल विष्णु का शरीर है" यह सब हरि का शरीर है। "उन्होने संकल्प करके अपने शरीर से" इत्यादि स्मृति वाक्य भी उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। लोक में शरीर शब्द, घर आदि शब्दों की तरह, अनेक प्रकार के द्रव्य संघातमय, कृमि-कीट-

पतंग-सर्प-नर-पशु आदि विभिन्न आकारों के लिए प्रयोग किया जाता है। प्रचलित प्रयोगों की सिद्धि के लिए तदनुसार ही शरीर शब्द का प्रयोग करना चाहिए। तुमने जो "कर्म फल के भोग का हेतु शरीर" इत्यादि लक्षण बतलाया वह सर्व प्रयोगानुसारी नहीं है, क्योंकि ईश्वर के शरीर रुप से वर्णित पृथ्वी आदि में, उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है [अर्थात् तुम्हारे लक्षणानुसार शास्त्रनिहित जगतशरीरत्व की सिद्धि नहीं होती]

किं च ईश्वरस्येच्छाविग्रहेषु मुक्तानां च "स एकधा भवति" इत्यादि वाक्यावगतेषु विग्रहेषु तल्लक्षणमव्याप्रम्, कर्मफलभोग निमित्तत्वाभावान्तेषाम्, परमपुरुषेच्छा विग्रहाश्च न पृथिव्यादि भूतसांघ्यत विशेषाः "न भूतसंघ संस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति स्मृतेः। अतोभूतसंघात रुपत्वं च शरीरस्याव्याप्तम्। पंचवृत्ति प्राणाधीन धारणत्वं च स्थावरशरीरेष्वव्याप्तम्। स्थावरेषु हि प्राणसद्भावेऽपि तस्य पंचधा अवस्थाय शरीरस्य धारकत्वेनावस्थानं नास्ति। अहल्यादीनां कर्मनिमित्त शिलाकाष्ठादिशरीरेर्ष्विन्द्रिया-श्रयत्वं सुखदुःख हेतुत्वं चाव्याप्तम्।

तथा ईश्वर के इच्छामय शरीर और "वह मुक्त पुरुष एक दो तीन आदि होता है" ऐसे मुक्त शरीर में भी तुम्हारा लक्षण अव्याप्त होता है। क्योंकि ये शरीर कर्मफल के भोग के लिए नहीं होते। परम पुरुष भगवान का स्वेच्छामय विग्रह पृथिव्यादि भूतों का संघात नहीं होता। "परमात्मा का यह देह भूत समुदायों का संस्थान नहीं है" ऐसा स्मृति का ही वचन है। इसलिए भूतसंघातत्व या भौतिकत्व लक्षण वाले शरीर की तुम्हारे लक्षणानुसार अव्याप्ति होती है। पांचवृत्ति वाले प्राणों के आधार पर जिनकी धारणा और रक्षा होती है, ऐसे स्थावर वृक्ष आदि) शरीरों में भी (उक्त लक्षण) अव्याप्त होगा। यद्यपि स्थावर आदि शरीरों में प्राण का अस्तित्व है, किन्तु पांच प्रकार के प्राणों के आधार पर ही उसकी स्थिति हो, ऐसा नहीं है। कर्म निमित्तक अहल्या आदि के पत्थर लकड़ी आदि के शरीरों में, इंद्रियाश्रमता और सुख दुःख हेतुता का अभाव होने से भी अव्याप्ति होगी।

अतो यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियंतु धारयितुं च शक्यम्, तच्छेषतैक स्वरुपंच तत्तस्य शरीरमिति शरीरलक्षण–मास्थेयम्। रुग्णशरोरादिषु नियमनाद्यदर्शनं विद्यमानाया एव नियमन शक्तेः प्रतिबंधकृतम्, अग्न्यादेः शक्ति प्रतिबंधा दौष्ण्याद्य दर्शनवत्। मृतशरीरं च चेतनवियोग समय एव बिशरितुमारब्धम् क्षणान्तरे च विशीर्यते पूर्वशरीरतयापरिकॢप्त संघातैक देशत्वेन च तत्र शरीत्व व्यवहारः। अतः सर्वंपरं पुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाक्यं धार्यं तच्छेषतैक स्वरुपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम्।

जो चेतन को आत्मीय रुप से नियमन और धारण करने में समर्थ हो और वह उसके अधीन रहे, उसी द्रब्य को शरीर कहा जा सकता है। रोगी आदि शरीरों में जो स्वेच्छानुसार परिचालन क्षमता नहीं होती, वह दाहिका शक्ति रहित अग्नि की अनुष्णता के समान ही शक्त्यावरोध है। मृत शरीर आत्मा से अलग होते समय ही विशीर्ण होने लगता है और तत्काल बाद ही पूर्णतः विषण्ण हो जाता है, पहले वह जीवात्मा, का शरीर था, इसलिए बाद में भी उसमें शरीर रुप से व्यवहार किया जाता है। यह सारा जगत, परं पुरुष परमात्मा से नियंतृत, धारित और हर प्रकार से अधीनस्थ है, इसलिए इसे उनका शरीर कहा गया है।

"अशरीरं शरीरेषु" इत्यादि च कर्म निमित्त शरीर प्रतिषेधपरम् यथोक्त सर्बशरीत्वश्रवणात्। उपरितनादिकरषु चैतदुपपादयिष्यते। "अपोतौ तद्वत्प्रसंगादसमंजसं" नतु दृष्टान्तभावात्" "इतरव्यपदेशात्" इत्यधिकरण सिद्धोऽर्थः स्मारितः।

"अशरीरं शरीरेषु" इत्यादि वाक्य में, परमात्मा के कर्मनिमित्तक भोग्य शरीर का ही निषेध किया गया है, उनके सामान्य शरीर की कहीं भी चर्चा नहीं मिलती। बाद के अधिकरण में इस विषय का उपपादन करेंगे, "अपीतौ तद्वत् प्रसंगाद समंजसम्" न तु दृष्टांतभावात्" इन दो सूत्रों से "इतरव्यपदेशात्" अधिकरण की सिद्धि का स्मरण किया गया है।

स्वपक्षदोषाच्च ।२।१।१०॥

न केवल ब्रह्मकारणवादस्य निर्दोषतयैतत्समाश्रयणम्, प्रधान कारणवादस्य, दुष्टत्वाच्च तत्परित्यज्यैतदेव समाश्रयणीयम्। प्रधान कारणवादे हि जगत् प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। तत्रहि निर्विकारस्य चिन्मात्रैकसस्य पुरूषस्य प्रकृति सन्निधानेन प्रकृतिधर्माध्यास निबन्धना जगत् प्रवृत्तिः। निर्विकारस्य चिन्मात्ररुपस्य प्रकृतिधर्माध्यासहेतुभूतं प्रकृतिसन्निधानं किं रुपम् इति विवेचनीयम्, किं प्रकृतेःसद्भाव एव उततद्गतः कश्चिद् विकारः अथ पुरुषगत एव कश्चिद् विकारः। न तावद् पुरुषगतः, अनभ्युपगमात्। नापि प्रकृतेर्विकारः तस्याध्यास कार्यतयाऽभ्युपेतस्यासहेतुत्वासंभवात्, सद्भाव मात्रस्य सन्निधानत्वे मुक्तस्याप्यध्यास प्रसंग इति त्वत्पक्षे जगत् प्रवृत्ति र्नोपपद्यते। अयमर्थः सांख्य प्रतिक्षेपसमये "अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्" इत्यादिना प्रपंचामिश्यते।

न केवल बह्म कारणवाद के निर्दोष होने के कारण उक्त मत अग्राह्य है, अपितु, प्रधान कारणवाद दोषपूर्ण होने से स्वयं अग्राह्य है, इसलिए ब्रह्मकारणवाद, उक्त मत का त्याग कर ग्राह्य है। प्रधान कारणवाद के आधार पर जगत की रचना सिद्ध ही नहीं होती, क्योंकि उस मत में, निर्विकार एक मात्र चित्स्वरुप पुरूष में, प्रकृति के साहचर्य से, प्राकृतिक धर्मों के अध्यास से जगत की रचना होती है।

निर्विकार चिन्मात्र स्वरूप पुरुष का प्रकृति के धर्मों के अध्यास का कारण, प्रकृति का साहचर्य, किस प्रकार का होता है; यह विवेचनीय है। क्या प्रकृति का सद्भाव मात्र रहता है, अथवा उसका किसी प्रकार का विकार रहता है? अथवा पुरुष का ही किसी प्रकार का विकार रहता है? सो पुरुष का विकार तो हो नहीं सकता, क्योंकि—पुरुष में विकार स्वीकार नहीं किया गया है। प्रकृति का भी विकार नहीं हो सकता, क्योंकि—उसे ही अध्यास रूप कार्य स्वीकार किया गया है, अध्यास ही

अध्यास का पूर्व कारण नहीं हो सकता। प्रकृति का सद्भाव (विद्यमानता) सानिध्य मानने से तो मुक्त पुरूष का भी अध्यास हो जाएगा। इसलिए प्रधान कारणवाद से जगत की रचना नहीं बनती। "अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्" सूत्र की व्याख्या के समय सांख्य मत का नियम विस्तृत रूप से करेंगे।

तर्काप्रतिष्ठानादपि ।२।१।११।।

तर्कस्या प्रतिष्ठितत्वादपि श्रुतिमूलो ब्रह्मकारणवाद एव समाश्रयणीयः न प्रधानकारणवादः। शाक्योलूक्याक्षयादक्षपणकपिलपतंजलि तर्काणामन्योन्यव्याघातात्तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं गम्यते।

जो श्रुति सम्मत नहीं होता उस तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, श्रुति मूलक ब्रह्म कारणवाद ही समाश्रयणीय है, प्रधान कारणवाद नहीं। शाक्य, उलूक्य, अक्षपाद, क्षपणक, कपिल, पतंजलि आदि के तर्क परस्पर भिन्न और खंडित हो जाते है, इसलिए वे सारे तर्क अप्रतिष्ठित माने जावेंगे।

अन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्य निर्मोक्ष प्रसंगः ।२।१।१२।।—

इदानीं विद्यमानानां शाक्यादीनां तर्कानुद्घुष्यान्यदथा प्रधान कारणवादमतिक्रान्ततदुपदर्षितदूषणत्वेनानुमास्यामह इति चेत्, एवमपि पुरुषबुद्धिमूल तर्कैकावलम्बनस्य तथैव देशान्तर कालान्तरेषु त्वदधिक कुतर्क कुशल पुरुषोत्प्रेक्षिततर्क दूष्यत्व संभावनया तर्का प्रतिष्ठान दोषादनिर्मोक्षोदुर्वारः। अतोऽतीन्द्रियेऽर्थे शास्त्रमेव प्रमाणम्, तदुपबृंहणायैव तर्क उपादेयः तथा चाह—"आर्षंधर्मोपदेशं च वेदशास्त्र विरोधिना, यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेदनेतरः इति'। वेदाख्यशास्त्र विरोधिनेत्यर्थः। अतो वेद विरोधित्वेन वेदार्थविशदीकरणरुपवेदोपबृंहणतर्कोपादानाय सांख्य स्मृतिर्नादरणीया।

हम विद्यमान शाक्य आदि के तर्कों का उद्धोष करते हुए प्रकारान्तर से, प्रधान कारण वाद की ऐसी सत्ता का अनुमान करेंगे जिससे कि दोष

उसमें घटित न हो सकेंगे, ऐसा तुम्हारा कथन भी व्यर्थ ही है क्योंकि-तुम मानव बुद्धि के आधार पर ही ऐसी चेष्टा करोगे, देशांतर या कालांतर में तुम्हारे बुद्धिजन्य तर्कों को काटने वाली कोई ऐसी तीक्ष्ण मानव बुद्धि, तुम्हारे समक्ष उपस्थित हो जाएगी, जिससे तुम्हारे सारे तर्क व्यर्थ हो जावेंगे, तुम्हारे तर्कों की प्रतिष्ठा बच न सकेगी । वस्तुतः अतीन्द्रिय अर्थ में शास्त्र ही प्रमाण हैं, उनके विवेचन में ही तर्क की उपादेयता है, ऐसा ही कहा भी गया है "जो वेदशास्त्र से अविरुद्ध तर्क द्वारा ऋषिप्रोक्त धर्मोपदेश को जानने की चेष्टा करते हैं वे ही वास्तविक धर्मतत्व को जानते हैं, दूसरे नहीं"। वेद विरोधी होने से, वेदार्थ विशदीकरण रूप उपबृंहण तर्क का उपपादन करने की चेष्टा करने पर भी, सांख्य स्मृति, आदरणीय नहीं है ।

४ शिष्टा परिग्रहाधिकरणः—

एतेन शिष्टापरिग्रहा, अपि व्याख्याताः ।२।१।१३॥

शिष्टाः परिशिष्टाः, न विद्यते वेद परिग्रहो येषामित्यपरिग्रहाः शिष्टाश्चापरिग्रहाश्च शिष्टापरिग्रहाः, एतेन वेदापरिगृहीत सांख्य पक्ष क्षपणेन परिशिष्टाश्च वेदापरिगृहीताः कणभक्षाक्षपाद क्षपणक भिक्षुपक्षाः क्षपिता वेदितव्याः । परमाणु कारणवादेऽमीषां सर्वेषां संवादात् कारणवस्तुविषयस्य तर्कस्याप्रतिष्ठित्त्वं न शक्यते वक्तुं इत्याधिकाशंका ।

शिष्टा का तात्पर्य है परिशिष्ट तथा अपरिग्रह का अर्थ है, जिसे वेदार्थ ग्रहण नहीं करता । वेदानुमत न होने से सांख्य मत की तरह परिशिष्ट, कणाद, अक्षपाद, क्षपणक (बौद्ध) भिक्षु (जैन) इत्यादि भी अग्राह्य हैं । परमाणु कारणवाद में कणाद आदि सभी जब एकमत हैं, तो कारणवस्तु परमाणु के विषय में, जो कि तर्क से अप्रतिष्ठ हो ही चुका, और अधिक कहने को क्या शेष रह जाता है ? (अर्थात् जब परमाणु कारणवाद को जब परास्त कर चुके तब परमाणु को माननेवाले सभी को परास्त ही समझना चाहिए सबका अलग-अलग खंडन करने की क्या आवश्यकता है ?)

तावन्मात्र संवादेऽपि तर्कमूलत्वाविशेषात् परमाणु स्वरूपेऽपि शून्यात्मकत्वाशून्यात्मकत्वज्ञानात्मकत्वक्षणिकत्व नित्यत्वैकान्तत्वानेकान्तत्वसत्यासत्यात्मकत्वादि विसंवाद दर्शनाच्चा प्रतिष्ठितत्वमेवेति परिहारः।

केवल एक मात्र परमाणु में ही सबका एकमत है, उसमें भी ये लोग परस्पर शून्यात्मक अशून्यात्मक, ज्ञानात्मक, अर्थात्मक सत्यत्व, असत्यत्व, एकान्तत्व, अनेकान्तत्व आदि विभिन्न भेद मानते हैं, इसलिए इन सबका अलग अलग अप्रतिष्ठित रूप में परिहार करना आवश्यक है।

५ भोक्त्रापत्यधिकरणः—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ।२।१।१४॥

पुनरपि सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—यदुक्तं, स्थूलसूक्ष्मचिदचिद् वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यकारणरूपत्वाज्जीव ब्रह्मणोः स्वभाव विभाग उपपद्यते—इति, स तु विभागो न संभवति—ब्रह्मणः शरीरत्वे तस्य भोक्तृत्वापत्तेः, स शरीरत्वे जीवस्येवेश्वरस्यापि सशरीरत्व प्रयुक्त सुख दुःखयोर्भोक्तृत्वस्यावर्जनीयत्वात्।

सांख्यवादी पुनः समक्ष उपस्थित होता है—कि वेदांत में स्थूल सूक्ष्म चिदचिद् जब सभी परब्रह्म के शरीर हैं और सभी का कारण ब्रह्म है, तथा जीव उसका कार्य है, तो जीव और ब्रह्म का भेद कहना असंभव नहीं हैं (अर्थात् वे तो स्वभाव से ही भिन्न हैं) पर वस्तुतः ऐसा कोई भेद होना नहीं चाहिए जबकि परमात्मा का शरीर संबंध है तो उसमें भी जीव की तरह शरीर के भोग्य सुख दुःख आदि अनिवार्य हो जावेगे।

ननु च—"संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशष्यात्" इत्यत्रेश्वरस्य भोग प्रसंग परिहार उक्तः, नैवम् तत्रहि उपास्यतया हृदयायतने सन्निहितस्य शरीरान्तर्वर्त्तित्वमात्रेण भोग प्रसंगो न विद्यत इत्युक्तम्, इह तु जीववद् ब्रह्मणोऽपि शरीरत्वे तद्वदेव सुख दुःखयो भोक्तृत्व

प्रसंगो दुर्वारि इत्युच्यते, दृश्यते हि स शरीराणां जीवानां शरीरगत बालत्वस्थविरत्वादिविकारासंभवेऽपि शरीर धातु साम्यवैषम्य निमित्त सुखदुःखयोगः। श्रुतिश्च "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपह तिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति अतः सशरीर ब्रह्मकारणवादे जीवेश्वर स्वभावविभागा संभवात् केवल ब्रह्मकारणवादे मृत्सुवर्णा दिवज्जगद्गता पुरुषार्थादि सर्वविशेषाश्रयत्व प्रसंगाच्च प्रधानकारणवाद एव ज्यायान् इति चेत्—

—"संभोग प्राप्ति" इत्यादि सूत्र में भोग संभावना का परिहार कर दिया गया है इसलिए ब्रह्म में भोग संभव नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि—उस सूत्र में तो उपास्य रूप से हृदयायतन में शरीरान्तर्वती होने मात्र से उनमें भोग प्रसंग नहीं होता, ऐसा कहा गया। पर यहां तो जीव की तरह ब्रह्म को भी शरीरी कहा गया है अतः वह जीव के समान सुख-दुःख आदि भोगों में अनिवार्य रूप से आसक्त होगा, शरीरी जीवों में शरीरगत बालत्व, स्थविरत्व आदि विकारों के न होते हुए भी धातु वैषम्य (वात पित्त कफ आदि की विषमता) से सुख दुःख होते देखा जाता है। श्रुति का भी ऐसा वचन है कि—"पुरुष जब तक शरीराभिमानी रहता है तब तक प्रिय अप्रिय संबंध निवारित नहीं होते पर अशरीरी होते ही उसे प्रिय अप्रिय स्पर्श भी नहीं कर पाते" इत्यादि से जीव ब्रह्म का भेद परिहृत हो जाता है तो घट कुंडल आदि के उपादान मिट्टी और सुवर्ण की तरह ब्रह्म में भी जागतिक हेय तत्त्वों का संक्रामित होना आवश्यक है इसलिए प्रधानकारणवादी सांख्यमत ही उत्कृष्ट है।

सिद्धान्तः—"स्याल्लोकवत्" इति। स्यादेव विभागो जीवेश्वर स्वभावयोः नहि जीवस्य शरीर धातुसाम्यवैषम्यनिमित्तं सुखदुःखयोभोक्तृत्वम् सशरीरत्व कृतं, अपितु पुण्यपापरूपकर्मकृतम्। "न ह वै सशरीरस्य" इत्यादि कर्मारब्ध देहविषयम्—"स एकधा भवति त्रिधा-भवति"—स यदि पितृलोक कामो भवति—"स तत्र पर्येतिजक्षद् क्रीडन् रममाणः" इति कर्मबंधविनिर्मुक्तस्याविर्भूतस्वरूपस्य सशरीर-

स्यैवापुरूषार्थ गंधाभावात् । अपहतपाप्मनस्तु परमात्मनः स्थूलसूक्ष्म रूपकृत्स्नजगच्छरीरत्वेऽपि कर्मसंवंधगंधो नास्ति इति नतरामपुरूषार्थ गंधप्रसंगः । लोकवत्—यथा लोके राजशासनानुर्वात्तनां च राजानुग्रहनिग्रहकृत सुखदुःखयोगेऽपि न शरीरत्वमात्रेण शासके राज्ञ्यपि शासनानुवृत्यतिवृत्तिनिमित्तसुखदुःखयोर्भोक्तृत्व प्रसंगः ।

उक्त वक्तव्य का खंडन करते हुए कहते है कि—लोक व्यवहार की तरह दोनों का विभाग हो सकता है, जीव और ब्रह्म का स्वाभाविक भेद है, शारीरिक धातु वैषम्य के कारण जो जीव को सुखदुःखादि का अनुभव होता है, उसका कारण शरीरी होना नहीं हैं, अपितु पुण्य पाप रूपकर्म ही उसका कारण है । "शरीराभिमानी जीव के प्रिय अप्रिय अनिवार्य हैं" इत्यादि श्रुति भी, प्रारब्ध कर्मलब्ध देह संबंध का ही द्योतन करती है । "वह एक और बहुत हो जाता है, जब वह पितृलोक में जाने की इच्छा करता है तो वहाँ पहुँच जाता है, वह भोग-आमोद और क्रीडा करता है "इत्यादि वाक्यों में कर्मबंधन से मुक्त जीव के ब्रह्मभाव प्राप्त सूक्ष्म स्वरूप को, जागतिक हेय तत्त्वों से अस्पृष्ट बतलाया गया है । निष्पाप परमात्मा स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत रूप शरीर वाले होकर भी, कर्मबद्ध न होने से जागतिक हेय तत्वों से सदा अस्पृष्ट ही रहते हैं । जैसे कि लोक में राजाज्ञा को मानने वाले और न मानने वाले राजा के अनुग्रह और कोप के भाजन होकर सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, पर शरीरी होते हुए भी राजा का शासन निमित्तक सुख दुःख का रंचमात्र भी अनुभव नहीं होता ।

यथाह—द्रविडभाष्यकारः—"यथा लोके राजा प्रचुरदंदशकेघोरेऽनर्थसंकटेऽपि प्रदेशे वर्त्तमानो व्यजनाद्यवधूतदेहो दोषैर्न स्पृश्यते, अभिप्रेतांश्च लोकान् परिपालयति, भोगांश्च गंधादीनविश्वजनोप भोग्यान्धारयति, तथाऽसौ लोकेश्वरो भ्रमत्स्वसामर्थ्यं चामरोदोषैर्नस्पृश्यते, रक्षति च लोकान् ब्रह्मलोकादीन्, भोगांश्चाविश्वजनोपभोग्यान्धारयति "इति मृत्सुवर्णावद् ब्रह्मस्वरूप परिणामस्तु नैवाभ्युपगम्यते, अविकारत्वनिर्दोषत्वादि श्रुतेः ।

जैसा कि-भाष्यकार दविडाचार्य जी ने कहा भी है-"जैसा कि-राजा मक्खी मच्छर आदि कष्ट प्रद स्थान में भी पंखा और चमर आदि के ढुलने के कारण, उन कष्टों का अनुभव नहीं करता तथा अपने अभीष्ट सुखों को प्राप्त करता है और गंध आदि जागतिक भोग्य पदार्थों को धारण करता है; वैसे ही लोकेश्वर, अव्याहृत शक्ति रूप चामर के निरन्तर ढुलने से जागातिक दोषों से अनस्पृष्ट रहते हैं तथा समस्त जगत का परिपालन करते हुए, जागतिक और ब्रह्मलोकादि भोगों का आनंद लेते रहते हैं। "श्रुति जब ब्रह्म को निर्विकार और निर्दोष बतला रही है, तब मिट्टी और सुवर्ण की तरह, उसका परिणाम नहीं स्वीकारा जा सकता।

यत्तु परैर्ब्रह्मकारणवादे भोक्तृभोग्यविभागाभावमाशक्य समुद्र-फेनतरंगदृष्टांतेन विभागप्रतिपादनपरं सूत्रंव्याख्यातम्, तद्युक्तम् अन्तर्भावितशक्तयविद्योपाधिकाद् ब्रह्मणः सृष्टिमभ्युपगच्छतामेवमाक्षेपपरिहारयोरसंगतत्वात् कारणान्तर्गतशक्तयविद्योपाधि उपहितस्य भोक्तृत्वाद् उपाधेश्च भोग्यत्वात्। विलक्षणयोस्तयोः परस्परभावापत्तिर्हि न संभवति, स्वरूप परिणामस्तु तैरपिनाभ्युपेयते "न कर्मोविभादितिचेन्नानादित्वात्" इति क्षेत्रज्ञानां तद्गत कर्मणां चानादित्व प्रतिपादनात्। स्वरूपपरिणामभ्युपगमेऽपि भोक्तृभोग्यविभागाशंका कस्यचिदपि न जायते मृत्सुवर्णादिपरिणामरूपघटशरावकटकमुकुटादिविभागवद् भोक्तृभोग्यविभागोपपत्तेः स्वरूप परिणामे च ब्रह्मण एव भोक्तृभोग्यत्वापत्तिरिति पुनरप्यसामंजस्य स्यमेव।

जो लोग, ब्रह्मकारणवाद में भोक्ता और भोग्य विभाग न होने की आशंका करते हैं तथा समुद्र और उनके फेन तरंग आदि का दृष्टांत देकर इस सूत्र की व्याख्या करते हैं वे भी असंगत है, क्योंकि—वे लोग जब आवरण और विक्षेप शक्ति समन्वित, अविद्या उपहित ब्रह्म से सृष्टि मानते हैं तो उनके द्वारा, इस प्रकार का शंका समाधान कभी हो नही सकता (यदि वे करते हैं तो ग़लत करते हैं) क्योंकि आवरण विक्षेप अविद्या शक्तियुक्त ब्रह्म, स्वयं भोक्ता तथा उपाधिअविद्या (और अविद्या का परिणाम जगत) उसका योग्य है सिद्ध होता है, इस प्रकार उन दोनों में

वैलक्षण्य के रहते, परस्पर एकभावापत्ति (अविभाग) संभव नहीं है। अन्य लोग तो स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम ही नहीं स्वीकारते। परवर्त्ती "न कर्मविभागात्" इत्यादि सूत्र में, जीव और जीवगत कर्मों की अनादिता का प्रतिपादन किया गया है, तब साक्षात् संबंध से, स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम स्वीकारने पर भी, भोक्ता और भोग्य के भेद के विषय में कोई आशंका कर ही नहीं सकता, क्योंकि मिट्टी सुवर्ण आदि के परिणाम घट मुकुट आदि की तरह, यहाँ भी भोक्ता और भोग्य का विभाग सिद्ध हो जाता है। फेन तरंगादि के दृष्टांत को स्वीकारने पर, स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करते हुये भी, एक ही ब्रह्म में, भोक्ता और भोग्य भाव सिद्ध हो जाता है इसलिए इस मत में पुनः असामंजस्य ही उपस्थित होता है।

६ आरम्भणाधिकरणः—

तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।२।१।१५।।

"असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्" इत्यादिषु कारणभूताद् ब्रह्मणः कार्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वमभ्युपगम्य ब्रह्मणो जगद्कारण त्वमुपपादितम्, इदानीं तदेवानन्यत्वमाक्षिप्य समाधीयते।

"असदिति चेन्न" इत्यादि सूत्र में कारण भूत ब्रह्म और कार्यभूत जगत् की अनन्यता बतलाकर, ब्रह्म की जगत्कारणता का प्रतिपादन किया गया है। अब उस अनन्यता पर आक्षेप करते हुए, समाधान करेंगे।

तत्र काणादाः प्राहुः, न कारण कार्यस्यानन्यत्वं संभवति विलक्षण बुद्धि बोध्यत्वात्, न खलु तंतुपटमृत् पिडघटादिषु कार्यकारण विषया बुद्धिरेकरूपा। शब्दभेदाच्च, नहि तन्तवः पट इत्युच्यंते घटो वा तंतव इति। कार्यभेदाच्च, नहि मृत्पिडेनोदकमाह्रियते, घटे न वा कुड्निर्मियते। कालभेदाच्च, पूर्वकालं च कारणं, अपरकालं च कार्यम्। आकारभेदाच्च, पिडाकारं कारणम्, कार्यं च पृथुबुध्नोदराकारम्, तथा सत्यामेव मृदि घटोनष्ट इति व्यवह्रियते।

संख्याभेदश्च दृश्यते, बहवस्तंतवः, एकश्च पटः । कारकव्यापार वैयर्थ्यं च कारणमेवचेत्कार्यं किं कारणकव्यापारसाध्यं स्यात् । सत्यपि कार्ये कार्मोपयोगितया कारक व्यापारेण भवतिब्यं चेत्— सर्वदा कारक व्यापारेणनोपरन्तव्यम् । सर्वस्य सर्वदा सत्वेन नित्यानित्यविभागश्च न स्यात् । अथ कार्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारकव्यापारेणभिन्यज्यते अतः कारक व्यापारार्थवत्वं, नित्यानित्यविभागश्चोच्यते, तदसत् अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरापेक्षत्वे अनस्यवानाद पेक्षत्वेकार्यस्य नित्योपलब्धि प्रसंगात्तदुत्पत्त्यभ्युपगमे चासत्कार्यवाद प्रसंगात् ।

कणाद कहते हैं कि—कारण से कार्य की अनन्यता कभी हो नहीं सकती कार्य कारण में देखने से भिन्न बुद्धि ही होती है । सूत और कपड़ा, मिट्टी और घट को देखकर स्पष्ट भिन्नता की प्रतीति होती है । दोनों का नाम भी भिन्न है, सूत को कपड़ा या कपड़े को कभी सूत नहीं कहा जा सकता। दोनों का कार्य भी भिन्न है मिट्टी के ढेले में जल नहीं भरा जा सकता, और न घड़े से कूंड़ा ही बनाया जा सकता है दोनों में काल का भी भेद है, पहिले वह कारण था बाद में कार्य हो गया । दोनों में आकार भेद भी है, कारण पिंड आकार था जो कि कार्य रूप में, सुराही के आकार का हो गया । घड़ा का चूरा मिट्टी होते हुए भी प्रयोग यही होता है कि घड़ा फूट गया । दोनों में संख्या भेद भी है सूत अनेक होते हैं, कपड़ा एक होता है । कार्य यदि कारण सा ही रहे तो विचारे कर्त्ता द्वारा किए गए श्रम का प्रयोजन ही क्या होगा ? इन दोनों को एक मानने से कर्त्ता की क्रिया ही व्यर्थ हो जावेगीं । यदि कहो कि—कार्य के रहते भी कारण उपस्थित रहता है, तब तो विचारे कर्त्ता की सारी क्रिया ही गुड़गोबर हो जावेगी, वह विचारा जीवन पर्यन्त बनाता ही रह जावेगा । सब की सदा सत्ता मानने से नित्य और अनित्य का भेद भी तो न रह जाएगा ।

यदि कहो कि—कार्य की सत्ता सदा रहती है, पूर्व में अव्यक्त कार्य, कर्त्ता के क्रिया कौशल से, बाद में व्यक्त हो जाता है, इसलिए कर्त्ता के श्रम की विफलता तथा वस्तु की नित्यता अनित्यता का प्रश्न ही नहीं

उठता। तुम्हारा यह कथन असंगत है। क्योंकि—यदि अव्यक्ति से भिन्न कोई दूसरी अनभिव्यक्ति मानी जावेगी तो अनवस्था दोष होगा, यदि ऐसा नहीं मानते तो कार्य की नित्योपलब्धि का प्रसंग उपस्थित होगा, तथा उत्पत्ति मानने पर असत् कार्यवाद का सिद्धांत उपस्थित होता है (जो कि तुम्हारे मत से भिन्न हमारा अभिमत है)

किं च कारकव्यापारस्याभिव्यंजकत्वे घटार्थेन कारकव्यापारेण कारकादेष्वभिव्यक्तिः प्रसज्यते, संप्रतिपन्नाभिव्यंजकभावेषु दीपादिष्वाभिव्यंग्य विशेष नियमादर्शनात् नहि घटार्कमारोपितः प्रदीपः करकादीन्नाभिव्यनक्ति। अतोऽसतः कार्यस्योत्पत्ति हेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थवत्वम अतश्च सत्कार्यवादासिद्धिः। न च नियत कारणोपादानं सत एव कार्यत्वं साधयति कारणशक्ति नियमादेव तदुपपत्तेः नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्यापारोनोपपद्यते, प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्वात्। कार्यादन्य कारकव्यापारेण भवितव्यम्, तत्रान्यत्वा विशेषात्तंतुगतकारकव्यापारेण घटोत्पत्तिरऽपि प्रसज्यते, नैव यत्कार्योत्पादन शक्तं यत्कारणम, तद्गत कारकव्यापारेण तत्कार्योत्पत्ति सिद्धेः।

जैसे कि—अभिव्यंजक प्रदीप आदि के आलोक में, पहले से स्थित सारी वस्तुएं, आपसे आप दीखने लगती हैं, दीप वाहक को उसमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, वैसे ही पाषाण में यदि पहिले से ही मूर्ति आदि का अस्तित्व है तो शिल्पी को प्रयास करने की क्या आवश्यकता है ? मूर्ति को तो केवल चेष्टा मात्र से स्वयं ही व्यक्त हो जाना चाहिए। क्या घड़े के खोजने के लिए जलाए गए दीपक से अन्यान्य वस्तुएं प्रकाशित नहीं होती ? असत् कार्यवाद मानने पर ही शिल्पी की कार्य सार्थकता सिद्ध होती है, इसलिए सत्कार्यवाद गलत है। भिन्न-भिन्न उपादानों को मानने से भी सत्कार्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि—भिन्न कारणों में विभिन्न प्रकार की शक्ति निहित है, सभी वस्तुओं में सब कुछ प्रकट

करने की उर्वरा शक्ति नहीं होती इसलिए भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न उपादान मानना आवश्यक है यदि कहें कि—उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता न मानने से असत्कार्यवादी के पक्ष में भी कर्त्ता का प्रयास सफल नहीं हो सकता; क्योंकि—उनके मत से, कार्य से भिन्न पदार्थों के आधार पर ही, कर्त्ता का व्यापार है, तो तंतुओं के साथ प्रयास करने से घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिए। सो बात भी नहीं है क्योंकि—जिस कार्य की क्षमता, जिस कर्त्ता में होती है, वह उसके कारण से उसी कार्य की उत्पत्ति कर सकता है (जैसे कि—कुम्हार मिट्टी से घड़ा आदि जुलाहा सूत से वस्त्र आदि। कुम्हार कपड़ा या जुलाहा घड़ा नहीं बना सकता)

अत्राहुः, कारणादनन्यत्कार्यम् नहि परमार्थतः कारणव्यतिरिक्तं कार्यंनामवस्तु इति, अविद्या निबंधनत्वात् सकलकार्यतद्व्यवहारयोः। अतो यथा कारणभूतान्मृद्रव्याद् घटादिषु विकारेषूपलभ्यमानाद्व्यतिरिक्तं घट शरावादिकार्य व्यवहारमात्रालंबनं मिथ्या, कारणभूतं मृद्व्यमेव सत्यं, तथा निर्विशेष सन्मात्रात् कारणभूताद् ब्रह्मणोऽन्यो अहंकारादि व्यवहारावलंबनः कृत्स्नः प्रपंचोमिथ्या, कारणभूत सन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यम्। तस्माद कारणव्यतिरिक्तं कार्यं नास्तीति कारणादन्यत्कार्यम्। न च वाच्यं, शुक्तिकारजतादीनामिव घटादिकार्याणामसत्यत्व प्रसिद्धे दृष्टांतानुपपत्तिरिति, यतस्तत्रापि युक्त्या मृद्द्व्यमात्रमेव सत्यतया व्यवस्थाप्यते, तदतिरिक्तं तु युक्त्या बाध्यते का पुनरत्र युक्तिः? मृद्द्व्यमात्रस्यानुवर्त्तमानत्वं तदतिरिक्तस्य च व्यावर्त्तमानत्वम् रज्जुसर्पादिषु हि अनुवर्त्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य रज्ज्वादेः सत्यता, व्यावर्त्तमानस्य च सर्पभूदलनांबुधारादेरसत्यता दृष्टा, तथाऽनुवर्त्तमानमधिष्ठानभूतं मृद्द्व्यमेव सत्यम्; व्यावर्त्तमानास्तु घटशरावादयोऽसत्यभूताः।

इस पर सत्कार्यवादी कहते हैं कि—कारण से कार्य अभिन्न है, वस्तुतः कारणके अतिरिक्त, कार्यनाम की कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ भी कार्य

कारण व्यवहार है वह सब अविद्या (भ्रांति) मूलक है। मिट्टी के विकार घड़े आदि व्यवहारास्पद कार्य, जिस प्रकार काल्पनिक हैं, मिट्टी ही एकमात्र सत्य है उसी प्रकार "मैं और मेरा कहलाने वाला व्यवहारास्पद जगत प्रपंच, अपने कारण निर्विशेष शुद्ध सत्य स्वरूप ब्रह्म के बजाय, मिथ्या है। सत् पदार्थ ही यथार्थ सत्य है, इसलिए कारण से भिन्न, कार्यनामक कोई वस्तु नहीं है, और न कार्य ही कारण से भिन्न हैं।

ऐसा नहीं कह सकते, शुक्ति में रजत की मिथ्या भ्रांति का उदाहरण जैसे प्रसिद्ध है, वैसे घट आदि कार्यों में तो मिथ्या भ्रांति का उदाहरण प्रसिद्ध है नहीं इसलिए उक्त कथन असंगत है। उल्लेख मिट्टीघट आदि के प्रसंग में, युक्ति द्वारा केवल मिट्टी की ही सत्यता बतलाई गई तथा उनकी पृथकता की बात भी केवल युक्तिमात्र ही है। यदि कहें कि इसमें क्या युक्ति है? तो सुनिये-मिट्टी के सारे कार्यों में मिट्टी की अनुवृत्ति सदा रहती है तथा घट आदि आकृतियों में परस्पर व्यावृत्ति होने से सदा भिन्नता रहती है। रज्जुसर्प, शुक्ति रजत आदि में भ्रम कल्पित सर्प आदि की आश्रयभूत रज्जु सदा ही अनुवृत्त (जैसी की तैसी) रहती है, कभी भी उसकी रज्जुता का त्याग नहीं होता; इसलिए वह सर्प ही सत्य है, रज्जु, पृथ्वी की रेखा, जल की धारा, जिनमें कि सर्प भ्रांति होती है नितांत असत्य हैं। वैसे ही घट आदि कार्यों की आश्रय मिट्टी, मिट्टी से निर्मित पदार्थों से अनुवृत होने से सत्य, तथा परस्पर व्यावृत स्वभाव वाले घट प्याला आदि कार्य असत्य या मिथ्या हैं।

किं च सतश्रात्मनो विनाशाभावादसतश्च शशविषाणादेरुपवलब्ध्यभावादपलब्धिविनाशयोपिकार्यं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमिति गम्यते। अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मृषैव। तस्य चानिर्वचनीयत्वं प्रतीतिबाधाभ्यां सिद्धम्।

एक बात और भी है कि—सत्वस्वरूप आत्मा का विनाश नहीं होता तथा शशशृंग ऐसे असत् पदार्थों का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि—उपलब्धि (प्रतीति) और विनाश का विषयीभूत कार्य समूह अनिर्वचनीय है, अनिर्वचनीय वस्तु शुक्ति में रजत की भ्रांति के

समान मिथ्या ही होती है। शुक्तिऔर रजत की जो अनिर्वचनीयता है वह प्रतीति और बाधा द्वारा ही सिद्ध होती है।

किं च कार्यमुत्पादयन् मृदादि कारणद्रव्यं किमविकृतमेव कार्यमुत्पादयति, उत कंचन विशेषमापन्नम्। न तावदविकृतमुत्पादयति सर्वदोत्पाकत्वप्रसंगात्। नापिविशेषांतरमापन्नम्, विशेषान्तरापत्तेरपि विशेषान्तरापत्तिपूर्वकत्वेन भवितव्यम् तस्याअपि तथेत्यनवस्थानात्। अविकृतमेव देशकालनिमित्त विशेषसंबंधं कार्यमुत्पादयतीति चेन्न। देशादिविशेषसंबंधोऽपि हि अविकृतस्य विशेषांतरमापन्नस्य च पूर्ववन्नसंभऽति।

तथा–मिट्टी आदि कारण, जो घट आदि कार्य उत्पन्न करते हैं वे अविकृत उत्पादन करते हैं या विकृत कार्योत्पादन करते हैं? अविकृत उत्पादन तो हो नहीं सकता, क्यों कि-वैसा होने से, एकही कारण से सभी कार्यों की उत्पत्ति हो जावेगी। विशेष अवस्थावाला विकृतोत्पादन भी नहीं हो सकता, वैसा होने से पुन पुनः विशेष अवस्था ही होती रहेगी जिससे अव्यवस्था हो जावेगी। देश–काल और कारण संबंध से अविकृत उत्पादन ही होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, अविकृत अथवा विशेष अवस्थापन्न विकृत, दोनों का ही, पूर्वोक्त युक्ति से, देश काल आदि से संबंध संभव नहीं है।

न च वाच्यं मृत्सुवर्णदुग्धादिभ्यो घटरुचकदध्यादीनां उत्पत्तिदृश्यते, शुक्तिकारजतादिवद् देशकालादिप्रतिपन्नोपाधौबाधश्च न दृऽश्यते, अतः प्रतीतिशरणानां कारणात् कार्योत्पत्तिरवश्याश्रयणीया इति, विकल्पासहत्वात्-किं हेमादिमात्रमेव स्वस्तिकादेरारम्भकम् उतरुचकादि, अथरुचकद्याश्रयो हेमादिः, न तावद् हेमादिमात्रमा-रम्भकम्, हेमव्यतिरिक्तस्य कार्यस्याभावात्, स्वात्मानं प्रत्यात्मनः आरम्भकत्वासंभवाच्च। हेमव्यतिरिक्तं स्वस्तिकं दृश्यते इतिचेत्-

न हेमव्यतिरिक्तं तत् हेम प्रत्यभिज्ञानात् तदतिरिक्तवस्त्वन्तरानुपलब्धेश्च ।

यह भी नहीं कह सकते कि–मिट्टी–सुवर्ण दूध आदि कारणों से क्रमशः घट–कुंडल और दही आदि कार्यो की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, किन्तु शुक्ति में रजत की सी मिथ्या प्रतीति, किसी भी काल देश और कारण से, इन पदार्थों में नहीं होती। इसलिए–प्रतीति प्रामाण्य स्वीकृति के अतिरिक्त जिसके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है, उसके लिए कारण से नवीन कार्योत्पत्ति स्वीकारनी ही होगी। आपकी यह युक्ति विचार शून्य है, मैं पूछता हूँ कि–केवल सुवर्ण ही अलंकारों का उपादान कारण है, या हार आदि भी हैं? या जिसके आश्रय से हार आदि अलंकार उत्पन्न होते हैं वे सुवर्ण आदि समस्त कारण हैं? केवल सुवर्ण तो कारण हो नहीं सकता, सुवर्ण के विना, उसके कार्यरूप अलंकारों का कोई अस्तित्व ही नहीं है, न वे अलंकार ही स्वयं अपने कारण हो सकते हैं। सुवर्ण के विना भी अलंकार होते हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, वे सब सुवर्ण से भिन्न हैं भी कहाँ? उनको सोना ही कहा जाता है, उन अलंकारों में सुवर्ण के अतिरिक्त कुछ मिलता भी नहीं।

वुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वंतरादीनां शुक्तिकारजतबुद्धिशब्दादिवत् भ्रांतिमूलत्वेन वस्त्वन्तरसद्भावस्यासाधकत्वात्, नापि रुचकादि स्वस्तिकादेरारम्भकम्, स्वस्तिके हिरुचकं पट्इवतन्तवो भवतापि नोपलभ्यते। नापिरुचकाश्रयभूतं हेम रुचकाश्रयाकारेण हेम्नः स्वस्तिकेऽनुपलब्धेः, अतोमदादिकारणातिरिक्तस्य कार्यस्यासत्यत्वदर्शनात् ब्रह्मव्यतिक्तं कृत्स्नं जगत् कार्यत्वेन मिथ्याभूतम्, तदिदं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वसुखप्रतिपत्तये काल्पनिकमृदादिसत्यत्वमाश्रित्य कार्यस्यासत्यत्वं प्रतिपादितम्। परमार्थतस्तु मृत्सुवर्णादिकारणमपि घटरुचकादिकर्यवन्मिथ्याभूतम्, ब्रह्मकर्यत्वाविशेषात् ।

यदि कहो कि–बुद्धि और शब्द से ही, कार्य कारण का भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है (अर्थात् सुवर्ण को देखकर सुवर्ण निमित्तक धारणा

होती है तथा अलंकार को देखकर अलंकार निमित्त क धारणा होती है। इसी प्रकार सुवर्ण को सुवर्ण तथा अलंकार को अलंकार कहा जाता है) सो ऐसा नहीं है क्यों कि-जैसे शुक्ति में रजत की भ्रांति होने पर "रजत" शब्द और तद् विषयक ज्ञान द्वारा, रजत का अस्तित्व, जैसे प्रमाणित नहीं हो पाता, वैसे ही अन्यत्र भी ठोस प्रमाण के बिना, एकमात्र शब्द भेद और ज्ञान भेद से वस्तु की कल्पना करना कठिन होता है। वस्तुत: स्वर्ण विकार हार आदि, अन्य अलंकारो के उपादान कारण नहीं हो सकते सुवर्ण ही उनका यथार्थ उपादान है। जैसे वस्त्र में सूत्र दीखते हैं, वैसे अलंकारों में हार तो आपको भी न दीखता होगा। और न हार के आश्रयभूत सुवर्ण में, अलंकारों के आश्रयभूत सुवर्ण की ही प्रतीति होती होगी (अर्थात् हार रूप में परिणत सुवर्ण में, पूर्व निर्मित स्वस्तिकादि परिणत सुवर्ण की प्रतीति तो होती नहीं) इसलिए जैसे कि-मिट्टी आदि कारण के अतिरिक्त, उनके कार्यों की सत्यता नहीं देखी जाती, वैसे ही ब्रह्म के अतिरिक्त संपूर्ण जगत कार्यरूप होने से मिथ्या है। मिट्टी आदि के दृष्टान्तों से, ब्रह्म से भिन्न जगत की मिथ्यता, सहजरूप से ही ज्ञात हो जाती है। मिट्टी आदि में वास्तविक सत्यता न होते हुए भी काल्पनिक (व्यावहारिक) सत्यता मानकर, समस्त ब्रह्मकार्यों की असत्यता का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुत: मिट्टी, सुवर्ण इत्यादि कारण भी मिथ्या हैं, क्यों कि वे भी, ब्रह्म के ही कार्य हैं।

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यम्–"नेहनानास्ति किंचन् मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति"–यत्रहि द्वैतामिव भवति तदितरइतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकं पश्येत्"–इंद्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्येवमादिभिः श्रुतिभिश्च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमवगम्यते न चागमावगतार्थस्य प्रत्यक्ष विरोधः शंकनीयः, यथोक्तप्राकरेण कार्यस्यसर्वस्य मिथ्यात्वावगमात्, प्रत्यक्षस्य सन्मात्रविषयत्वाच्च विरोधे सत्यप्यसंभावितदोषस्य चरमभाविनः स्वरूपसद्भावादौ प्रत्यक्षादि अपेक्षत्वेऽपि प्रमितौ निराकांक्षस्य निरवकाशस्य शास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। अतः कारणभूतात्ब्रह्मणोऽन्यत् सर्वं मिथ्या।

"यह सारा जगत् ब्रह्मात्मक है, वह ब्रह्म ही सत्य है-"इस ब्रह्म और जगत में कोई भेद नहीं है, जो लोग इसमें भेद देखते हैं, वे बार बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं-"जिस समय लोगों की द्वैत बुद्धि हो जाती है, तभी वे दूसरा देखते हैं जब वह इस जगत को आत्मा ही देखते हैं तो किसके द्वारा किसको देखेंगे?" "ईश्वर अपनी माया से अनेक रूपों में प्रकाशित होते हैं "इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। शास्त्र द्वारा निर्धारित विषय में, कभी भी, प्रत्यक्ष से विरुद्धता नहीं पाई जाती, शास्त्र से सभी पदार्थों की मिथ्यता निर्धारित होती है तथा प्रत्यक्ष से, वस्तु की सत्तामात्र सिद्ध होती है। वस्तुत: निर्दोष शास्त्र, प्रत्यक्ष से, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्यों कि-प्रत्यक्ष के बाद लिपिबद्ध हुए हैं। शास्त्र के अर्थ जानने में चाहे, प्रत्यक्ष की थोड़ी बहुत अपेक्षा हो भी जाय, पर शास्त्रलभ्य ज्ञान में प्रत्यक्ष की, रंचमात्र की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए शास्त्र सम्मत कारण ब्रह्म से भिन्न, सब कुछ मिथ्या है।

न च प्रपंचमिथ्यात्वेन जीवमिथ्यात्वमाशंकनीयम्, ब्रह्मण एव जीव भावात्। ब्रह्मैथहि सर्वशरीरेषुजीवभावमनुभवति"- अनेन जीवेनात्म-नाऽनुप्रविश्य"-एकोदेव: सर्वभूतेषु गूढ़:"-एको देवो बहुधा निविष्ट:" एष सर्वेषुभूतेषु गुढात्मा न प्रकाशते"-नान्योतोऽस्तिद्रष्टा" इत्येवमादिभ्य:।

सारा प्रपंचमय जगत मिथ्या है, इसलिए जीव भी मिथ्या होगा ऐसी शंका नहीं की जा सकती, क्यों कि-स्वयं ब्रह्म ही जीव भाव से समस्त शरीरों में जीवत्व की अनुभुति करते हैं, इसलिए वह तो मिथ्या हो ही नहीं सकता। "मैं इस जीवात्मा के रूप से अनुप्रविष्ट होकर"–एक ही देव समस्त भूतों में छिपे हैं –"एक ही देव अनेक रूपों में प्रविष्ट हैं– "यही परमात्मा सभी भूतों में गुप्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते"– इनके अतिरिक्त कोई दूसरा दृष्टा नहीं है "इत्यादि वाक्य आलोच्य विषय के प्रमाण हैं।

नन्वेकमेव ब्रह्म सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवति चेत्-"पादे मे वेदना" शिरसि मे सुखम्" इतिवत् सर्वशरीरेषु सुखदुःख प्रतिसंधानं

स्यात्, जोवेश्वरबद्धमुक्तशिष्याचार्यज्ञत्वादि व्यवस्था च न स्यात्। अत्र केचिद् द्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयंत एवैनं समादधते, एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिबिंबभूतानां जीवानां सुखित्वदुःखित्वादय एकस्यैव मुखस्य प्रतिबिंबानां मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानामल्पत्वमहत्व-मलिनत्व-विमलत्वादिवसतदुपाधिवाशात् व्यवस्थाप्यंते।

प्रश्न होता है कि–जब एक ही ब्रह्म, समस्त शरीरों में जीवभाव अनुभूति करते हैं तो, "मेरे पैर में दर्द है" "शिर में आनंद है" इत्यादि जो शरीर संबंधी अनुभूति होती है, उस सुख दुःखात्मक अनुभूति का ब्रह्म से भी संबंध होगा तथा, जीव-ईश्वर-बद्ध-मुक्त-शिष्य-गुरु-ज्ञानी अज्ञानी आदि का भेद भी न हो सकेगा। क्योंकि, ब्रह्म, नित्यमुक्त और निर्विशेष है तो बद्ध और मुक्त होगा कौन? इसके समाधान में कोई ब्रह्म के अद्वैत-रूप को मानते हुए कहते हैं कि–मणि–कृपाण–दर्पण में पड़ती हुई एक ही मुख की छायाओं में जैसे–छोटी–बड़ी–धुंधली,–स्वच्छ आदि दीखती हैं, उसी प्रकार विभिन्न उपधियों से, एक ही ब्रह्म के प्रतिबिंबस्वरूप जीवों में, तारतयानुसार सुख दुःख आदि की व्यवस्था होती है।

ननु "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतेर्न जीवा ब्रह्मणोभिद्यंत इत्युक्तम्, सत्यम्, परमार्थतः, काल्पनिकं तु भेदमाश्रित्येयं व्यवस्थोच्यते। कस्य पुनः कल्पना? नतावद् ब्रह्मणः, तस्य परिद्ध ज्ञानात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्। नापिजीवानाम्, इतरेराश्रयत्व प्रसंगात्– कल्पनाधीनो हि जीवभावः, जीवाश्रया च कल्पना-इति। नैतदेवम्-अविद्या जीवभावयोर्वीजांकुरन्यायेनानादित्वात्।

"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जो ब्रह्म जीव की एकता बतलाई वह ठीक ही है क्यों कि-भेद तो काल्पनिक है वास्तविक नहीं। पर वह कल्पना है किसमें? ब्रह्म में तो हो नहीं सकती, क्यों कि-वह तो विशुद्ध ज्ञानमय है इसलिए कल्पनातीत अनिर्वचनीय है। कल्पना जीव में भी नहीं हो सकती, ऐसा करने से अन्योन्याश्रय संबंध होगा, अर्थात् कल्पनाधीन जीवभाव होगा तथा जीवाश्रित कल्पना होगी।

सो ऐसा न होगा-बीजांकुर न्याय से अविद्या एवं जीवभाव अनादि हैं [प्रश्न होता है कि-वृक्ष पहिले हुए या बीज, इस संशय की निवृत्ति के लिए, बीज और वृक्ष का कारण कार्य भाव अनादिमान लिया गया है। ऐसा ही नियम अविद्या और जीव के संबंध में भी है। अविद्या अनादि काल से जीवाश्रिता है तथा अविद्या सापेक्ष जीवभाव भी अनादि है, यह तर्कातीत विषय है]

किं च, प्रासाद निगरणादिवदनुपपन्नतैकवेषायामवस्तुभूतायाम-विद्यायां नेतरेतराश्रयत्वादयो वस्तुदोषा अनवक्लृप्तिभावहंति। वस्तुतो ब्रह्मव्यतिरिक्तानां जीवानां स्वतो विशुद्धत्वेऽपि कृपाणादिवा-तमुखप्रतिबिंबश्यामतादिवदौपाधिकाशुद्धि सभवादविद्याश्रयत्वोपपत्तेः काल्पनिकस्वोपपत्तिः। प्रतिबिंबगतश्यामतादिवज्जीवगता शुद्धिरपि भ्रांतिरेव अन्यथाऽनिर्मोक्षप्रसंगात्। जीवानां भ्रमस्य प्रवाहानादि-त्वान्नतद् हेतुरन्वेषणीयः, इति।

प्रासाद निगरण (महल का निगलना) आदि नितांत असंभव बातें हैं, किन्तु योगमाया का तो यह स्वरूप ही है, वह तो अघटन घटना परी–यसी है, इसीलिये वह अवास्तविक है, ऐसी अवास्तविक अविद्या में, अन्योन्याश्रय आदि वस्तु दोष न होते हों, ऐसी बात नहीं है वस्तुतः जीव, ब्रह्म से भिन्न तो है नही इसलिए वह स्वभाव से विशुद्ध है, फिर भी कृपाणादि में प्रतिबिंबित मुख में जैसे, मलिनता आदि दोष दीखते हैं, वैसे ही विशुद्ध जीव में, दोष आरोपित होते हैं, इसलिए उसकी काल्पनिक अविद्याश्रयता भी होती है। प्रतिबिंबगत मलिनता आदि की तरह, जीव-गत दोष भी भ्रांति मात्र ही हैं यदि ऐसा न हो तो, जीव की कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती [यद्यात्मा मलिनो अस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः, न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि "कूर्म पुराण]

तदेतदविदिताद्वैतयाथात्म्यानां भेदवादश्रद्धालुजनसबहुमाना-वलोकनलिप्साविजृम्भितम्। तथाहि-जीवस्याकल्पितस्वाभविकरूपेणा-विद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्मात् तदतिरिक्तेनतस्मिन्

कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वेजस्ऽयविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात् न खलु अद्वैतवादिनः तदुभयव्यति-रिक्तमाकारमभ्युपगच्छंति। कल्पिताकार-विशिष्टेन स्वरूपेणैवाविद्याश्रयत्वमितिचेत्त्-तत्र-स्वरूपस्याखंडैकर-सस्याविद्यामंतरेण विशिष्ट रूपत्वासिद्धेः अविद्याश्रयकर एवहि निरूप्यते।

जीवों का भ्रमप्रवाह अनादि है, इसलिए उसके कारण का अन्वेषण नहीं करना चाहिए—ऐसा, अद्वैत तत्त्व को न जानने वाले, भेदवाद में श्रद्धा रखने वाले, अद्वैत तत्त्व को जानने की इच्छावाले, लोगों को उपदेश दिया गया है। काल्पनिक न मानकर, यदि जीव को वास्तविक अविद्या-श्रित माना जावेगा तो, ब्रह्म को भी अविद्याश्रित कहना पड़ेगा। जीव को यदि काल्पनिक अविद्याश्रित मानते हैं तो, कोई जड़ भी अविद्याश्रित हो सकता है, यह भी मानना होगा। अद्वैतवादी दोनों प्रकारों को नहीं मानते। —जीव कल्पित अविद्याश्रित होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्यों कि जो वस्तु स्वभाव से ही अखंड एक रूप होती है, अविद्या संबंध से उसका कोई, विशिष्ट रूप नहीं हो सकता। अविद्याश्रय का तो एक रूप मानलिया गया है, वास्तव में अविद्या का आश्रय होता नहीं।

किं च बंधमोक्षादि व्यवस्थासिद्धयर्थं हि जीवाज्ञानवादाश्र-यणम्, सातुव्यवस्था जीवाज्ञान पक्षेऽपि न सिध्यति।

तथा—बद्ध मोक्ष आदि व्यवस्था की सिद्धि के लिए जो जीव का, अज्ञा नाश्रय बतलाया गया है [अर्थात् एक के बंधन से दूसरा बद्ध नहीं हो सकता और न एक की मुक्ति से दूसरे का मोक्ष ही संभव है, इसलिए जीव को अज्ञानाश्रित बतलाकर बद्ध स्वरूप का निरूपण किया गया है] जीव को अज्ञानाश्रित मानने पर भी, वह व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती।

अविद्या विनाश एव हि मोक्षः, तत्रैकस्मिन्मुक्ते अविद्याविना-शादितरेऽपि विमुच्येरन्। अन्यस्यामुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत्तर्हि एकस्याप्यमुक्तिः स्यात्। अविद्याया अविनष्टत्वात्। प्रतिजीवम-विद्या भेदः कल्प्यते, तत्र यस्याविद्या विनष्टा, स मोक्ष्यते, यस्यत्व-

विनष्टा, स भन्त्स्य इति चेत्—तन्न, प्रतिजीवमिति जीवभेदमाश्रित्य ब्रूषे। स जीवभेदः किं स्वाभाविकः उताविद्याकल्पितः ? न तावत् स्वाभाविकः, अनभ्युपगमात्, भेदसिद्धयर्थस्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात्। अथ अविद्याकल्पितः तत्रेयं जीवभेदकल्पिकाऽविद्या किं ब्रह्मणः, उतजीवानाम् ? ब्रह्मणः इति चेत्—आगतोऽसि मदीयं मार्गम्। अथजीवानां, किमस्या जीवभेद क्लृप्तिसिद्धयर्थतां विस्मरसि अथप्रतिजीवं बद्धमुक्तव्यवस्था सिद्धयर्थं या अविद्याः कल्प्यन्ते, ताभिरेवजीवभेदोऽपीति मनुषे, जीवभेदसिद्धताः सिद्धयंति तासु सिद्धासु जीवभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम्। न चात्र बीजांकुर न्यायःसिध्यति, बीजांकुरेषु हि अन्यदन्यद् बीजमन्यस्यान्यस्यांकुर-स्योत्पादकम्, इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यंते, तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिरित्यशंकनीयता। अथ बीजांकुरन्यायेन पूर्वंपूर्वजीवाश्र-याभिरविद्यारुत्तरोत्तर जीवकल्पनां मन्यसे, तथासति जीवानां भंगु-रत्वमकृताभ्यागमकृत विप्रणाशादि प्रसंगश्च। अतएव ब्रह्मणः पूर्वं-पूर्वं जीवाश्राभिरविद्याभिरुत्तरोत्तर जीवभावकल्पनमित्यपि निर-स्तम्। अविद्याप्रवाहेऽभ्युपगम्यमाने तत्कल्पित जीवभावस्यापि तद्-वत् प्रवाहानादिता स्यात्। न ध्रुव रूपता, आमोक्षच्चजीवस्य ध्रुवत्वमिष्टं न सिध्येत्।

जब अविद्या का विनाश ही मोक्ष है, तब एक के मुक्त हो जाने पर सभी जीवों को मुक्त हो जाना चाहिए, यदि कहें कि-अन्य अविद्या ग्रस्तहैं इसलिए मुक्त नहीं हो सकते, यदि अविद्या से ग्रस्त हैं तब तो किसी का भी मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या तो नष्ट हुई ही नहीं। यदि कहें कि प्रत्येक जीव की भिन्न-भिन्न अविद्या है, अतः जिसकी अविद्या विनष्ट हो गई वह मुक्त है और जिसकी नष्ट न हुई वह बद्ध है। ऐसा तो कहना ठीक नहीं, इस कथन से तो यह ज्ञात होता है कि-प्रति जीव से जीवों का भेद है। अब प्रश्न होता है कि-यह जीव भेद स्वाभाविक है या अविद्या

कल्पित ? जब तक जीव को अविद्याश्रय, स्वाभाविक नहीं मानते, तबतक स्वाभाविक नहीं मानते, तब तक स्वाभाविक भेद तो माना नहीं जा सकता। यदि जीव का भेद अविद्या कल्पित मानते हैं तो प्रश्न होता है कि–वह भेद कल्पिका अविद्या, जीवाश्रित है या ब्रह्माश्रिता ? यदि ब्रह्माश्रिता मानते हैं तो वह हमारे मार्ग का ही अनुसरण है। यदि कहें कि–जीवाश्रिता है, तो जीव भेद की सिद्धि के लिये ही तो अविद्या की कल्पना की गई थी, इसे भूल गए क्या ? यदि कहें कि– प्रत्येक जीव का बद्ध मुक्त व्यवस्था की रक्षा के लिए जो अविद्या की कल्पना की गई, उसी से जीव का भेद भी संपादित हो जावेगा। ऐसा होने से तो, जीव भेद की सिद्धि से अविद्या की सिद्धि और अविद्या की सिद्धि से जीवभेद की सिद्धि होगी फिर वही अन्योंन्याश्रय दोष उपस्थित होगा यहाँ वीजांकुर न्याय से भी कार्य नहीं बनेगा, क्योंकि— भिन्न २ बीज से भिन्न २ अंकुरोत्पत्ति होती है, यहाँ तो अविद्या जिस जीव से कल्पित होती है, उसी के आश्रित भी रहती है। यदि वीजांकुर न्याय से, पूर्व पूर्वजीवों की आश्रिता अविद्याओं से उत्तरोत्तर जीवों की कल्पना मानते हैं तो जीवों में अनित्यता, कृतनाश अकृताभ्यागम आदि दोष उपस्थित होते हैं। तथा पूर्व पूर्व जीवाश्रित अविद्या द्वारा, ब्रह्म की जो उत्तरोत्तर जीवभाव की कल्पना है, वह भी समाप्त हो जावेगी। यदि अविद्या का अनादि प्रवाह मानते हैं तो, उससे उसकी ध्रुव रूपता सिद्ध नहीं होती, तथा मुक्ति न होने तक, जीव की ध्रुव रूपता को स्वीकारते हो वह भी समाप्त हो जाती है।

यच्चोक्तमविद्याया अवस्तुरूपत्वेनानुपपन्नतैकवेषाया नतेरेतराश्रयत्वाद्या वस्तुदोषा, अनवक्लृप्तिभावहन्ति इति, तथा सति मुक्तान् परं च ब्रह्मांश्रयेदविद्याः, शुद्ध विद्यास्वरूपत्वादशुद्धरूपा न तत्र प्रसजतीति चेत्—किमुपपत्त्यनुवर्त्तिन्यविद्या। एवं तर्हि उक्ताभिरूपपत्तिभिर्जीवानामपि नाश्रयेत्।

यदि कहें कि–अविद्या कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, अनुपपत्ति ही उसका वास्तविक रूप है, इसलिए अन्योन्याश्रय आदि वास्तविक दोष, अविद्या की कल्पना में बाधक नहीं होगे। यदि ऐसा है तब तो वह वद्ध जीवों की तरह, मुक्त जीवों और परब्रह्म को भी आश्रित कर लेगी। यदि

कहें कि–मुक्त पुरुष और परब्रह्म तो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिए अशुद्धिरूपा (मलिना) अविद्या, उनके पास तक नहीं जा सकती । तो क्या अविद्या उपपत्त्यानुवर्त्तिनी (संगत असंगत का विचार कर कार्य करने वाली है)? यदि ऐसा है तो, वह कभी जीवों का तो आश्रय ले नहीं सकती ।

किंच जीवाश्रया अविद्यायास्तत्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो वा, न वा, ? यदि नश्येत्, स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात् नो चेदविद्यानाशेऽप्यनिर्मोक्षः, ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्त जीवत्वावस्थानात् ।

और यदि, तत्त्वज्ञान के होने पर, जीवाश्रित अविद्या का विनाश होता है तो उस अविद्या के नष्ट हो जाने से, जीवत्व का विनाश होता है या नहीं ? यदि जीवत्व का भी विनाश हो जाता है तो कहना होगा कि-जीव का स्वरूपोच्छेद ही मोक्ष है । यदि विनाश नहीं होता तो, अविद्या के विनष्ट होने पर भी, मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न, जीवत्व की स्थिति रहेगी ।

यच्चोक्तं–मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानमुखमलिनत्वविमलत्वादिवच्छुद्ध्यशुद्ध्या व्यवस्थोपपत्तिः, इति । तत्रेदं विमर्शनीयम्–अल्पत्वमलिनत्वादय उपाधिका दोषाः कदा नश्येयुरिति, कृपाणाद्युपाध्यपगम इति चेत्, किं तदाऽल्पत्वाद्याश्रयः प्रतिबिंबं तिष्ठति वा न वा ? तिष्ठति चेत्–तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थितत्वादनिर्मोक्ष प्रसंगः, नश्यति चेत्–तद्वदेव जीवनाशात् स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात् ।

जो यह कहा कि–मणिकृपाण और दर्पण आदि में, उनकी चमक के अनुसार, प्रतिबिंबित मुख भी मलिन और विमल दीखता है, वैसे ही उपाधि के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार जीव में भी शुद्धि–अशुद्धि आदि भेद होते हैं । इसमें विचारणीय बात यह है कि–उपाधिगत मलिनता अल्पता आदि दोष, नष्ट कब होते हैं ? कहें कि–वे तो कृपाण

आदि उपाधि भेदों के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, तो फिर अल्पता आदि का आश्रय, प्रतिविंव रहता है या नहीं ? यदि रहता है तो, उसका स्थानीय जीव भी रहता है, अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता । यदि वह प्रतिविंव नष्ट हो जाता है, तो उसी प्रकार जीव भी विनष्ट हो जायेगा; जिसे कि स्वरुपोच्छेद मोक्ष कहते हैं, वही हो गया ।

किं च यस्य हि अपुरूषार्थरूपदोष प्रतिभासः, तस्य तदुच्छेदः पुरुषार्थः, तत्र किमौपाधिकदोष प्रतिमासो विंवस्थानीयस्य ब्रह्मणः उत प्रतिबिंबस्थानीयस्य जोवस्य, उतान्यस्यकस्यचित् आद्ययोः कल्पयोः दृष्टान्तोऽयं न संगच्छते, मुखस्यमुख प्रतिबिंवस्य चाल्पत्वादिदोष प्रतिमास शून्यत्वात्, न हि मुखं तत् प्रतिबिंब वा चेतयते, ब्रह्मणो दोष प्रतिमासे ब्रह्माविद्याप्रसंगश्चे । तृतीयाऽपि कल्पो न कल्पयते जोवब्रह्मव्यतिरिक्तस्य द्रष्टुरभावात् ।

यदि, उपाधि संयोग से जो अनर्थमय (दुःखादि रूप) दोष प्रतीत होते हैं, उनका उच्छेद होने से ही, पुरूषार्थ सिद्धि हो जाती है, तो प्रश्न होता है कि–वह औपाधिक दोष प्रतीति, विंवस्थानीय ब्रह्म की है अथवा प्रतिविंवस्थानीय जीव की ? या किसी अन्य की ? यदि ब्रह्म जीव की है, तो यह दृष्टांत ही असंगत है, क्योंकि—मुख और उसका प्रतिविंव दोनों ही अचेतन हैं, इसलिए इन दोनों में अल्पता आदि दोष की प्रतीति असंभव है । ब्रह्मस्थानीय ब्रह्म में दोष प्रतीति स्वीकारने से, ब्रह्म का अविद्या आश्रय भी स्वीकारना होगा जीव और ब्रह्म के अतिरिक्त जब तीसरा कोई द्रष्टा ही नहीं है, तो किसी और में दोष प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता ।

किं च अविद्याकल्पस्य जीवस्य, कल्पकः कः ? इति निरूपणीयम्, न तावदबिद्या, अचेतनत्वात् । नापि जीवः, आत्माश्रयदोष प्रसंगात् शुक्तिकारजतादिवदेबिद्याकल्पत्वाच्चजीवभावस्य, ब्रह्मैव कल्पकामिति चेन्—ब्रह्माज्ञानमेवायातम् ।

अविद्या कल्पित जीव के, जीव भाव की कल्पना कौन करता है ? इसका निरूपण करना भी आवश्यक है, अविद्या ही कल्पना करती है, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह अचेतन है। जीव भी कल्पना नहीं कर सकता, ऐसा होने से तो आत्माश्रय दोष होगा (अर्थात् स्वयं अपने लिए ही कल्पना करना एक दोष है) यदि कहें कि—अविद्या कल्पित, शुक्ति रजत की तरह, जीव भाव भी, ब्रह्म कल्पित ही है, तब तो ब्रह्म में अज्ञान का अस्तित्व मानना पड़ेगा।

किं च ब्रह्माज्ञानामभ्युपगमे, किं ब्रह्म जीवान् पश्यति वा न वा ? न पश्यतिचेत्—ईक्षापूर्विका विचित्र सृष्टिर्नामरूप व्याकरण-मित्यादि ब्रह्मणो न स्यात्। अथ पश्यति, अखंडैकरसं ब्रह्म नाविद्यामंत-रेण, जीवान्पश्यतीति ब्रह्माज्ञान प्रसंगः। अतएव मायाविद्या विभागवादोऽपि निरस्तः। अज्ञानमंतरेणहि मायिनोऽपि ब्रह्मणो जीव दर्शित्वं न स्यात्। न च मायावी पलानदृष्ट्वा मोहयितुमरम्। नापि मायामायाविनो दर्शनसाधनम्, दृष्टेषु परेषु, तन्मोहनसाधनमात्रत्वात् तस्याः। अथ ब्रह्मणो माया तस्य जीव दर्शित्वं कुर्वंती जीवमोहन-स्य हेतुरिति मन्यसे, तर्हि परिशुद्धस्याखंडैकरसस्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शनं कुर्वती माया, मायापरपर्याया अविद्यैवस्यात्। अथमतम् विपरीतदर्शनहेतुरविद्या। माया तु मिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्या-त्वेन न दर्शयंती न ब्रह्मणो विपरीतदर्शनहेतुः। अतस्तस्यानाविद्या-त्वमिति।

और यदि ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति नहीं मानते तो ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं ? यदि नहीं देखता, तो मानना होगा कि—इच्छापूर्विका विस्तृतनामरूपवाली, विचित्र सृष्टि, ब्रह्म की नहीं है। यदि देखता है तो, अखंड एक रस ब्रह्म द्वारा, अविद्या रहित मुक्त जीव, का दर्शन संभव नहीं हैं, उसको देखने के लिए, ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति आवश्यक होगी। इस प्रकार माया, अविद्या का प्रभेदवाद भी असिद्ध हो जावेगा। ब्रह्म को

मायी (मायायुक्त) मानने से, अविद्या रहित जीव का दर्शन उसके द्वारा संभव नहीं है। मायावी जिसे देख न पावेगा उसे कभी, विमोहित नहीं कर सकता। माया ही जो कि मायावी की दृष्टि साधन है, वह भी नहीं हो पावेगी। क्योंकि—देखे गए पदार्थ को ही, विमोहित करने की माया में सामर्थ्य है। यदि यह माने कि–ब्रह्म की माया, ब्रह्म में जीव दर्शन की क्षमता समुत्पादनपूर्वक, जीव का सम्मोहन करती है, तब तो कहना होगा कि–जो अखंड एक रस विशुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्म को भी अपर दर्शन की क्षमता प्रदान करती है, तो वह अविद्या ही है। यदि कहें कि–अविद्या, विपरीत ज्ञानोत्पादिका है माया, ब्रह्म में वैसा विपरीत ज्ञानोत्पन नहीं करती, केवल ब्रह्म से अतिरिक्त, मिथ्यावस्तु, के मिथ्यात्व का प्रकाशन मात्र करती है। इसलिए माया और अविद्या एक नहीं है।

नैवम्—चंद्रैकत्वेज्ञायमाने द्विचन्द्रदर्शनहेतोरप्यविद्यात्वात्। यदि च ब्रह्म मिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति, न तर्हि तन्मोहयति, नहि अनुन्मत्तो मिथ्यात्वेन ज्ञातान् मोहयितुमीहते। अथापुरूषार्थपरमार्थदर्शनहेतुरविद्या, माया तु ब्रह्मणो ना पुरूषार्थंदर्शंनहेतुअतोऽस्या नाविद्यात्वमितिमतम् तन्न, द्विचंद्रज्ञानस्य दुःखहेतुत्वाभावेनापुरूषार्थत्वाभावेऽपि तद्हेतुर्विद्यैव तन्निरसने च प्रयस्यंति, यदि च नापुरूषार्थ दर्शनकरी माया, तर्हि अनुच्छेद्यतया नित्या ब्रह्मस्वरुपानुवंन्धिनीस्यात्।

उक्तमान्यता उपयुक्त नहीं है, क्यों कि–एक चंद्र है ऐसा ज्ञान होते हुए भी, जो दो चंद्रों की प्रतीति होती है, उसमें अविद्या ही कारण है। यदि ब्रह्म, अपने से अतिरिक्त सभी को मिथ्या ही समझें तो कभी किसी को मोहित नहीं कर सकते। जो पागल नहीं है, वह कभी जानबूझ कर, झूठी वस्तु को मोहित करने की चेष्टा नहीं करेगा। यदि कहें कि–जो अपुरुषार्थ और अपरमार्थ (असत्य) हैं, –अविद्या उन्ही की प्रतीति कराती है। माया, ब्रह्म को वैसी प्रतीति नहीं कराती, इसलिए वह कभी अविद्या नहीं हो सकती। नहीं यह बात भी असंगत है; देखो, दो चन्द्रों के दर्शन

में किसी प्रकार का दुःख तो होता नहीं, इसलिए अपुरुषार्थ साधक नहीं कहा जा सकता, फिर भी उस प्रतीति में अविद्या को ही, कारण माना जाता है। उस अविद्या के निवारण में लगी हुई माया, यदि अपुरुषार्थ साधिका नहीं है तो, वह अनुच्छेद्य अतएव नित्य होने से, ब्रह्म स्वरूप की अनुबंधनी हो जावेगी।

अस्तु को दोष इति चेत्–द्वैत दर्शनमेव दोषः। "यत्रहि द्वैता-मिव भवति–यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् "इत्यादि अद्वैत श्रुतयः प्रकुप्येयुः। परमार्थविषया अद्वैत श्रुतयः, मायायास्त्वपरमार्थत्वादविरोध इति चेत् अपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादर्शनं तद्वत्ता चाविद्यामन्तरेण नोपपद्यते।

यदि कहो कि–इसमें क्या दोष है? द्वैत प्रतीति होने लगेगी,, तथा–"जो द्वैत की तरह होती है–जब सब कुछ आत्मा है, तो कौन किस-को देखेगा इत्यादि अद्वैत बोधकश्रुति प्रकुपित हो जावेगी। यदि कहो कि-अद्वैत श्रुतियाँ तो परमार्थ बोधक हैं और माया अपरमार्थ तत्त्व है, इसलिए उसमें कोई विरोध नही होगा। यह कथन भी असंगत है, क्यों कि–ब्रह्म अपरिच्छिन्न एकमात्र आनंदस्वरूप हैं, उनमें, अपरमार्थ रूप मायादर्शन, या उसी की सी अविद्या का संबंध कदापि संभव नहीं है।

किं च अपरमार्थभूतया नित्ययामायया किं प्रयोजनं ब्रह्मणः? जीव मोहनमिति चेत्-अपुमुषार्थेन मोहनेन किं प्रयोजनम्? क्रीडेति चेत्-अपरिच्छिन्ननंदस्य किं क्रीडया? परिपूर्णं भोगानामेव क्रीडा पुरुषार्थत्वेन लोके दृष्टेति चेत्-नैवमिहोपपंद्यते, नाहि अपरमार्थभूतैः क्रीडोपकरणैः अपरमर्थतया प्रतिभासमानैर्निष्पन्नयाऽपरमार्थभूतया क्रीडयापरमार्थभूतेकन च तत्प्रतिभासेनानुन्मत्तनां क्रीडारसो निष्पद्यते। मायाऽश्रयतया अभिमतब्रह्म व्यतिरेकेणाविद्याश्रयस्य जीवस्य कल्पना संभवश्चपूर्ववदेव दृष्टव्यः। अतो ब्रह्मैवानाद्यविद्या स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयद् भिरभ्युपेत्यम्।

और फिर अपरमार्थभूत नित्य माया से, ब्रह्म को प्रयोजन ही क्या है? यदि जीव को मोहित करना ही प्रयोजन है तो, अपुरुषार्थ और अनुपयोगी मोहन से ही उसे क्या मिल जाता है? यदि कहो कि- यह तो उसकी क्रीडा है; भाई! अपरिच्छिन्त आनंदैकरसं को क्रीडा की क्या आवश्यकता है? यदि (अर्थात् ऐश्वर्यवान् की क्रीडा ही पुरुषार्थ होता है) ठीक है, परंतु यह वैसी क्रीडा नहीं है, क्योंकि-क्रीडा, क्रीडा के उपभरण जब असत्य हैं यथा उसकी प्रतीति एक भ्रांति है तो, एक स्वस्थ वुद्धि को तो उसमें कोई आनंद आ नहीं सकता, उन्मत्त, भले ही उसमें आनंद अनुभूति करे। ब्रह्म को माया के आश्रित तथा जीव को अविद्या के आश्रित मानकर भी, ऐसा नहीं हो सकता। इस स्थिति में भी, क्रीडा में रसानुभूति नहीं हो सकती इसलिए ब्रह्म की अद्वैतता मानते हुए "अनादि अविद्या संवलित ब्रह्म स्वतः ही विभिन्नता देखता है "यही मानना पड़ेगा।

यत्तुबंधमोक्षव्यवस्थानोपपद्यतइति, न तद् ब्रह्माज्ञानवादिनश्चोद्यम्, एकस्यैव ब्रह्मणोऽज्ञस्य स्वाज्ञाननिवृत्यामोक्ष्यमाणत्वाद्बद्धमुक्तादि व्यवस्थायाः एवाभावात्, व्यवह्रियमाणायाश्च बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थायाः काल्पनिकत्वात्, स्वप्न दर्शिन इव चैकस्यैवाविद्यया सर्वकल्पनोपपत्तेः, स्वप्नदृशा हि एकेन दृष्टाः शिष्याचार्यादयः तदविद्या कल्पिता एव। अतएव बहु अविद्याकल्पनमपि न युक्तिमत्।

जो यह कहा कि–बंध मोक्ष व्यवस्था नहीं बन पाती। सो जो लोग, ब्रह्म में अज्ञान का अस्तित्व मानते हैं, उनके लिए तो इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि-अज्ञानाश्रित ब्रह्म स्वरूपतः है तो, एक ही यदि वह अपने अज्ञानाश्रय की निवृत्ति करता है तो, उसका तात्पर्य हुआ कि वह मुक्त हो जाता है। इसलिए बंध मोक्ष की व्यवस्था ब्रह्म के लिए तो है नहीं। फिर भी जो, बद्ध मोक्ष आदि व्यवहार दीखता है वह काल्पनिक है, जैसे कि–स्वप्नद्रष्टा, एक होते हुए भी, अविद्यावश बहुरूप की कल्पना कर लेता है, वैसे ही, मोक्ष की व्यवस्था भी है। अर्थात् स्वप्न द्रष्टा की तरह, एक ही तत्त्व में शिष्य आचार्य आदि अनेक रूपों की कल्पना की जाती है। जो कि—अविद्या कल्पित ही है। अविद्या अनेक हैं, ऐसी कल्पना करना भी, युक्तिसंगत न होगा।

पारमार्थिकी वंधमोक्षव्यवस्था स्वपरव्यवस्था च जीवाज्ञानवादिनापि नाभ्युपेयते । अपारमार्थिकी त्वेकस्यैवाविद्योपपद्यते । प्रयोगश्च वंधमोक्षव्यवस्थाः स्वपर व्यवस्थायाश्च, स्वाविद्याकल्पिताः, अपारमार्थिकत्वात् स्वप्नदृष्टव्यवस्थावदिति । शरीरान्तराण्यपि, मयै-वात्मवंति, शरीरत्वात्, एतच्छरीरवत् । शरीरान्तराण्यपि मदविद्याकल्पितानि शरीरत्वात्, कार्यत्वात्, जड़त्वात्, कल्पितत्वाद् वा एतच्छरीवत् । विवादाध्यासितं चेतनजातमहमेव, चेतनत्वात्, मदनहम्, तदचेतनं दृष्टम् यथा घटः । अतः स्वपरविभागो बद्धमुक्त शिष्याचार्यादिव्यवस्थाश्चैकस्याविद्याकल्पिताः । द्वैतवादिनामपि, बद्धमुक्तव्यवस्था दुरूपयादा, अतीतानां कल्पानां आनंत्यात् एकैकस्मिन् कल्पे एकैकमुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसंभवादमुक्तानुपपत्तेः ।

जो लोग, जीवगत अज्ञानाश्रय मानते हैं, वे भी, बंधन और मोक्ष, तथा स्व-पर भेद की, व्यावहारिक सत्यता नहीं स्वीकारते । उनकी दृष्टि में, यह सारा व्यवहार अपारमार्थिक (असत्य) है इसलिए वे एकमात्र अज्ञानाश्रय मानकर बंधनमोक्ष की व्यवस्था का समाधान कर लेते हैं । उक्त मत से यह निश्चित होता है कि-बंधमोक्ष और स्वपर व्यवस्था, अविद्या कल्पित है, क्योंकि वह अपारमार्थिक है, यह भी, स्वप्नद्रष्टा की सी व्यवस्था है । स्वप्न में जो अन्य शरीर दीखते हैं, वे मेरे ही तरह सप्राण जीव हैं, ऐसी जो प्रतीति होती है, वह सब हमारी अविद्या की ही कल्पना है ये सारे शरीर, अन्य पदार्थ, जड़ पदार्थ, एवं कल्पित पदार्थ सभी, उस (अविद्या) के आधार हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा शरीर ही है [अर्थात् जैसा हम देखते है, उसी का कल्पना करते हैं] विवादास्पद, चेतन तत्त्व "अहं' ही है, क्योंकि-इसी से चेतनता की प्रतीति होती है । जो "अहं" पदवाच्य नहीं है, वह जड़ है, जैसे कि-घट । इससे निश्चित होता है कि-बद्धमोक्ष का भेद, स्व-पर का भेद तथा शिष्य आचार्य की कल्पना, सब कुछ अविद्या कल्पित ही हैं । द्वैतवादियों के मत से भी, बंधमोक्ष की व्यवस्था का समाधान करना, सहज नहीं है, क्योंकि-

अनंत कल्प बीत चुके हैं, यदि एक एक कल्प में एक एक व्यक्ति भी मुक्त होते रहते तो अब तक किसी को बद्ध नहीं रहना चाहिए था।

अनंतत्वादात्मनाममुक्ताश्च संतीति चेत्—किमिदमनंतत्वम्? असंख्येयत्वमिति चेत्—न भूयस्त्वादल्पज्ञैरसंख्येयत्वेऽपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य संख्येया एव। तस्याप्यशक्यत्वे सर्वज्ञत्वं न स्यात्। आत्मनां निःसंख्यत्वादीश्वरस्याविद्यमानसंख्यावेदनाभावो नासर्वज्ञतावहतीति चेत्—भिन्नत्वे संख्यविधुरत्वं नोपपद्यते। आत्मानः संख्यावंतः, भिन्नत्वात् माषसर्षपघटपटादिवत्। भिन्नत्वे चात्मनां घटादिवज्जडत्वमनात्मत्वं क्षयित्वं च प्रसज्यते।

यदि कहें कि—जीवात्मा अनंत हैं, उनमें अनेक मुक्त भी हैं। भाई! इस अनंतता का क्या स्वरूप है? असंख्यतावाची अनंतता तो हो नहीं सकती, अल्पज्ञों के लिए वह भले ही असंख्य हो, पर सर्वज्ञ ईश्वर के लिए तो, वे गण्य हैं ही, यदि वह ईश्वर भी इनकी गणना करने में असमर्थ है तो, वह सर्वज्ञ नहीं है। यदि कहें कि आत्मा? निःसंख्य अर्थात् उनके लिए संख्या शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता, इसलिए ईश्वर की सर्वज्ञता निर्वाध है। सो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि जब प्रत्येक जीव भिन्न है तो वह निःसंख्य नहीं हो सकते। आत्मायें संख्य ही हैं, क्योंकि-उर्द, सरसों, घट-पट आदि की तरह उनकी भिन्नता है, जब ऐसी भिन्नता स्वीकार्य है तो घट-पट आदि की तरह उनमें भी जड़ता, अनात्मता और विनाशशीलता स्वीकारनी होगी [इसलिए जीवों के भेद की कल्पना असंगत है]

ब्रह्मणश्चानन्तवं न स्यात्। अनंतत्वंनाम् परिच्छेदरहितत्वम्। भेदवादे च वस्त्वंतराद् विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः, परिच्छेद रहितत्वं न शक्यते वक्तुम्। वस्त्वंतरभाव एव हि वस्तुतः परिच्छेदः वस्तुतः परिच्छिन्नस्य, देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नत्वं च न युज्यते। वस्त्वंतराद्विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव घटादयो देशतः कालतश्च परिच्छिन्ना हि दृष्टाः, तथा सर्वे चेतनाः ब्रह्म च वस्तुतः

परिच्छिन्नाः देशकालाभ्यामपि परिच्छिद्यते । एवं च "सत्यंज्ञानमनंतम्" इत्यादिभिः सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वं वदद्भिर्विरोधः। उत्पत्ति विनाशादयश्च जीवानां ब्रह्मणश्च प्रसज्येरन्, कालपरिच्छेद एव उत्पत्तिविनाशभागित्वं अत एकस्यैवापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽविद्याविजृंमितम् ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् सुख दुःखप्रतिसंधानव्यवस्थादयोऽपि स्वाप्नव्यवस्थावदविद्यास्वभाव्यादुपपद्यंते । तस्मादेकमेव नित्यमुक्तस्वप्रकाश स्वभावमनाद्यविद्यावशाज्जगदाकारेण विवर्त्तत इति परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावात्सदनन्यत्वं जगतः, इति ।

अनंतता ब्रह्म की भी नहीं हो सकती, परिच्छेद रहितत्व ही तो अनंतत्व है। भेदवाद में, ब्रह्म को, अन्य सभी वस्तुओं से विलक्षण कहा गया है, यदि अनंतता का अर्थ अपरिछिन्नता मानते हैं तो, भेदभाव के ब्रह्म का अपरिच्छिन्न भाव समाप्त हो जावेगा। उसे वे फिर अपरिच्छिन्न नहीं कह सकते। अन्यान्य वस्तुओं का सद्भाव ही तो परिच्छेद है वास्तविक परिच्छेद का देश और काल से अपरिच्छेद नहीं हो सकता। एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण, वास्तविक परिच्छन्न घट आदि देश और काल से भी परिच्छन्न ही देखे जाते हैं। वैसे ही सभी चेतनजीव और ब्रह्म, वस्तुतः परिच्छिन्न हैं और देश काल से भी परिच्छेद्य हैं। ऐसा मानना पड़ेगा; ऐसा मानने से फिर "सत्यज्ञानमनंत ब्रह्म" इत्यादि वाक्य से जिस ब्रह्म को निर्विशेष (सभी प्रकार के परिच्छेदों से रहित) कहा गया है उससे विरोध उपस्थित होगा। साथ ही जीवों और ब्रह्म की उत्पत्ति और विनाश का प्रसंग भी उपस्थित होगा, क्यों काल द्वारा किया गया परिच्छेद ही तो विनाश कहलाता है। इसलिए यही मानना समीचीन है कि-एक ही अपरिच्छिन्न ब्रह्म का, अविद्या विलासात्मक यह संपूर्ण जगत, सुख दुःखानुभूतिजन्यव्यवस्थाभेद, आदि सभी कुछ स्वप्नकालीन व्यवहार की तरह, अविद्यात्मक होने से स्वतः घटित होता है। तथा नित्यमुक्त और प्रकाश स्वभाव अद्वैत ब्रह्म ही अविद्यावश जगदाकार रूप से विवर्त्त होता है; परमार्थतः ब्रह्म से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है, यह जगत उससे अभिन्न है।

अत्रोच्यते:—निर्विशेष स्वप्रकाशमात्रं ब्रह्मनाद्यविद्या तिरोहित स्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्येतत् प्रकाशस्वरूपस्य निरंशस्य प्रकाशानिवृत्तिरूप तिरोधाने स्वरूपनाश प्रसंगेन तिरोधान संभवादिभ्य: सकल प्रमाणविरुद्धं स्ववचन विरुद्धं चेति पूर्वमेवोक्तम्। यत्पुनरूक्तं—कारणव्यतिरिक्तं कार्यं युक्तिबाधितत्वेन शुक्तिका रजतादिवद्भ्रम:, इति, तदयुक्तम्, युक्तेरभावात्। यत्त्वनुवर्त्तमानस्य कारणमात्रस्यत्सत्वम, व्यावर्त्तमानानां घटशरावादिकार्याणामसत्यत्वमिति, तदप्यन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र व्यावर्त्तमानता न बाधिकेत्यादिभि: पूर्वमेव परिहृतम्। यच्चोपलभ्यमानत्वविनाशित्वाभ्यां सदसदनिर्वचनीयत्वेन कार्यस्य मृषात्वमिति, तदसत्, उपलब्धि विनाशयोर्यो हि, न मिथ्यात्वं साधयति, किन्त्वनित्यत्वम्। यद् देश काल संबंधितया यदुपलब्धं, तद्देशकालसंबंधितया बाधितत्वमेव हि तस्य मिथ्यात्वे हेतु:। देशांतरकालान्तर संबंधितयोपलब्धस्यान्य देशकालसंबंधित्वेन बाधितत्वं देशांतराकालांतराव्याप्तिमात्रं साधयति, न तु मिथ्यात्वम्। प्रतियोगश्च घटादि कार्यं सत्यम्, देशकालादि प्रतिपन्नोपाधावबाधित्वात्, आत्मवत्।

(शाँकरमत निरसन) उक्त कथन पर कहते हैं कि—एकमात्र प्रकाश स्वरूप निर्विशेष, ब्रह्मअनादि अविद्या द्वारा अपने स्वरूप के तिरोहित हो जानेसे ही विभिन्नता देखता है। अखंड प्रकाश स्वरूप उसके प्रकाश निवृत्ति रूप, स्वरूपावरण से ही, स्वरूप का विनाश हो सकता है, परंतु उसके स्वरूप का आवृत होना ही असंभव है, यदि ऐसा संभव हुआ तो, वह शास्त्र प्रमाणों अपने वचनों के ही विरूद्ध होगा। ऐसा हम कह भी चुके हैं। जो यह कहा कि—कारण से भिन्न कार्य की सत्ता, युक्ति बाधित होने, शुक्ति रजत की तरह भ्रम मात्र है; यह भी असंगत बात है, क्योंकि—तदनुरूप कोई युक्ति नहीं है। तथा यह कहना कि—कार्यरूप में अनुवर्त्तमान कारण ही एकमात्र सत्य है तथा व्यावर्त्तमान (कारण से अनुगत) घट प्याला आदि कार्य सब असत्य हैं। असंगत बात है, इसको भी हम—

"एक स्थल में दृष्टव्यावर्त्तमानता, अन्यत्र देखे गए विषय की बाधक नहीं होती" इत्यादि में पहिले ही निराकरण कर चुके हैं। प्रत्यक्ष, विनाशशील सदसदनिर्वचनीय, मानकर कार्य को मिथ्या मानना भी असंगत है, प्रत्यक्षोपलब्धि और विनाश के आधार पर कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं होसकती अनित्य तो हो सकती है। जो वस्तु जिस देश और जिस काल में उपलब्ध होती है, वह वस्तु उसी देश और उसी काल में यदि वाधित हो जाय (गलत सिद्ध होजाय) तब तो मिथ्या है। अन्यथा देशांतर या कालांतर देखी गई वस्तु अव्याप्ति की ही द्योतिका हो सकती है, मिथ्या नहीं। उक्तप्रकार के मिथ्यावादी सिद्धांत से तो विपरीत धारणा भी बन सकती है कि-"घटआदि कार्य सत्य हैं, क्योंकि—अनुभूत देश काल आदि उपाधियों से वे अवाधित हैं जैसे कि—आत्मा अवाधित होता है"। इत्यादि।

यच्चोक्तं कारणस्वरूपादविकृताद्विकृताच्च कार्योत्पत्तिर्न संभवति—इति, तदसत्—देशकालादिसहकारिसमवहितात् कारणात् कार्योत्पत्ति संभवात्। तत्समवधानं च विकृतस्याविकृतस्य च न संभवति इति यदुक्तम्, तदयुक्तम्—पूर्वमविकृतस्यैव कालादिसमवधान संभवात्। अविकृतत्वाविशेषात् पूर्वमपिदेशकालादिसमवधानं प्रसज्यत इति चेन्न, देशकालादि समवधानस्य कारणान्तरायत्तस्यैतदायत्तत्वाभावात्। अतो देशकालादि समवधानरूपविशेषमापन्नं-कारणं कार्यमुत्पादयतीति न किंचिदवहीनम्। कारणस्य च कार्यं प्रत्यारम्भकत्वमवाधितं दृष्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यते।

जो यह कहा कि—अविकृत या विकृत कारण स्वरूप से कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती, यह भी असंगत बात है, क्योंकि—देश काल आदि सहकारी कारणों से संयुक्त कारण द्वारा ही कार्योत्पत्ति हो सकती है केवल एक कारण से नहीं) यदि कहो कि—अविकृत या विकृत किसी प्रकार के कारण से, सहकारी संयोग नहीं हो सकता, तो तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, क्योंकि— कार्योत्पत्ति के पूर्व अविकृत कारण के साथ, देशकाल का संबंध हो सकता है। यदि कहो कि अविकृत भाव में किसी प्रकार की

विलक्षणता नहीं होती, इसलिए कार्योत्पत्ति के पूर्व भी देशकाल आदि का समवधान हो सकता है। सो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि देशकाल आदि के साथ जो समवधान (संयोग) होता है, वह किसी अन्य कारण के अधीन होता है। यह उपादान कारण किसी से अधीन तो है नहीं; इसलिए इसे अधीनता की अपेक्षा होती है। इस प्रकार विशिष्ट देश काल आदि के संयोग से अवस्थाविशेष को प्राप्त वही कारण, यदि कार्योत्पादन करता है, तो उससे कोई क्षति नहीं होती। कार्य में कारण की उपादानता जब अवाध्यहोती है तो उसे किसी भी प्रकार से छिपाना कठिन है [अर्थात् उपादान कारण जब प्रत्यक्ष और निर्वाध रूप से कार्योत्पादक हो तो उसे अमान्य नहीं कह सकते]

यत्तु हेमादिमात्रस्य रुचकादिकार्यस्यैतदाश्रयस्य वा हेमादेरारम्भकत्वंन संभवति-इति,तदयुक्तम्, हेमादिमात्रस्यैव तथोक्तपरिकरयुक्तस्यारंभकत्व संभवात्। न चारम्भक हेम व्यतिरिक्त कार्यं न दृश्यत इति वक्तुं न शक्यम् हेमातिरिक्तस्य स्वस्तिकस्य दर्शनात् बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वंतरस्य साधितत्वाच्च। न चायं शुक्तिकारजतादिवद् भ्रमः, उत्पत्तिविनाशयोरन्तराल उपलभ्यमानस्य तद्देशकाल संवंधितया बाधादर्शनात् न। चास्या उपलब्धेर्बाधिका काचिदपि युक्तिदृश्यते। प्रागनुपलब्धेस्वस्तिकोपलब्धि वेलायामपि हेम प्रत्यभिज्ञा स्वस्तिकाश्रयतया हेम्नोऽप्यनुवृत्ते रविरुद्धा। श्रुतिभिस्तु प्रपंचमिथ्यात्वसाधनं पूर्वमेव निरस्तम्। यच्चान्यदत्र प्रत्यक्ष विरोधादि प्रतिवक्तव्यम्, तदपि सर्वं पूर्वमेव सुष्ठूक्तम्।

जो यह कहा कि-एकमात्र सुवर्णादि ही, हार आदि कार्य और आश्रयभूत सुवर्णता आदि के आरंभक (उपादान कारण) नहीं हो सकते। यह कथन भी युक्ति शून्य है; देश काल आदि सहकारी कारणों से युक्त एकमात्र सुवर्ण आदि ही, हार आदि के उपादान कारण हो सकते हैं। यह एक भी नहीं कह सकते कि-आरंभक सुवर्ण से भिन्न, कोई कार्य नहीं देखा जाता, सो बात भी नहीं है हेम से भिन्न स्वस्तिक (आभूषण विषेश

जिसमें सुवर्ण की मात्रा कम तांवा अधिक होता है) आदि कार्य देखे जाते हैं। प्रतीति भेद और शब्द भेद से, वस्तु में भिन्नता मानी जाती है। यह, शुक्तिका रजत का सा भ्रम नहीं है, क्यों कि-इसमें उत्पत्ति और विनाश की मध्यवर्ती देश और काल संबंधी कोई बाधा नहीं है और न इसमें कोई दूसरी उपलब्धि (प्रतीति) की बाधिका युक्ति ही दीखती है। पूर्व अननुभूत स्वस्तिक की उपलब्धि के समय जो सुवर्ण संवंधी प्रत्यभिज्ञा (यह वही सुवर्ण है, ऐसी प्रतीति) होती है, वह भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि स्वस्तिक के आश्रयभूत, सुवर्ण की झलक रहती है। वेदवाक्यों से जगत को मिथ्या सिद्ध करने वाली बात का तो हम, पहिले ही निराकरण कर चुके हैं, तथा जो प्रत्यक्षविरोधी आदि तर्कों का निराकरण करना था, उन उन सबका भी पहिले बहुत अच्छे ढंग से कर चुके हैं।

यच्चोक्तम्—एकेनात्मना सर्वाणि शरीराण्यात्मवंति, इति, तदसत्, एकस्यैव सर्वशरीरप्रयुक्तसुखदुःख प्रतिसंधान प्रसंगात् सौभरि प्रभृतिषु हि आत्मनएकत्वेनानेकशरीरप्रयुक्त सुखादिप्रतिसंधानमेकस्य दृश्यते न चाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तद् भेदात् प्रतिसंधानाभावो नात्मभेदादितिवक्तुं शक्यम्, आत्माज्ञातैव, स चाहमर्थ एव, अंतःकरणभूतस्त्वहंकारो जडत्वात्करणत्वाच्च शरीरेन्द्रियादिवन्न ज्ञातेत्युपपादित्वात्। अथशरीरत्वजडत्कार्यत्वकल्पितत्वैः सर्वशरीराणां एकस्याविद्याकल्पितत्वमुक्तम्, तदपि सर्वशरीराणामविद्याकल्पितत्वस्यैवाभावादयुक्तम्। तद्भावंश्चाबाधितस्य सत्यत्त्वोपपादनात्। यच्च चेदनादन्यस्य जडत्वदर्शनात् सर्वचेतनानामनन्यत्वमुक्तम् तदपि सुखदुःख व्यवस्थया भेदोपपादनादेव निरस्तम्।

जो यह कहा कि—एक ही आत्मा से सारे शरीर आत्मवान कहलाते हैं, यह भी असंगत बात है, ऐसा होने से तो, एक ही आत्मा, सभी शरीरों के सुख दुःख आदि को भोगने वाला सिद्ध होता है। सौभरि आदि ऋषियों के जो एक आत्मा के अनेक शरीर थे उनमें भोग भिन्न भी एक ही प्रकार का था, भिन्न नहीं था। अहं पदार्थ ही वास्तविक ज्ञाता है, प्रतिदेह में वह

भिन्न है, इसलिए प्रतिदेह की अनुभूति भिन्न भिन्न होती है। वह आत्मा के भेद से तो होती नहीं; इत्यादि भी नहीं कह सकते क्योंकि-आत्मा ही ज्ञाता है, ज्ञातृत्व स्वरूप वह आत्मा ही "अहं" है, दोनों भिन्न नहीं हैं, पर अंतःकारण रूप अहंकार जड़ एवं ज्ञान का साधन होने से, शरीर और इन्द्रियों की तरह ज्ञाता नहीं हो सकता, ऐसा प्रथम ही कह चुके हैं। शरीरत्व, जडत्व, कार्यत्व कल्पितत्व होने से सारे शरीर अविद्या कल्पित हैं; यह कथन भी असंगत है, सारे शरीर अविद्या कल्पित हैं, इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, अबाधित पदार्थ की सत्यता सिद्ध हो जाने से ही यह बात अप्रामाणिक हो जाती है। तथा–चेतन से जड भिन्न है, इसलिए सब चेतन एक है, "यह बात भी-सुख दुःख भोग की भेद व्यवस्था से जो भेदवाद सिद्ध किया गया, उसी से निराकृत हो चुकी।

यत्तु-मयैवात्मवंति मदविद्याकल्पितान्यहमेव सर्वंचेतन जातमित्यमहमर्थस्यैक्यमुपपादितम्, तदज्ञातस्वसिद्धान्तस्य भ्रांति-जल्पितम्, अहं त्वमाद्यर्थविलक्षणं चिन्मात्रं हि आत्मात्वन्मते। किं च निर्विशेष चिन्मात्रातिरेकि सर्वं मिथ्येति वदतो मोक्षार्थं श्रवणादि प्रयत्नो निष्फलः, अविद्याकार्यत्वात्, शुक्तिकारजतादिषु रजताद्युपा-नादि प्रयत्नवत्। मोक्षार्थं प्रयत्नोव्यर्थः कल्पिताचार्यायत्तज्ञानकार्य-त्वात् शुकप्रह्लादवामदेवादि प्रयत्नवत्। तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य-ज्ञानम् नं बन्धनिवर्तकम्, अविद्याकल्पितवाक्यजन्यत्वात्, स्वयं-मविद्यात्मकत्वात्, अविद्याकल्पितज्ञात्राश्रयत्वात् कल्पिताचार्यायत्त-श्रवणजन्यत्वाद्वा स्वाप्नबंधनिवर्त्तनवाक्यजन्यज्ञानवत्। किं च निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म मिथ्या, अविद्याकार्यज्ञानगम्यत्वात् अविद्या-कल्पितज्ञात्राश्रयज्ञानगम्यत्वात्, अविद्यात्मकज्ञानगम्यत्वाद् वा, यदेवंतत्तथा यथा स्वाप्नगंधर्वनगरादिः। न च निर्विशेष चिन्मात्रं ब्रह्म स्वयं प्रकाशते, येन न प्रमाणान्तरमपेक्षते। यत्त्वात्मसाक्षिकं स्वयं प्रकाशज्ञानं दृश्यते, तत्तु ज्ञेयविशेषसिद्धिरूपं ज्ञातृगतमेव दृश्यत इति पूर्वमेवोक्तम्। यानि च तस्य निर्विशेषत्व साधकानि यौक्तिकानि

ज्ञानान्युपन्यस्तानि, तानि चानन्तरोक्तै रविद्याकार्यत्वादिभिरनुमानैर्निरस्तानि। न च निर्विशेषस्य चिन्मात्रस्याज्ञानसाक्षित्वमहंकारादि जगद् भ्रमश्चोपपद्यते, .साक्षित्वभ्रमादयोऽपि हि ज्ञातृविशेषगतादृष्टाः न ज्ञप्तिमात्रगताः, न च तस्य प्रकाशत्वं स्वायत्त प्रकाशता वा सिध्यति, प्रकाशो हि कस्यचित्पुरुषस्य कंचनार्थविशेषं प्रति सिद्धरूपोदृश्यते तत एव हि तस्य स्वयम्प्रकाशतोपाद्यते भवद्भिरपि । न चातादृशस्य निर्विशेषस्यप्रकाशता संभवति यः पुनः स्वगोष्ठीष्वपरमार्थादपि परमार्थकार्यं दृश्यत इत्युद्घोषः,सोऽपितानि कार्याणि सर्वाण्यबाधितकल्पानिव्यावहारिकसत्यानि, वस्तुतस्त्वविद्यात्मकान्येवेति स्वाभ्युपगमादेव निरस्तः । अस्माभिरपि सर्वत्र परमार्थादेव कारणात्सर्वकार्योत्पत्तिमुपपादयद्भिः पूर्वमेव निरस्तः ।

ये सारे शरीर मेरे से ही आत्मवान हैं, मेरी ही अविद्या से कल्पित हैं, मैं ही समस्त चेतन हूँ, इत्यादि जो, अहंभाव के अद्वैत भाव का प्रतिपादन किया गया है, वह, अपने सिद्धान्त को न जानते से,भ्रांतिमूलक है तुम्हारे मत में तो, आत्मा, मैं और तू इत्यादि से विलक्षण, केवल चैतन्य स्वरूप है । जो यह कहते हो कि-निर्विशेष चैतन्य के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है, तब तो मोक्ष के लिए किए जाने वाले, श्रवण-मनन आदि सारे प्रयास व्यर्थ हैं, क्योंकि-ये भी तो अविद्या कल्पित ही हैं । शुक्ति का रजत में जैसे रजत आदि मिथ्या को जानने का प्रयास विफल है, वैसे ही उक्त प्रयास भी विफल ही होगा । इससे तो यह भी धारणा बनती है कि-मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न भी व्यर्थ है, क्योंकि-वह अविद्या कल्पित आचार्य के अधीन ज्ञान से साध्य होता है । जैसे कि-शुक प्रह्लाद वामदेव आदि के प्रयास[परंतु बात सर्वथा भिन्न है, इन तीनों का मोक्ष शास्त्र प्रसिद्ध है] इस प्रकार तो "तत्वमसि" आदि वाक्यजन्य ज्ञान भी बंधनों को काटने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि-अविद्या कल्पित वाक्यजन्य है, तथा स्वयं अविद्यात्मक, अविद्या कल्पित ज्ञाता के आश्रित, कल्पित आचार्य से आयत्त होने से कल्पित श्रवण जन्य है, जैसे कि-स्वप्न

में सुना गया ज्ञानात्मक वाक्य। और फिर इस मत से तो निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा, क्योंकि वह भी तो स्वयं, अविद्या जन्य ज्ञान का विषय ही तो है। जो कि अविद्या कल्पित ज्ञाता के आश्रित ज्ञान से जाना जाता है, तथा वह ज्ञान भी तो अविद्या कल्पित ही है। यह सब तो वैसा ही है जैसा कि-स्वप्न में दृष्ट गन्धर्व नगर आदि। यह नहीं कह सकते कि-निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म स्वयं प्रकाशवान है, इस लिए उसे प्रमाणान्तरों की अपेक्षा नहीं होती स्वयं प्रकाश ज्ञान आत्मसाक्षिक होता है, वह तो ज्ञेय विशेष (ब्रह्म) सिद्धिरूप ज्ञाता के अधीन देखा जाता है, यह हम पहिले ही बतला चुके हैं तथा उस ब्रह्म की निर्विशेषता की साधिका ज्ञानमूलक जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया था, उन सबका, अविद्या कार्यत्व आदि घटित अनुमानों से निराकरण भी कर चुके हैं। निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म के संबंध में, अज्ञान साक्षित्व और अहंकार आदि जगद्भ्रम का अरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि-साक्षित्व भ्रमादि तो किसी किसी ज्ञाता विशेष में ही होते हैं। वह ज्ञानगत नहीं होते, और न उस ज्ञान का प्रकाश ही होता है, न उसमें स्वतः प्रकाश की क्षमता ही हो सकती है। प्रकाश का अर्थ होता है, किसी व्यक्ति विशेष में, किसी वस्तु की अभिव्यक्ति होना। ऐसा स्वयं प्रकाश का भाव, आपके द्वारा ही बतलाया गया है। जो ऐसे लक्षण से घटित न हो सके उस निर्विशेष की ज्ञान प्रकाशता संभव नहीं है। असत् पदार्थ से ही सत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं, ऐसा जो आपका अपनी गोष्ठी में उद्‌घोष है वह, आप ही के "सारे उत्पन्न होने वाले पदार्थ, एक रूप से अबाध व्यावहारिक सत्य हैं, वस्तुतः तो वे सब अविद्यात्मक ही हैं" इत्यादि मत से, समाप्त हो जाता है। परमार्थ कारण से ही, सर्वत्र सब कार्यों की उत्पत्ति होती है, ऐसा हमारा घोष भी, पहिले ही कट चुका है।

न च त्वयैषामनुमानानां श्रुतिविरोधो वक्तुं शक्यते, श्रुतेरपि अविद्याकार्यत्वेन अविद्यात्मकत्वेन चोक्त दृष्टान्तेभ्यो विशेषाभावात्। यत्तु ब्रह्मणोऽपारमार्थिकज्ञानगम्यत्वेऽपि पश्चात्तनबाधः दर्शनाद् ब्रह्म सत्यमेव इति, तदसत्, दुष्टकारणजन्य ज्ञानगम्यत्वे निश्चिते सति पश्चात्तनबाधा दर्शनस्याकिंचित्करत्वात्, यथा शून्यमेवतत्त्वमिति

वाक्यजन्यज्ञानस्य पश्चात्तनबाधादर्शनेऽपि दोषमूलत्वनिश्चयादेव तदर्थस्यासत्यत्वम् ।

तुम हमारे किये गए उक्त अनुमानों को श्रुतिविरुद्ध नहीं कह सकते-क्यों कि- तुम्हारे ही प्रतिपादन से यह लक्षित हो चुका है कि श्रुति भी अविद्या का कार्य है अतएव अविद्यात्मक है, इसलिए गत दृष्टान्तों से कोई विशेष बात श्रुतियों में कही गई हो ऐसा समझ में नहीं आता [अर्थात् मिथ्या दृष्टान्तों की तरह, श्रुति भी मिथ्या दृष्टान्त रूपही हैं] ब्रह्म अपारमार्थिक ज्ञान से गम्य होते हुए भी, ज्ञानोत्तर काल में उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं देखी जाती, इसलिए ब्रह्म तो सत्य ही है, यह कहना भी बेकार ही होगा क्योंकि-ब्रह्म ज्ञान गम्य है तथा वह ज्ञान दोषावह कारणों से जन्य है ऐसा जब तर्क से निश्चित हो चुका तब उसमें,बाद में बाधा भले ही न पड़े उससे-कुछ होता नहीं[अर्थात् अविद्या-जन्य ज्ञान से ही जब ब्रह्म की प्रतीति होती है तो यही कौन कम बाधा है ?] जैसे कि-"शून्य ही एकमात्र तत्त्व है" इत्यादि से जो प्रतीति होती है भले ही उसमें बाधा न पड़े, पर है तो दोषमूलक हो, वैसे ही उक्त मत की असत्यता भी निश्चित होती है।

किं च "नेह नानाऽस्तिकिंचन" विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति विज्ञा-मात्रातिरिक्तस्य कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य निषेधकत्वेन सर्वस्मात् परत्वात् पश्चात्तन बाधादर्शनमुच्यते,शून्यमेव तत्त्वमिति तस्याप्यभावं वदतः तस्मात्परत्वेन पश्चात्तनबाधो दृश्यते । सर्वशून्यत्वातिरेकि-निषेधासंभवात्तस्यैव पश्चात्तनबाधादर्शनम्, दोषमूलत्वं तु प्रत्यक्षादीनां वेदांत जन्मनः सर्वशून्यज्ञानस्याप्यविशिष्टम् । अतः सर्वं विज्ञानजातं पारमार्थिकज्ञातृगतं, स्वयं च परमार्थभूतमर्थविशेषसिद्धिरूपम्, तत्र किंचनज्ञानं दोषमूलम्, दोषश्च परमार्थः, किंचिच्च निर्दोषं पारमार्थिक सामग्रीजन्यमिति यावन्नाभ्युपेयते, न तावत्सत्यमिथ्यार्थव्यवस्था लोकव्यवहारश्चसेत्स्यति । लोकव्यवहारोऽपि पारमार्थिको भ्रांतिरूपश्च, पारमार्थिकज्ञातृगतार्थ विशेष सिद्धिरूपप्रकाशपूर्वकः, निर्विशेष

सन्मात्रस्य तु पारमार्थिकस्यापारमार्थिकस्य च प्रतिभासादेर्हेतुत्वा-संभवात् लोकव्यवहारो न संभवति। यच्च-तैर्निरधिष्ठानभ्रमा-संभवात् सर्वाध्यासाधिष्ठानस्य सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमुक्तम्, तदपि दोष दोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवद-धिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपत्तेर्निरस्तम्। अथ अधिष्ठानापारमा-र्थ्येऽपि न क्वचिद् भ्रमोदृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवश्या-श्रयणीयमिति मन्यसे। हन्त तर्हि दोष दोषाश्रयत्वज्ञातृत्व ज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि न क्वचिद् भ्रमोदृष्ट इति, दर्शनानुगुण्येन तेषामपि पारमार्थ्यमवश्याश्रयणीयमिति न कंचिद् विशेषोऽन्यत्र तत्संरंभात्।

"इस जगत और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है "ब्रह्म विज्ञान और आनंद स्वरूप है "इत्यादि में विज्ञान से अतिरिक्त समस्त पदार्थों के निषेध तथा इन वाक्यों के परवर्त्ती होने से; ब्रह्म संबंधी बाधा की संभावना नहीं रह जाती परंतु "शून्य ही तत्त्व है "इस, उक्त वाक्य के भी परवर्त्ती वाक्य से, जो कि उसके भी प्रभाव को द्योतन कर रहा है, बाधा उपस्थित ही रहती है। सर्व शून्य से और अधिक निषेध की बात तो हो नहीं सकती, इसलिए इस परवर्त्ती शून्यवाद बोधक वाक्य का बोध तो हो नहीं सकता। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की तरह, वेदांत का यह सर्व शून्यवाद भी दोषमूलक है। इसलिए जब तक, समस्त विज्ञान की सत्योपलब्धि, एवं वस्तु विशेष अभिव्यंजक विज्ञान की सत्यता, तथा किसी किसी ज्ञान की निर्दोषता, सत्य सृष्टिकरणता, आदि नहीं स्वीकारी जावेगी तब तक सत्य मिथ्या विभाग और लोकव्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि-पारमार्थिक और भ्रमात्मक दोंनो प्रकार के लोकव्यवहार,- परमार्थ के ज्ञाता के लिए तो पहिले से ही,, वस्तुविशेष के प्रकाशक प्रकाश सहित अपेक्षित रहते हैं केवल निर्विशेष सत् स्वरूप कभी पारमार्थिक या अपारमार्थिक भाव में, प्रतीति का हेतु नहीं हो सकता। इसलिए उससे लोकव्यवहार भी संपन्न नहीं हो सकता। तथा-किसी एक आश्रय के विना भ्रम होता ही नहीं, ऐसा मानकर जो समस्त अध्यासों के अधिष्ठान शुद्ध सत् पदार्थ

ब्रह्म की पारमार्थिकता बतलाई, वह भी-दोष,दोष के आश्रय, ज्ञान और ज्ञातृत्व आदि के अपारमार्थिक होते हुए जैसे भ्रमोत्पादन हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठान की अपारमार्थिकता होते हुए भी भ्रम उत्पन्न हो सकता हैं, इस संभावित बात से कट जाती है। यदि कहो कि जब, अधिष्ठान की अपारमार्थिकता में भ्रम नहीं दीखता, तब तो शुद्ध सत्पदार्थ की पारमार्थिकता अवश्य ही माननी पड़ेगी। ठीक है, तब तो, दोष दोषाश्रया ज्ञातत्व और ज्ञान आदि की अपारमार्थिकता में भी जब कहीं भ्रम नहीं दीखता, तब लोकव्यवहार का अनुसरण करते हुए, इन सब की पारमार्थिकता भी अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी। इस विषय में केवल वाक्याडम्बर के अतिरिक्त कोई विशेष बात नहीं है।

यत्तु भेदपक्षेऽव्यतीतकल्पानामानन्त्यात् सर्वेषामात्मनां मुक्तत्वेन बद्धासंभवात् बद्धमुक्त व्यवस्था न संभवति,तदात्मानंत्येन परिहृतम्। यत्त्वात्मनां भिन्नत्वे माषसर्षपघटपटादिवत्संख्यावत्त्वमवर्जनीयम् इति, तत्र घटादीनामप्यनंतत्वात्दृष्टांतः साध्यविकलः स्यात्। दशघटाः सहस्रभाषाः, इति संख्यावत्त्व दृश्यत इतिचेत्—सत्यम्, तत्तु न घटादिस्वरूपगतम्, अपितु देशकालाद्युपाधिमद् घटादिगतम्, तादृशं तु संख्यावत्वमात्मनामभ्युपगच्छामः। न च तावता सर्वमुक्ति प्रसंगः आत्मस्वरूपानन्त्यात्। यत्तु आत्मनां भिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वानात्मत्वक्षयित्व प्रसंगः, इति तदयुक्तम्, एकजातीयानां भेदस्य तज्जातीयानांजात्यन्तरत्वानापादकत्वात्। न हि घटानांभेदः, तेषां पटत्वमापादयति। यत्तु भिन्नत्वे वस्तुतः परिच्छेदाद्देशकालाभ्यामपि परिच्छेदोब्रह्मणः प्रसज्यत इत्यनंतत्त्वब्रह्मणो न सिध्यतीति,तदयुक्तम, वस्तुतःपरिच्छिन्ना नामपिदेश कालपरिच्छेदस्य न्यूनाधिकभावेनानियमदर्शनात्। देशकालसंबंधेयत्तायाः प्रमाणांतराप्तनिर्णयत्वेन ब्रह्मणः सर्वदेशकालसंबंधस्यापि प्रमाणान्तरादापतप्ये विरोधाभावात्। वस्तुतः परिच्छेदमात्रादपि सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वाभावादानंत्यासिद्धिरिति चेत्, तद्भवतोऽप्यविद्याविलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयतः

समानम् । अतः सतोऽविद्याविलक्षणत्वाभ्युपगमाद् ब्रह्मणोऽपि भिन्नत्वेन भेदप्रयुक्ता दोषाः सर्वे तवापि प्रसज्येरन् । यद्यविद्याविलक्षणत्वं नाभ्युपेयते, तर्ह्यविद्यात्मकमेव ब्रह्मस्यात् । "सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म" इति लक्षणवाक्यमपि तत एवापार्थकं स्यात् । भेदतत्त्वानभ्युपगमे हि स्वपक्ष परपक्ष साधनदूषणादिविवेकाभावाद सर्वमसमंजसं स्यात् आनंत्यप्रसिद्धिश्च देशकालपरिच्छेदरहितत्व मात्रेण, ने वस्तुतोऽपि परिच्छेद रहितत्त्वेम, तथा विधस्य शशविषाणायमानस्यानुपलब्धेः । भेदवादिनस्तु सर्वंचिदचिद् वस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मणः सर्वप्रकारत्वात् स्वतः परतोऽपि परिच्छेदो न विद्यते । तदेवोपादयद्भ्योऽवगम्यते । आरम्भणशब्दआदिर्येषां वाक्यानाम्, तान्याकारणाद्भिन्नस्य कार्यस्य सत्यत्वाद् ब्रह्मकार्यं कृत्स्नं जगद् ब्रह्मणोऽन्यदेव ।

जो यह कहा कि—अतीत कल्पों की अनन्तता होने से सभी आत्माओं के मुक्त हो जाने से, भेदवाद में भी बद्ध मुक्त व्यवस्था नहीं बनती, इस कथन का निराकरण जीवों की अनन्तता के आधार पर किया जा चुका है । जो यह कहो कि—आत्माओं की भिन्नता मानने से, उर्द, सरसों, घट पट आदि की तरह, संख्यावत्त्व अर्थात् सान्तत्त्व होगा, सो यह दृष्टांत ही गलत है, घट आदि तो स्वतः ही अनंत हैं । यदि कहो कि—दस घट, हजार भाव आदि गणना तो की जाती है, ठीक है की जाती है, पर यह गणना, घट आदि के रूप की नहीं है, यह तो देशकाल आदि से विशिष्ट घट की है । ऐसी ही संख्या आत्मा की भी है [अर्थात् किसी स्थान किसी समय कुछ आत्मायें विभिन्न आकारों में उपस्थित हो तो हम उनकी गणना भले ही कर लें, पर हैं तो वह अनंत ही] इसलिए एक साथ सबकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि आत्मायें अनंत हैं ।

जो यह कहा कि—आत्माओं को भिन्न-भिन्न मानने से उनमें जडता, अनात्मता, विनाश आदि दोष हो सकते हैं, यह बात भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि—एक जातीय पदार्थ का भेद, कभी उस जातीय पदार्थ से

भिन्न जातीयता नहीं बतला सकता, जैसे कि--घटों के पारस्परिक भेद में, पटत्व का भान नहीं होता। यह कहना कि-भेद मानने से आत्माओं का वस्तुगत परिच्छेद हो जायगा, जिसके फलस्वरूप, ब्रह्म का देश काल परिच्छेद (ससीमभाव) संभावित होगा, जिससे ब्रह्म की अनंतता सिद्ध न होगी। यह भी असंगत बात है, परिच्छिन्न पदार्थों का भी, देश कालात्मक परिच्छेद का न्यूनाधिक भाव देखा जाता है। देशकाल संबंधी जो परिच्छेद होता है, उसे प्रमान्तरों के सहारे ही, निरूपण किया जा सकता है, इसलिए ब्रह्म का, देशकाल आदि का जो संबंध है, वह भी प्रमाणान्तरों से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए इसमें कोई विरूद्ध भाव नहीं है । यदि कहें कि-आत्मा का रूप, वस्तु से परिच्छिन्न होते हुए भी, तथा उससे भिन्न सभी प्रकार के परिच्छेद का अभाव होते हुए भी, ब्रह्म की अनंतता सिद्ध नहीं होती। ठीक है, ब्रह्म को जब तुम, अविद्या से पृथक् तत्त्व मानते हो, तब भी तो यही दोष उपस्थित होता है। सत् स्वरूप ब्रह्म को, अविद्या से विलक्षण मानने परब्रह्म जब अविद्या से पृथक् हो जाता है तब भेद संबंधी जितने भी दोष तुम प्रस्तुत करते हो वे समी, संभावित हो सकते हैं। यदि अविद्यात्मक भिन्नता नहीं मानते, तो भी ब्रह्म तो अविद्यात्मक ही रहता है, जिससे "ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंतस्वरूप है" यह वाक्य घटित नही होता। यदि तात्त्विक भेद ही मानते हो तो तुम्हारे पास अपने पक्ष के पुष्टि और दूसरे के पक्ष के दूषणों को विश्लेषण करने का कोई उपाय ही नहीं रह जायेगा। अतः सब कुछ असामंजस्य पूर्ण हो जायेगा। देशकाल परिच्छेद के न होने मात्र से ही "अनंतता" सिद्ध हो जायेगी तथा वस्तुगत परिच्छेद की अपेक्षा न होगी, ऐसा खरगोश की सींग का सा अनहोना, परिच्छेद तो कहीं भी दृटिगत नहीं होता । भेदवादियों के मत से जब, सभी जड़चेतन ब्रह्म का शरीर है, तब सारे पदार्थ, विशेषित ब्रह्म से, स्वतः या परतः किसी भी रूप में परिच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। इससे ज्ञात होता है कि—कारण से भिन्न, कार्य के सत्य होने से, ब्रह्म का कार्य, सारा जगत निश्चित ही पृथक् है।

सिद्धांतः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे-तदन्यत्वभारम्भणशब्दादिभ्यः तस्माद् परम् कारणाद ब्रह्मणः, अनन्यत्वं जगतः, आरम्भणशब्दादिम्यः तदुपरम्भणशब्दादीनि। आरम्भण शब्द आदिर्येषां वाक्यानां

तान्यारम्भण शब्दादीनि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।" "सदेव साम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य" सन्मूलाः सोम्येमाःसर्वाः प्रजाःसदायतनाः सद्प्रतिष्ठाः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतोः" इत्येतानि प्रकरणा-न्तरस्थानि अप्येवंजातीयकानि अत्राभि प्रेतानि। एतानि हि वाक्यानि चिदचिदात्मकस्य जगतः परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुत्पादयंति ।

उक्त संशय पर सूत्रकार "तदन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात्–ब्रह्म के साथ जगत के अभेद के प्रतिपादक "आरम्भण' आदि शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि––परमकारण ब्रह्म से, यह जगत अभिन्न है। जिन वाक्यों में उक्त शब्दों का प्रयोग है वे इस प्रकार है–"विकारमात्र, वाक्यारब्ध नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य पदार्थ है– "सृष्ठि के पूर्व यह सारा जगत् सत्स्वरूप था, तब परमात्मा ने एक से अनेक होने की कामना करके तेज की सृष्टि की—"उसने इस जीवात्मा के अन्तःकरण में प्रवेश करके"–हे सौम्य ! ये सारे पदार्थ मूल से ही सत्, सत् में ही स्थित तथा सत् में ही विलीन हैं–"यह सब आत्मस्वरूप हैं, वही एकमात्र सत्य आत्मा है, श्वेतकेतु ! तुम वही हो" इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकरणस्थ वाक्यों की एकता बतलाने के लिए ही सूत्र में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् ये सारे वाक्य एक ही तत्त्व के बोधक हैं। ये सारे ही वाक्य चिदचिदात्मक जगत की, परब्रह्म से अनन्यता बतलाते हैं।

तथा हि–"स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतंश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातंविज्ञातम् ।" इति कृत्नस्यजगतो ब्रह्मैककारणत्वं, कारणकार्यस्यानन्यत्वं च हृदि निधाय कारणभूत ब्रह्म विज्ञानेन कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्नस्य ब्रह्मैककारणनानजानता शिष्येण "कथं न्य भगवः स आदेशः" इत्यनुज्ञानेन अन्यज्ञातता संभवं चोदितो जगतो ब्रह्मैककारणतामुपदेक्ष्यन् लौकिक प्रती-

तिसिद्धं कारणात् कायस्यानन्यत्वं तावत् "यथा सौम्येकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इति दर्शयति । यथैकमृत्पिंडारब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्तं द्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञाततेत्यर्थः ।

इसी प्रकार "वत्स ! तुम गर्व करते हो, तुमने इस विषय की कभी गुरु से जिज्ञासा की है ? जिसे जानकर, अश्रुत विषय श्रुत, अचिन्त्य विषय चिन्त्य एवं अविज्ञात विषय भी ज्ञात हो जाता है "इत्यादि श्रुत से, संपूर्ण जगत की ब्रह्मैक कारणता, कारण से कार्य की अभिन्नता समझाते हुए, गुरू ने, कारणस्वरुप ब्रह्म के ज्ञान से कार्य भूत जगत का ज्ञान होता है, इस तथ्य को बतलाया। एकमात्र ब्रह्म ही जगत का कारण है इस तथ्य को न जानने वाले शिष्य द्वारा पुनः "उस रूप का उपदेश भगवन् ! किस प्रकार का होगा ?" जिज्ञासा करने पर "हे सौम्य ! एक मिट्टी के ढेले से जैसे मिट्टी की निर्मित सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार" इत्यादि उत्तरसे गुरु ने एक विषय के ज्ञान के बिना अन्य विषयों का ज्ञान होना असंभव है, ऐसी लोक व्यवहारानुगत प्रतीति सिद्ध कारण कार्य की अभिन्नता बतलाई। इसका तात्पर्य है कि—एक मिट्टी के पिण्ड से समुत्पन्न घट प्याले आदि उस मृत पिण्ड से अभिन्न माने जाते हैं। उस मिट्टी के ढेले की जामकारी से ही उक्त धारणा बनती है।

अत्र काणाद वादेन कारणात् कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वमाशंक्य लोक प्रतीत्यैव कारणात् कार्यस्यानन्यतामुपपादयति "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम्" इति। आरभ्यते आलभ्यते स्पृश्यते इत्यारम्भणं "कृत्यल्युटोबहुलम्" इति कर्मणिल्युट्। वाचा-वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः । "घटेनोदकमाहर" इत्यादि वाक्यपूर्वको हि उदकाहरणादिव्यवहारः तस्य व्यवहारस्य सिद्धये तेनैव मृद्द्रव्येण पृथुबुध्नोदरत्वादिलक्षणोविकारःसंस्थानविशेषः,तत्प्रयुक्तं च घटइत्यादिनामधेयम्, स्पृश्यते-उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिद्ध्यर्थं मृद्द्रव्यमेवसंस्थानांतरनामधेयांतरभागववति । अतोघटाद्यपि मृत्तिके-

त्येव सत्यम् मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यम् प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः न तु द्रव्यान्तरत्वेन । अतस्तस्यैवमृद्हिरण्यादे द्रव्यस्य संस्थानांतरभाक्त्व मात्रेण बुद्धिशब्दान्तरादय उपपद्यन्ते, यथैकस्यैव देवदत्तस्यावस्था भेदैः "बालोयुवास्थविरः" इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यंते ।

इस विषय में कणाद मत में, कारण से कार्य भिन्न द्रव्य है ऐसी आशंका पूर्वक लोक प्रतीति के अनुसार ही कारण कार्य की अद्वैत प्रतीति होती है, इत्यादि प्रतिपादन किया गया है । "घट आदि विकार—कहने मात्र को भिन्न हैं, मिट्टी ही सत्य है" इत्यादि वाक्य में आरंभण शब्द का अर्थ है, आरंभ करने योग्य, आलंबन करने योग्य । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस पाणिनीय सूत्र से यहाँ कर्म में ल्युट प्रत्यय हुआ है "वाचा" का अर्थ है, वाक्यपूर्वक व्यवहार के अनुसार "घट से जल लाओ" इत्यादि शब्दोच्चारण द्वारा ही, जल लाना आदि व्यवहार पूरा होता है उस व्यव-हार के संपादन के लिए, मिट्टी के स्थूल गोलाकार, मिट्टी के विशिष्ट आकृति वाले "घट" नाम का स्पर्श करता है, अर्थात् जल आहरण रूप विशेष व्यवहार संपादन के उद्देश्य से, मिट्टी की अन्य प्रकार की आकृति का "घट" नाम पड़ा । वस्तुतः घट और मिट्टी एक ही हैं, मिट्टी ही उसका सत्य रूप है, अर्थात् घट आदि पात्र मिट्टी होने से सत्य हैं । जैसे कि–देव-दत्त नामक व्यक्ति अवस्था विशेष के अनुसार "बालक-युवा-वृद्ध" कह-लानाहै, ये भेद बुद्धि और शब्द व्यवहार के ही हैं, वास्तविक नहीं हैं वैसे ही एक ही मिट्टी के बनी विभित्र आँकृतियाँ घट प्याला आदि नामों से समझी और पुकारी जाती हैं ।

यदुक्तं सत्यामेव मृदि "घटो नष्टः" इति व्यवहारात् कारणाद् अन्यत्कार्यमिति, तदुत्पत्ति विनाशादीनां कारणभूतस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषत्वाभ्युपगमादेव परिहृतम् । तत्तदवस्थस्यैकस्यैव द्रव्यस्य ते ते शब्दास्तानि तानि च कार्याणीति युक्तम् । द्रव्यस्य तत्तदवस्थत्वं कारकव्यापारायत्तमिति तस्यार्थवत्त्वम् अभिव्यक्तयनुबंधीनि चोद्यानि-

तस्या अनभ्युपगमादेव परिहृतानि । उत्पत्त्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्यंवादो न विरूध्यते, सत एवोत्पत्तेः। विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते पूर्वमेवसत्, तदुत्पद्यते च इति । अज्ञातोत्पत्ति विनाश याथात्म्यस्येदंचोद्यम्, द्रव्यस्योत्तरोत्तर संस्थान योगः पूर्वं पूर्वं संस्थान संस्थितस्य विनाशः स्वावस्थस्यतूत्पत्तिः । अतः सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्वात्सत्कार्यंवादो न विरूध्यते ।

जो यह कहा कि—मिट्टी के सत्य होते हुए भी "घट फूट गया" ऐसा व्यवहार होता है, इसलिए कारण से कार्य भिन्न है । तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, वह शब्द व्यवहार मात्र ही है, उत्पत्ति विनाश आदि, कारण भूत द्रव्य की अवस्था के ही होते हैं । विशेष विशेष अवस्था को प्राप्त, एक ही द्रव्य, विशेष विशेष शब्द और कार्य भेद के रूप में प्रयुक्त होता है, द्रव्य की वे सारी विशेष अवस्थायें, कारक व्यापार के अधीन होती हैं । इसी से कर्त्ता के प्रयास की सार्थकता भी होती है । अभिव्यक्ति संबंधी प्रस्तुत दोषों का निराकरण,अभिव्यक्ति को अस्वीकार करने से ही हो जाता है । अभिव्यक्ति को स्वीकारने पर भी सत्कार्यवाद (कार्य कारण अनंतत्ववाद) विरुद्ध नहीं होता । क्योंकि-इस मत में सत् से ही उत्पत्ति मानते हैं । उत्पत्ति के पूर्व ही जब सत् था तब "वह उत्पन्न हुआ' ऐसा प्रयोग तो अपनी ही बात को काटने वाला है ? जो लोग उत्पत्ति विनाश के रहस्य को नहीं जानते वे ही ऐसा दोषारोपण करते हैं । द्रव्य का जो उत्तरोत्तर नूतन आकृतियों के साथ संभव है, वही पूर्वतन आकृति संपन्न द्रव्य का विनाश है । अपनी स्वाभाविक वर्त्तमान स्थिति का नाम ही उत्पत्ति है, सभी अवस्थाओं में द्रव्य की सत्ता अव्याहत रहती है, इसलिए उक्त बात सत्कार्यवाद से विरूद्ध नहीं है ।

संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यंवाद प्रसंग इति चेत्-असत्कार्यंवादिनोऽप्युत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्वे सत्कार्यंवाद प्रसंगः । उत्पत्तिमत्वे च अनवस्था । अस्माकंत्ववस्थानां पृथक् प्रतिपत्तिकार्यंयोगान् अनर्हत्वादवस्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वंमितिनिरवद्यम् ।

यदि कहो कि-अविद्यमान आकृति विशेष की उत्पत्ति स्वीकारने से तो असत् कार्यवाद संभव होगा । नहीं, असत् कार्यवादी कभी भी उत्पत्ति

से उत्पत्ति नहीं मानते, यह सत्कार्यवाद का ही प्रसंग है, उत्पत्ति की उत्पत्ति मानने से तो अनवस्था हो जायेगी [अर्थात्-अद्वैतवादी कहते हैं कि-जो असत् है वह आकाश पुष्प की तरह सर्वथा मिथ्या है, उसकी कभी उत्पत्ति हुई है न हो सकती है, इसलिए उत्पत्ति के पूर्व ही कारण वस्तु में कार्य की बीज रूप स्थिति माननी चाहिए। जो सूक्ष्मरूप से अनाभिव्यक्त था वही कर्त्ता-करण आदि की उपयुक्त चेष्टा से अभिव्यक्त होकर कार्य के आकार में प्रकाशित होता है, उसे ही उत्पत्ति कहते हैं, ऐसी उत्पत्ति से पुनः उत्पत्ति हो नहीं सकती इस अभिव्यक्ति का साधन ही, कर्त्ता के व्यापार की सार्थकता है। असत्कार्यवादी (द्वैतवादी) कहते हैं कि-उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं कर्ताओं की चेष्टासे अभिनव कार्योत्पत्ति होती है। प्रत्येक वस्तु में विशेष विशेष कार्योत्पादन की शक्ति निहित है, इसलिए हर कारण से हर कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती। इसपर आपत्ति की जाती है कि-कार्य की तरह उत्पत्ति की भी उत्पत्ति हो सकती है या नहीं? स्वीकार करने पर उस उत्पत्ति का क्रम प्रवाह सदा चलता रहेगा तो सृष्टि क्रम में अनवस्था होगी। इसलिए उत्पत्ति से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, परंतु अभिव्यक्ति के पूर्व उसका अस्तित्व स्वीकारना होगा। सत् से उत्पत्ति की अभिव्यक्ति मात्र मानकर प्रकारांतर से द्वैतवादी भी सत्कार्यवाद को स्वीकारते है] हम लोग (सत्कार्यवादी) तो अवस्थाओंकी पृथक्रूप से प्रतीति और कार्यव्यवहार की योग्यता स्वीकारते नहीं, इसलिए अवस्थित वस्तु की ही उत्पत्ति आदि स्वीकारते हैं, हमारा मत ही निर्दोष है।

कपालत्वचूर्णत्वपिंडत्वावस्था प्रहाणेन घटत्वावस्थादेकत्ववस्था प्रहाणेन बहुत्वावस्था तत्प्रहाणेनैकत्वावस्थाचेति न कश्चिद् विरोधः।

घटोत्पत्ति की पूर्ववत्ती, कपालचूर्ण और पिंडरूप तीन अवस्थाओं के समाप्त हो जाने पर ही जैसे घटाकार अवस्था विशेष होती है वैसे ही उस घटाकार अवस्था को बिगाड़ कर उसे अनेक आकृत्तियों में परिवर्तित कर सकते हैं, और पुनः एकाकार अवस्था में किया जा सकता है। इसलिए हमारे मत में कोई विरुद्धता नहीं है।

तथा—"सदेवसोम्येदमग्रआसीत् एकमेवाद्वितीयम्" इति सदेवेदम् इदानीं विभक्तनामरूपत्वेन नानारूपं जगत्,अग्रेनामरूपविभागा-

भावेन एकमेवासीत्, सर्वशक्तित्वेन अधिष्ठात्रन्तरासहतया अद्वितीयं चेत्यनन्यत्वमेवौपपादितम्। तथा–"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय "इति स्रक्ष्यमाणतेजःप्रभृति विविध विचित्रस्थिरत्रसरूप जगत्वेनात्मनो बहुभवनं संकल्प्य जगत् सर्गाभिधानात् कार्यभूतस्यजगतः परमकारणात् परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वमवसीयते।

जैसे कि– "हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था "इत्यादि श्रुति में, सत्स्वरूप होते भी, वर्त्तमान काल में नामरूप में विभक्त, अनेक आकारों वाला यह जगत्, सृष्टि के पूर्व नामरूप के भेदों से रहित एक ही सर्वशक्ति संपन्न था, इसलिए इसके परिचालन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं थी, वही एक अद्वितीय था, ऐसा अनन्यता का प्रतिपादन किया गया। तथा–"उसने संकल्प किया कि-अनेक होकर जन्म लूँ "इत्यादि सृष्टव्य तेज आदि विविध स्थावर जंगमाकार में, स्वयं को अनेक रूपों की अभिव्यक्ति के संकल्प और उसके अनुसार सृष्टि कार्य के, उपदेश से ज्ञात होता है कि-कार्य स्वरूप यह जगत्, परमात्मा से अभिन्न है।

सच्छब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञस्यसत्यसंकल्पस्य निरवद्य स्यैव सदेवेदमिति निर्देशहिजगत्वम्,सच्छब्दवाच्यस्यैव जगतो नामरूप विभागाभावेनैकत्वमधिष्ठात्रन्तरनिरपेक्षत्वम्, पुनरपि तस्यैव विचत्रस्थिर त्रसरूपजगत्वेन वहुभवन संकल्परूपेक्षणम्, यथा संकल्पं सर्गश्चकथमुपपद्यत इत्याशंक्याह–"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो- देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणीतितासां त्रिवृतं त्रिवृतम् "इत्यादि "तिस्रो देवताः "इति कृत्स्नमचिद्वस्तु निर्दिश्य स्वात्मक जीवानुप्रवेशेनैतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्युक्तम्। अनेन जीवेनात्मना–मदात्मकजीवेन आत्मतयाऽनुप्रविश्यैतद्- विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्यर्थः। स्वात्मनो जीवस्य चात्मतयाऽनु- प्रवेशकृतं नामरूपभाक्त्वमित्युक्तं भवति। "यत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्या सच्चत्यच्चाभवत्" इति श्रुत्यन्तरेण स्पष्टं सजीवं

जगत्परेण ब्रह्मणा आत्मतयाऽनुप्रविष्टम् इति तदेतत्कार्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदचिद् वस्तुनः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्म शरीरत्वम्, परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वम्, अन्तर्यामिब्राह्मणादिषु सिद्धं स्मारितम्। अनेन पूर्वोक्ताशंका निरस्ता।

सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, सर्वदोष रहित, सत्पदार्थ परब्रह्म की ही "यह सत् स्वरूप ही था "इत्यादि निर्दिष्ट जगद् रूपता तथा सत् पदवाच्य उस जगत् की नामरूप विभाग रहित एकता, अन्यपरिचालक निरपेक्षता, पुनः उसी का विचित्र स्थावरजंगमात्मक जगदाकार रूप में बहुत होने का संकल्प तथा संकल्पानुसार सृष्टि इत्यादि कैसे संभव हैं? इत्यादि शंका पर ही कहा गया कि-"उस देवता ने विचार किया कि-मैं इस जीवात्मा में प्रवेश करके इन तीनों देवताओं को नामरूप से प्रकट करूँगा और उनको भी तीन तीन अर्थात् भूतयात्मक करूंगा "इसमें "तीनों देवों" इस पद से समस्त चिद्अचिद् वस्तु का निर्देश करके, स्वात्मक जीवानु प्रवेश से इसे विचित्रनाम रूपवाला करूँगा, तथा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" से, सत्स्वरूप जीवरूप आत्मा के अभ्यंतर में प्रवेश पूर्वक इस जगत को विचित्र नाम रूपवाला करूंगा; ऐसा बतलाया गया है। ऐसी ही दूसरी श्रुति "उसकी सृष्टि करके, उसी में प्रविष्ट हो गए, और प्रविष्ट होकर प्रत्यक्ष और परोक्ष हुए "इत्यादि में, स्पष्ट रूप से शरीर रूपी जगत में परब्रह्म का आत्मरूप से प्रवेश बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि-कार्यावस्थ और कारणावस्थ, जड़ और चेतन, स्थूल और सूक्ष्म, सब कुछ परमात्मा का ही शरीर है, परब्रह्म की और इस जगत की ऐसी आत्मीयता, अंतर्यामी ब्राह्मण में प्रसिद्ध है। इत्यादि से उक्त शंका निवृत्त हो गई।

अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयाऽवास्थिते नामरूपव्याकरण वचनात् चिदचिद् वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यमिति "सदेवेदमग्रएकमेवासीत् "इत्यादि सर्वमुपन्नतरम् शरीभूतचिदचिद्वस्तुगताः सर्वे विकाराश्चापुरुषार्थाऽश्चेति ब्रह्मणो निरवद्यत्वं कल्याणगुणाकरत्वं च सुस्थितम्। तस्मादेतत्-"अधिकं तु भेदनिर्देशात् "इत्यनन्तरमेव वक्ष्यति।

परमात्मा ने आत्मा रूप से स्थित होकर, जडचेतन वस्तुमय जगत को नाम रूप में अभिव्यक्त किया, इसका वास्तविक अर्थ तो यह हुआ कि-जडचेतनवस्तुमय शरीर वाले ब्रह्म ही जगत् पदवाच्य हैं। "सृष्टि से पूर्व जगत् एक सत् स्वरूप ही था "इत्यादि से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है। शरीर रूप जडचेतन वस्तुगत सारे विकाश और अपुरुषार्थ, परब्रह्म की निर्दोषता और कल्याणगुणाकरता को अव्यवस्थित नहीं कर पाते, इसी बात को-"अधिकं तु भेद निर्देदशात् "सूत्र में कहेंगे।

तथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "इति कृत्स्नस्य चेतनाचेतनस्य ब्रह्मतादात्म्यमुपदिशति। तदेव च "तत्त्वमसि" इति निगमयति तथा प्रकणान्तरेषु अपि वाक्येषु—"सर्वं खल्विदंब्रह्म"—"आत्मनि -खल्वरे दृष्टे श्रुतेमते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्"—"इदंसर्वं यदयमात्मा"-ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—"आत्मैवेदं सर्वम्"इत्यनन्यत्वं प्रतीयते, तथाऽन्यत्वं च निषिध्यते।"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" "नेहनानास्ति-किंचन अमृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति"इति तथा-"यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्? 'इत्यविदिषो द्वैतदर्शनं विदुषश्चाद्वैतदर्शनं प्रतिपादयन् अनन्यत्वमेव तत्त्वमिति प्रतिपादयति। तदेवमारंभणशब्दादिभ्यो जगतः परमकारणाद् परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुपपाद्यते।

तथा—"यह सारा जगत् इस ब्रह्म का आत्मीय है" इस श्रुति में समस्त चिदअचिद् की ब्रह्मात्मकता का उपदेश दिया गया है "तुम वही हो"इस वाक्य में भी उसी को प्रकारान्तर से बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्य प्रकरणों में भी-"यह सब कुछ ब्रह्म है-आत्मा के दृष्ट, श्रुत चिंतित हो जाने से ही सारे जगत का ज्ञान हो जाता है-यह जो कुछ है वह आत्मा ही है-यह सब कुछ ब्रह्म ही है-यह सव आत्मा ही है"इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म और जगत की अनन्यता और द्वैतका निषेध किया गया है। "जो लोग सब पदार्थो को आत्मा से भिन्न मानते है' 'सारे पदार्थों से वे वंचित रह जाते हैं"-इस जगत में कुछ भी भिन्न नहीं है,जो इसमें भिन्नता देखते हैं वे बार बार मरते रहते हैं"—जब तक द्वैतभाव रहता है तभी तक दूसरा

दीखता है, जब सब कुछ आत्मरूप हो जाता है, तब किससे किसको देखा जा सकता है? "इत्यादि वाक्यों में अज्ञानियों के द्वैतभाव और ज्ञानियों के अद्वैतभाव का प्रतिपादन किया गया है। यथा अद्वैत को ही तत्त्व बतलाया गया है इसी प्रकार आरंभण शब्द आदि से—परमकारण पर ब्रह्म और जगत् का उपपादान किया गया है।

अत्रेदं तत्त्वं—चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकार ब्रह्मैवसर्वदा सर्वशब्दाभिधेयं, तत्कदाचित् स्वस्मात् शरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम्। तत्करणावस्थं ब्रह्म, कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद् वस्तुशरीरम् तच्च कार्यावस्थमिति कारणात् परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदन्यत् शरीरभूतचिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्चकारणावस्थायां-कार्यावस्थायांश्च श्रुतिशतसिद्धया स्वभावव्यवस्थया गुणदोषव्यवस्थया च "न तु दृष्टान्तभावात् "इत्यत्रोक्त।

उक्त कथन का तत्त्व यह है कि—जड़चेतन सभी वस्तु ब्रह्म का शरीर है, इसलिए तद्विशिष्ट ब्रह्म हो हर जगह "सर्व"शब्द से प्रतिपाद्य हैं। सर्व शब्दवाच्य वह ब्रह्म ही, कभी अपने ही' शरीर रूप, पृथक् न कहने योग्य, सूक्ष्मदशा को प्राप्त जड़चेतन शरीर वाला होकर कारणावस्थ ब्रह्म कहलाता है,और कभी बिभक्त नामरूपो में व्यवहार्य,स्थूल दशा के प्राप्त जड़चेतन वस्तु शरीर का होकर कार्यावस्थ ब्रह्म कहलाता है। इसलिए कारणभूत परब्रह्म से उसी का कार्यभूत यह जगत भिन्न नहीं है। जड़चेतन वस्तुमय शरीर के शरीरी ब्रह्म के, कारण कार्यरूप और अवस्थागत स्वभावभेद तथा गुण दोष विभाग व्यबस्था आदि, जो कि सैकड़ों श्रुतियों से सम्मत है, उन सबका विवेचन "न तु दृष्टान्ततभावात्" सूत्र में किया गया है।

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयेण वर्णयंति, न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिध्यति, सत्यमिथ्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेः, तथासति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वंवास्यात्।

जो लोग (शांकर) कार्यरूप जगत को मिथ्या मानकर कार्यकारण की अनन्यता बतलाते हैं, वस्तुतः उसके अनुसार तो कार्य कारण अनन्यता सिद्ध ही नहीं हो सकती, सत्य और मिथ्या की एकता संभव ही कैसे है? यदि उनकी एकता मानने का प्रयास करेंगे तो ब्रह्म में मिथ्यात्व तथा जगत् में सत्यता हो जावेगी।

ये च कार्यमपि पारमार्थिकमभ्युपयंतएव जीवब्रह्मणोरौपाधिकमनन्यत्वम्, स्वाभाविकंचानन्यत्वम्, अचिद् ब्रह्मणोऽस्तु द्वयमपि स्वाभाविकामिति वदंति, तेषामुपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावान्निरवयवस्याखंडितस्य ब्रह्मण एवोपाधिसंबंधातब्रह्मस्वरूपस्यैव हेयाकारपरिणामात् शक्तिपरिणामाभ्युपगमे शक्तिब्रह्मणोरनन्यत्वाच्च जीवब्रह्मणोः कर्मवश्यत्वापहतपाप्मत्वादिव्यवस्थावादिन्योऽचिद्ब्रह्मणोश्च परिणामवदिन्यः श्रुतयो व्याकुलीभवेयुः

और जो लोग (भास्कराचार्य आदि) कार्य की पारमार्थिकता स्वीकारते हुए भी, जीव ब्रह्म के भेद को औपाधिक तथा अभेद को स्वाभाविक कहते हैं, उनके मतानुसार, उपाधि और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य के न होने से, अखंड निरवयव ब्रह्म के साथ, उपाधि संबंध कल्पित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप, ब्रह्म की ही हेय जगत के रूप में परिणिति होती है। ब्रह्म और शक्ति का परिणाम स्वीकारने पर भी, शक्ति और शक्तिमान ब्रह्म जब अनन्य हैं; तब जीव की कर्माधीनता, ब्रह्म की निष्पाप स्वभावता आदि व्यवस्था तथा अचेतन का परिणाम और चेतन का अपरिणाम बतलाने वाली श्रुतियाँ व्याकुल हो जावेंगी।

ये पुनः निरस्तनिखिल भोक्तृत्वादिविकल्पविप्लवं सर्वशक्तियुक्तं सन्मात्रद्रव्यमेव कारणं ब्रह्म, तच्च प्रलयवेलायां शांताशेष सुख दुःखानुभवविशेषं स्वप्रकाशमपि सुप्तात्मवदचिद्विलक्षणमवस्थितम्, सृष्टिवेलायां मृत्तिका द्रव्यमिव घटशरावादिरूपं, समुद्र इव च फेनतरंग बुद्बुदादिरूपो भोक्तृभोग्यनियंतृरूपेणांशतयावस्थमवतिष्ठते, अतो भोक्तृभोग्यनियंतृत्वानि तत्प्रयुक्ताश्चगुणदोषाः शरावत्वघटत्व-

मणिकत्ववत्तदमतकार्यभेदवच्चव्यवतिष्ठंते। भोक्तृभोग्यनियंतृणां सदात्मनैकत्वं च घटशरावमणिकादीनां मृदात्मनैकत्ववदुपपद्यते, अतः सन्मात्रद्रव्यमेव सर्वावस्थावस्थितमिति ब्रह्मणोऽनन्यज्जगदातिष्ठंते, तेषां सकलश्रुतिस्मृति इतिहासपुराणन्याय विरोधः, सर्वाहि-श्रुतयः सस्मृतीतिहासपुराणाः सर्वेश्वरं सदैव सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसंकल्पं निखद्यं देशकालानवच्छिन्नानवधिकातिशयानन्दं परम-कारणं ब्रह्म प्रतिादयंति, न पुनरीश्वरादपि परमीश्वरांशिसन्मात्रम्।

और जो लोग (श्री निवासादि) भोक्तृत्व आदि समस्त विकल्प बाधाओं से रहित, सर्वशक्तिसंपन्न, कारणीभूत शुद्ध सत् स्वभाव ब्रह्म को प्रलयकाल में सब प्रकार की सुखदुःखानुभूतियों से शून्य स्वप्रकाश बत-लाकर सुप्त आत्मा की तरह स्थित और अचेतन से पृथक बतलाते हैं तथा सृष्टि के समय मिट्टी जैसे घट प्याला आदि रूपों में तथा समुद्र जैसे फेन तरंग आदि रूपों में रहता है वैसे ही वह ब्रह्म, भोक्तृ भोग्य और नियंता रूप तीन अंशावस्थाओं में रहते हैं घट प्याला आदि विकृत पदार्थों की बिकृति की तरह, भोक्तता, भोग्यता और नियंतृता भी अपने गुणदोषों सहित कार्यभेद भी उनमें स्थित रहते हैं। घट प्याला आदि विकृत पदार्थ जैसे मृदात्मक हैं,वैसे ही भोक्ता,भोग्य और नियंता आदि भी सदात्मक होने से एक हैं, इस प्रकार एकमात्र द्रव्यरूपी सत् पदार्थ ही अनेक अवस्थाओं में अवस्थान करता है यही ब्रह्म और जगत की अनन्यता का रूप है, ऐसा बतलाते हैं। उनका यह मत संपूर्ण श्रुति स्मृति इतिहास पुराण आदि से विरुद्धमत है सारी श्रुतियाँ स्मृति इतिहास पुराणादि, सर्वेश्वर, सत् स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसंपन्न सत्यसंकल्प, निरवद्य, देश काल आदि से अनवच्छिन्न, अतिशय आनंदमय परमकारण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते है,परमेश्वर के भिन्न अंश ईश्वर आदि का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

तथाहि— सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्"—तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"—ब्रह्म वा इदमग्रआसीत् एकमेव तदेकं सन्नव्य भवततच्छ्रेयो रूपमत्यसृजतक्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणींद्रो वरुणः सोमोरुद्रः पर्जन्योयमो मृत्युरीशान् इति"—आत्मा वा इदमेक

एकाग्रग्रासीत् नान्यत् किंचनमिषत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति"– एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानोनेमे द्यावापृथ्वी न नक्षत्राणिनापोनाग्निर्नसोमो न सूर्यः, सएकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्य" इत्यादिभिः परमकारणं सर्वेश्वरेश्वरो नारायण एवेत्यवगम्यते।

तथा–"हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत एक अद्वितीय सत् था" "उन्होने विचारा कि अनेक होकर प्रकटूँ"–यह जगत पहिले एक ब्रह्म स्वरूप ही था"–कार्य साधन में अपने को अकेला समझकर उन्होने श्रेय के साधन क्षत्रिय की रचना की, ये सारे देवता क्षत्रिय हैं जो कि–इन्द्र–वरुण–यम–रुद्र पर्जन्य–सोम और ईशान नाम से प्रसिद्ध हैं"–सृष्टि पूर्व जगत एक आत्म स्वरूप ही था, स्पन्दमान कुछ भी नहीं था, उन्होंने संकल्प किया कि लोक समूह की सृष्टि करूँगा"–एक नारायण ही थे,ब्रह्म, ईशान, द्यु पृथ्वी, नक्षत्र–जल-अग्नि-सोम सूर्य आदि कुछ न थे, वे एकाकी होने का अनुभव ही नहीं करते थे, वह उस समय समाधिस्थ थे "इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि एकमात्र सर्वेश्वरेश्वर परम कारण नारायण हैं।

सद् ब्रह्मात्मशब्दा हि तुल्यप्रकरणस्थाः तत्तुल्यप्रकरणस्थेन नारायणशब्देन विशेषिताः तमेवावगमयंति। "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" सकारणं कारणाधिपाधियो न चास्यकश्चिद् जनिता न चाधिपः" इतीश्वरस्यैव कारणत्वं श्रूयते। स्मृतिरपिमानवो" ततः स्वयंभूर्भगवान्" इति प्रकृत्य-"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्वि-विधाः प्रजाः अह एव ससर्जादौ तासुवीर्यमपासृजत् "इति। इतिहासपुराणान्यपि पुरुषोत्तमं एव परमकारणमभिदधति –"नारायणोजगन्मूर्त्तिरनन्तात्मा सनातनः, स सिसृक्षुः सहस्रांशाद् असृजत् पुरुषान् द्विधा, विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् "इत्यादिषु।

सत् ब्रह्म और आत्मा शब्द, एक से ही प्रकरणों में, नारायण शब्द के ही विशेषण के रूप में प्रयोग किये गए हैं। "वह ईश्वरों के भी परम

महान ईश्वर तथा देवताओं के परमदेव हैं" वही परम कारण इंद्रियों के स्वामी, जीवों के भी स्वामी हैं, उनका कोई जनक नहीं है स्वामी „इत्यादि में भी ईश्वर की परमकारणता बतलाई गई है। तथा मनुस्मृति में भी-"वह स्वयंभू भगवान "इत्यादि उपक्रम करते हुए "उन स्वयंभू ने प्रजासृष्टि की इच्छा से, सर्वप्रथम जल की सृष्टि की, उसमें अपने वीर्य का निक्षेप किया" इसी प्रकार इतिहासपुराणों में भी पुरुषोत्तम को ही परमकारण बतलाया गया है—"अनन्तआत्मा, सनातन जगत मूर्त्ति नारायण ने जगतसृष्टि की इच्छा से अपने हजारवें हिस्से के एक हिस्से से द्विविध (स्थावरजंगम) जीवों की सृष्टि की "विष्णु से ही उत्पन्न यह जगत उन्हीं में स्थिर है। "इत्यादि,

न चेश्वर सन्मात्रमेवेति वक्तुं शक्यम्, तस्य तदंशत्वाभ्युपगमात् सविशेषत्वाच्च। न च तस्य ज्ञानानंदाद्यनंतकल्याणगुणयोगः कादाचित्क इति वक्तुंशक्यते, तेषां स्वाभाविकत्वेन सदातनत्वात् "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" यः सर्वज्ञः सर्ववित् इत्यादिभ्यः। ज्ञानानंदादिशक्तियोग एवास्य स्वाभाविक इतिमावोचः। "शक्तिः स्वाभाविकी, ज्ञानबलक्रिया च स्वाभाविकी, इति पृथङ् निर्देशात् लक्षणाप्रसंगाच्च।

वह ईस्वर एक मात्र सत्स्वरूप ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते उसकी अंशविभूतियाँ भी हैं और वह सगुण भी हैं। उनका जो ज्ञान आनंद आदि कल्याणमय गुणों से संबंध है वह भी कादाचित्क (कभी रहता है कभी नहीं रहता) है, ऐसा भी नहीं कह सकते, वे आनंद आदि तो उनके स्वाभाविक होने से सनातन गुण हैं। जैसा कि—"उसकी स्वभाविकी पराशक्ति ज्ञान बल क्रिया आदि विविध रूपों की सुनी जाती है "वह सर्वज्ञसर्वविद है "इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। केवल ज्ञान और आनंद आदि शक्ति योग से ही उसमें स्वाभाविकी शक्ति हो सो बात नहीं है अपितु ज्ञान बल क्रिया आदि की पृथक रूप से स्वाभाविकता बतलाई गई है। यदि इससे भिन्न कुछ अर्थ करेंगे तो वह लक्षणा से ही कर सकेंगे।

न च पाचकादिवत् "सर्वज्ञः" इत्यादिषु शक्तिमात्रे कृत् प्रत्ययइतिवक्तुं शक्यम्, कृत् प्रत्ययमात्रस्यशक्तावस्मरणात्-

"शक्तौ हस्तिकवाटयोः इत्यादिषु केषांचिदेवकृत्प्रत्ययानां शक्ति विषयत्वस्मरणात् । पाचकादिषुत्वगत्यालक्षणासभाश्रीयते ।

यहाँ "पाचक" आदि शब्दों की तरह "सर्वज्ञ" इत्यादि शब्दों में केवल शक्तिमान अर्थ के द्योतन के लिए ही कृत् प्रत्यय किया गया हो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि–समस्त कृत् प्रत्यय शक्ति अर्थ में ही नहीं होता है । "हस्ति और कवाट शब्द के पूर्ववर्त्ती होने पर ही शक्ति अर्थ में हन् धातु के बाद ढक् प्रत्यय होता है" इस व्याकरणीय नियम के अनुसार प्रयोग विशेष में ही, कृत् प्रत्यय का, शक्ति विषयक प्रयोग बतलाया गया है । पाचक आदि शब्दों में तो कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है इसलिए लक्षणा का आश्रय लेकर अर्थ किया जाता है [पाचक का लक्षणा द्वारा "पाकानुकूल शक्ति संपन्न" अर्थ किया जाता है]

किं च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य चांशित्वे तंरगात्समुद्रस्येवांशादंशिनोऽधिकत्वात् "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते "इत्यादीनीश्वरविषयाणि परः शतानि वचांसि बाध्येरन् ।"

यदि ईश्वर उस सत् का अंश विशेष है और वह उसके अंशी हैं तो अंश रूप तरंग से अंशीरूप समुद्र की तरह मानने पर "वह ईश्वरों के भी परमईश्वर हैं, उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं है" इत्यादि सैकड़ों ईश्वरविषयक वाक्यों में बाधा उपस्थित होगी (अर्थात् ईश्वर को तो श्रेष्ठ कहा गया है, तुम उसे अंश बतलाकर सामान्य सिद्ध करते हो, श्री कृष्ण को ब्रह्म बतलाकर, नारायण ईश्वर को अंश बतलाते हो, यही श्रुति वाक्यों में बाधा है)

किं च सन्मात्रस्य सर्वात्मकत्वे, अंशित्वे च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य सर्वात्मकत्वांशित्वोपदेशाव्याहन्येरन्। नहिमणिकात्मकत्वं तदंशत्वं वा घटशरावादेः । स्वांशेषु सर्वेषु सन्मात्रस्य पूर्णत्वेनेश्वरांशेऽपि त पूर्णत्वात् तदात्मकानि तदंशाश्चेतराणि वस्तूनीतिचेन्न,

घटेऽपि सन्मात्रस्य पूर्णत्वादीश्वरस्यापि घटात्मकत्व तदंशत्व प्रसंगात् ।

यह कहते हो कि—एक मात्र सत्पदार्थ ही अपने समस्त अंशों में परिपूर्ण रहते हैं, उसके अंश ईश्वर में भी उसकी पूर्णता विद्यमान है इसलिए सारी वस्तुए तदात्मक और तदंशभूत (ईश्वरात्मक और ईश्वरांश) कही गई हैं। ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा कहने से तो यह सिद्ध होता है कि-घट भी सत का अंश और ईश्वर भी सत का अंश दोनों एक से ही हैं; घट भी सदात्मक होने से परिपूर्ण है तथा ईश्वर भी सदात्मक है इसलिए दोनों अभिन्न हैं, तो यह समझना चाहिए कि ईश्वर घटात्मक भी है और घट का अंश भी है।

न च सन्मात्रस्य "घटोऽस्ति "पटोऽस्ति" इति वस्तुगततयाऽवगतस्यद्रव्यत्वंकारणत्वंवोपपद्यते। व्यवहारयोग्यता हिसत्वम्। विरोधि व्यवहार योग्यता तद् व्यवहार योग्यस्यासत्वम्। द्रव्यमेवसदित्यभ्युपगमे क्रियादीनामसत्त्व प्रसंगः। क्रियादिषु काशकुशावलंबनेऽपि सर्वत्रैकरूपा सत्ता दुरूपपादा। सदात्मना च सर्वस्याभिन्नत्वे सर्वज्ञत्वेन सर्वस्वभावप्रतिसंधानात् सर्वगुणदोषसंकर प्रसंगश्च पूर्वमेवोक्तः अतोयथोक्त प्रकारमेवानन्यत्वम्।

सद् वस्तु की "घट है" पट है "ऐसी वस्तु धर्म संबंधी द्रव्यता और कारणता भी साध्य नहीं है। सत् का अर्थ होता है, जो वस्तु व्यवहार योग्य हो, जिसमें व्यवहार योग्यता का अभाव हो वही असत् है केवल द्रव्य को ही सत् मानने से उसके सारे कार्य असत् हो जावेंगे [अर्थात् बिना व्यवहार योग्य सद् वस्तु से उत्पन्न सारी वस्तुएं व्यवहार योग्यता के बिना असत् ही हैं] क्रिया आदि में यदि थोड़ा बहुत सत् का आश्रय स्वीकारें तो भी, सर्वत्र अद्वैत का प्रतिपादन करना संभव नहीं हो सकता सब पदार्थों को सत् स्वरूप से यदि अभिन्न मानेंगे तो, सर्वज्ञ संबंधी जो गुण दोष आदि स्वभावों की पर्यालोचना की जाती है, वह नहीं कर पावेंगे। जैसा हम पहिले अनन्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं वही समीचीन है।

अथोच्येत्–एकस्यैवावस्थान्तरयोगेऽपि बुद्धिशब्दान्तरादयो बाल-त्व युवत्वादिषु दृश्यंते, मृद्दारुहिरण्यादिषु द्रव्यान्तरत्वेऽपिदृश्यंते, तत्र मृद् घटादिषु कार्यकारणेषु बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थानिवंधना एवेति कुतो निर्णीयते ? इति । तत्रोत्तरम्—

प्रश्न होता है कि–एक ही पदार्थ की विभिन्न अवस्थाओं के स्वीकारने पर जैसे बालत्व युवत्व आदि की प्रतीति और तद्‌बोधक शब्दों का प्रभेद देखा जाता है , वैसे ही मिट्टी लकड़ी सोना आदि द्रव्यों की पृथक् सत्ता भी देखी जाती है । पर मिट्टी, घट आदि कारण कार्यों में, शब्द और प्रतीति के अनुसार, किस प्रकार का अवस्था भेद माना जावेगा ? इसी का उत्तर देते हैं –

भावे चोपलब्धेः ।२।१।१६॥

कुण्डलादि कार्य सद्भावे च कारणभूतहिरण्यस्योपलब्धेः "इदं कुन्डलं हिरण्यम्" इति हिरण्यत्वेन प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । न चैवं हिरण्यादिषु द्रव्यान्तरेषु मृदादय उपलभ्यंते । अतोबालयुवादिवत् कारणभूतमेव द्रव्यमवस्थान्तरापन्नं कार्यमिति गीयते, द्रव्यान्तरवादिनऽप्यभुपेतेनावस्थान्तरयोगेन बुद्धिशब्दान्तरादिषूपपन्नेष्वनुपलब्ध-द्रव्यान्तर कल्पनाऽनुपपत्तेश्च ।

कुन्डल आदि कार्यों में, कारणभूत स्वर्ण की सत्ता रहती है, तभी "यह कुन्डल स्वर्ण का है" ऐसी प्रतीति होती है, ऐसी उपलब्धि में स्वर्ण को मिट्टीतो कहा नहीं जा सकता, अर्थात् एक द्रव्य में अन्य की उपलब्धि तो होती नहीं । इसी प्रकार, कारणभूत वस्तु बाल युवा आदि अवस्थांतरों को प्राप्त होकर भी, उनमें निहित रहता है । जो लोग, द्रव्यान्तरवाद मानते हैं उनके मत से शब्द और प्रतीति के प्रभेद मानने पर भी, अनुपलब्ध अन्य द्रव्य की कल्पना तो की नहीं जा सकती (अर्थात् एक ही द्रव्य के अवस्थांतर रूप में दूसरे किसी द्रव्य की प्रतीति तो हो नहीं सकती)

न च जाति निवंधनेयं प्रत्यभिज्ञा, जात्याश्रयभूतद्रव्यांतरानुपलब्धेः । एकमेव हेमजातीयं द्रव्यं कार्यकारणोभयावस्थं दृश्यते । न

च द्रव्यभेदे समवायिकारणानुवृत्या कार्ये प्रतिसंधानमिति वक्तुं शक्यम्, द्रव्यान्तरत्वे सत्याश्रयानुवृत्तिमात्रेण तदाश्रित द्रव्यांतरे प्रतिसंधानानुपपत्तेः। गोमयादिकार्ये वृश्चिकादौ गोमयादि प्रतिसंधा-नं न दृश्यत इतिचेन्न, तत्राप्याद्यकारणभूतपृथ्वीद्रव्यप्रत्यभिज्ञानात्। अग्निकार्येधूमे अग्निप्रत्यभिज्ञानं दृश्यत इति चेत्, भवतु न तत्र प्रत्यभिज्ञानं, तथापि न दोषः अग्नेर्निमित्तकारणमात्रत्वात्। अग्नि-संयुक्तार्देन्धनकार्यमेव धूमः। अतः कार्यभावे च तदेवेदमित्युपलब्धे-र्बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थाभेदमात्र निबंधनाः, इत्यवगम्यते। तस्माद् कारणादन्यत्कार्यम्।

द्रव्य की जाति संबंधी प्रतीति से, उस जाति से आश्रित किसी अन्य द्रव्य की उपलब्धि भी नहीं हो सकती (अर्थात् सुवर्ण में सुवर्ण की ही प्रतीति हो सकती है मिट्टी की नहीं) एक ही सुवर्ण जातीय द्रव्य में कार्य-कारण रूप दो अवस्थायें देखी जाती हैं, एक जाति कारण हो, दूसरी जाति कार्य हो, ऐसा तो देखने में आता नहीं। भिन्न द्रव्यों का समवायि कारण एक है इसलिए कार्य का संधान एक सा ही हो, ऐसा कोई निश्चित नहीं है। यदि वस्तुतः ही द्रव्यभेद हो तो, आश्रयभूत समवायि कारण की प्रवृत्ति से पृथक् तदाश्रित द्रव्य में अभेद प्रतीति हो नहीं सकती यदि कहें कि-गोबर से होने वाले कीड़ों में, गोबर के रूप की प्रतीति नहीं होती तो भाई! गोबर की भी कारण पृथ्वी के रूप की प्रतीति तो होती है [हैं तो वे पार्थिव ही] यदि कहें कि—अग्नि के कार्य धुएं में तो अग्नि की प्रतीति होती नहीं? ठीक है न हो उसमें दोष ही क्या है, अग्नि तो निमित्त कारण मात्र ही है, धुआं तो गीली लकड़ी की अग्नि से होता है, उसमें उसीकी गंध भी आती है। इससे निश्चित होता है कि-कार्यरूप में "उसी उपादान का यह कार्य है" ऐसी निश्चित प्रतीति, बुद्धि और शब्द भेद से अवस्थांतर में ही होती है, द्रव्यांतर में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि—कारण से कार्य अभिन्न है।

इतश्च—इसलिए भी कारण से कार्य अभिन्न है कि—

सत्वाच्चापरस्य ।२।१।१७॥

अपरस्य कार्यस्य सत्वाच्च कारणात् कार्यस्यानन्यत्वम् । लोकवेदयोर्हि कार्यमेव कारणतया व्यपदिश्यते, यथालोके "सर्वमिदं-घटशरावादिकं पूर्वाह्ने मृत्तिकैवासीत्" इति । वेदे च – "सदेव सोभ्येदमग्रआसीत् ।"

कार्य में कारण की सत्ता रहती है, इसलिए कारण और कार्य की अनन्यता निश्चित है, लोक और वेद में कार्य को ही कारण रूप से निर्देश किया गया है—जैसे कि लोक में कहा जाता है कि –"ये घड़े प्याले आदि सब सबेरे मिट्टी ही तो थे" तथा वेद में जैसे—"सृष्टि के पूर्व ये सारे पदार्थ सत् ही तो थे ।" इत्यादि ।

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्नधर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दांतराच्च । ।२।१।१८

यदुक्तं कारणे कार्यस्य सत्त्वं लोकवेदाभ्यामवगम्यत, इति, तदयुक्तम्, असद् व्यपदेशात् "असदेवेदमग्रआसीत्" "असद् वा इद-मग्र आसीत्""इदं वा अग्रेनैर्वकिंचनासीत्" इति–लोके च "सर्वमिदं घटशरावादिकं पूर्वाह्ने नासीत्"इति। अतो यथोक्तंनोपपद्यत इति चेत् तन्न, धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशात् । स खल्वसद्व्यपदेशस्तस्यैव कार्य-द्रव्यस्य पूर्वकालेनधर्मान्तरेण–संस्थानांतरेण, न भवदभिप्रेतेनतुच्छत्वेन । सत्त्वासत्त्वेहि द्रव्यधर्मावित्युक्तम् । तत्रसत्त्वधर्माद्धर्मान्तरमसत्त्वम् । इदं शब्दनिर्दिष्टस्य जगतः सत्त्वधर्मो नामरूपे, असत्त्वधर्मस्तु तद्विरोधिनी सूक्ष्मावस्था । अतो जगतो नामरूपयुक्तस्य तद्विरोधि सूक्ष्मदशापत्तिरसत्त्वम् ।

जो यह कहा कि—कारण में कार्य की स्थिति लोक और वेद से ज्ञात होती है, यह बात असंगत है, आपके कथन के विपरीत असत् का ही उल्लेख मिलता है–जैसे कि–"यह सब कुछ सृष्टि के पूर्व नहीं था" यह सब पहिले असत् ही था "सृष्टि के पूर्व यह जगत कुछ नहीं था" इत्यादि वेद

में तथा लोक में जैसे—"ये सब घड़े प्याले आदि सबेरे कुछ नहीं थे" इत्यादि। इसलिए उक्त कारण में कार्यस्थिति की बात असंगत है यह कहना उपयुक्त नहीं है, असद् का जो उल्लेख किया गया है वह वस्तु के धर्मान्तरीय रूप का ही द्योतक है, वास्तविकता का नहीं। अर्थात् जिसका असत् रूप से उल्लेख है वह उसी कार्य द्रव्य की पूर्वकालीन स्वरूपांतर अवस्था का उल्लेख है, आपकी अभिप्रेत उच्छिन्न (अस्तित्वहीन) अवस्था का नहीं। सत्व और असत्व ये दो द्रव्य के धर्म हैं। सत्व धर्म से विपरीत दूसरा धर्म असत्व है। "इदं शब्द से निर्दिष्ट जगत का, सत्त्व धर्म, नाम और रूप में है तथा असत्त्व धर्म उन दोनों की ही विपरीत सूक्ष्म अवस्था में है। इससे स्पष्ट है कि—जगत की नाम रूप युक्त स्थिति से विपरीत सूक्ष्म दशा ही असत्त्व है।

कथमिदमवगम्यते ? वाक्यशेषाद् युक्तेः शब्दान्तराच्च। वाक्य-शेषस्तावत्—"इदं वा अग्रेनैव किंचनासीत्" इत्यत्र "तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति" इति अनेन वाक्यशेषगतेन मनस्कारलिंगेन असच्छब्दार्थे तुच्छातिरिक्ते निश्चिते तदैकार्थ्यात् "असदेवेदम्" इत्यादिष्वपि असच्छब्दस्यायमेवार्थ इति निश्चीयते। युक्तेश्चासत्त्वस्य धर्मान्तरत्वमवगम्यते, युक्तिर्हि सत्त्वासत्त्वे पदार्थधर्मावगमयति। मृदद्रव्यस्य पृथुवुध्नोदराकारयोगो घटोऽस्तीति व्यवहार हेतुः, तस्यैवतद्विरोध्यवस्थान्तरयोगो घटो नास्तीति व्यवहार हेतुः, तत्रकपालाद्यवस्थास्तद्विरोधित्वेन सैव घटावस्थस्य नास्तीति व्यवहारहेतुः। न च तद्व्यतिरिक्तो घटाभावो नाम कश्चिदुपलभ्यते, न च कल्प्यते तावतैवाभावव्यवहारोपपत्तेः। तथा शब्दान्तराच्च पूर्वकाले धर्मान्तरयोग एवावगम्यते। शब्दान्तरंच पूर्वोदाहतम् "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिकम्। तत्र हि "कुतस्तु खलु सोम्यैवंस्यात् "इति तुच्छत्वमाक्षिप्य "सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति स्थापितम् "तद्धेदं तर्हि अव्याकृतं आसीत्तन्नामरूपाभ्यांव्याक्रियत" इति सुष्पष्टमुक्तम्।

यदि कहें कि—उक्त निष्कर्ष किस आधार पर निकाला? तो सुनिये—युक्ति और शब्दांतर प्रयोग तथा वाक्य के अंतिम वर्णन से। अंतिमवर्णन जैसे–"सृष्टि के पूर्व यह सब कुछ नहीं था" कहने के बाद ही "आत्मसर्जन की इच्छा से उस असत् ने मन की सृष्टि की" इत्यादि में मन की सृष्टि का वर्णन किया गया है, जिससे निश्चित होता है कि—असत्-शब्द तुच्छ के अतिरिक्त, कुछ विशेष अर्थ का बोधक है नाम रूपात्मक जगत् और उसकी सूक्ष्मावस्था की एकार्थता को बतलाने के लिए ही "यह सब असत् ही था" ऐसा कहा गया। इस वाक्य में प्रयुक्त "असत्" शब्द का, उक्त विशेष अर्थ ही, निश्चित होता है। युक्ति जैसे–"असत्" शब्द धर्मान्तरत्त्व का द्योतक है, युक्ति से ही, सत्त्व और असत्व इन दो धर्मों का ज्ञान हो सकता है, जैसे कि—मिट्टी रूपी द्रव्य की स्थूल गोलाकार आकृति ही घट कहलाती है, उस आकृति के नष्ट हो जाने पर "घट नहीं है" ऐसा प्रयोग किया जाता है, या घट निर्माण के पूर्व की जो, दो कपालों के रूप में आकृति होती है वह "घट नहीं है" इस विपरीत अवस्था की परिचायक होती है। इस प्रकार की विपरीत अवस्था को घटाभाव नहीं कहा जाता और न उसका नाम घटाभाव ही पड़ जाता है; उसकी स्थिति ही उसके अभाव का द्योतन करती है। शब्दांतर प्रयोग जैसे–"हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व सत् ही था", इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में धर्मान्तर के द्योतक–असत् के स्थान पर सत् शब्द का प्रयोग किया गया है। उस प्रसंग में–'हे सौम्य! ऐसा कैसे संभव?" ऐसी शंका करते हुए–"हे सौम्य! यह प्रपंचमय जगत पहिले सत् ही था" ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया गया है। "सृष्टि के पूर्व यह जगत अव्याकृत था, वही नाम रूप में अभिव्यक्त हुआ" ऐसा सुस्पष्ट उल्लेख है।

इदानीं कार्यस्य कारणादनन्यत्वे निदर्शनद्वयं द्वाभ्यां सूत्राभ्यां दर्शयति।

अब आगे के दो सूत्रों से कार्यकरण की अनन्यता के दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं

पटवच्च।२।१।१९॥

यथा तन्तव एव व्यक्तिषंगविशेष भाजः पट इति नाम रूप कार्यान्तरादिकं भजन्ते, तद्वद् ब्रह्मापि।

जैसे कि—सूतों की विशेष बुनावट को वस्त्र कहा और माना जाता है वैसे ही ब्रह्म भी, विशिष्ट नामरूप वाले होकर जगत् कहलाते हैं।

यथा च प्राणादिः ।२।१।२०॥—

यथा च वायुरेक एव शरीरे वृत्ति विशेषं भजमानः प्राणापानादिनाम् रूपकार्यान्तराणिभजते, तद् वद् ब्रह्मैकमेव विचित्रस्थिरत्रस्वरूपं जगद् भवतीति परम कारणात्परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं जगतः सिद्धम् ।

जैसे कि—एक ही वायु, शरीर में विशेष वृत्ति का आश्रय लेकर प्राण अपान, उदान, व्यान, समान आदि नाम और रूपवाला होकर कई प्रकार से व्यवहृत होता है, वैसे ही, एक ही ब्रह्म, स्थावर और जंगमात्मक विचित्र जगदाकार को प्राप्त होता है। इससे परमकारण परब्रह्म से, जगत की अभिन्नता सिद्ध होती है।

७ इतरव्यपदेशाधिकरणः—

इतरव्यपदेशाद् हिताकारणादिदोष प्रसक्तिः ।२।१।२१॥—

जगतो ब्रह्मान्यत्वं प्रतिपादयद्भिः "तत्त्वमसि "अयमात्माब्रह्म" इत्यादिभिर्जीवस्यापि ब्रह्मानन्यत्वंव्यपदिश्यत इत्युक्तम्, तत्रेदंचोद्यते, यदीतरस्य जीवस्य ब्रह्मभावोऽमीभिर्वाक्यैर्व्यपदिश्यते, तदा ब्रह्मणः सार्वज्ञ सत्यसंकल्पत्वादियुक्तस्यात्मनो हितरूपजगदकरणमहितरूपजगत्करणमित्यादयो दोषाः प्रसज्येरन् । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानंतदुःखाकरं चेदं जगत्, न चेदृशेस्वानर्थे स्वाधीनोबुद्धिमान् प्रवर्त्तते । जीवाद् ब्रह्मणो भेदवादिन्यःश्रुतयोः जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं वदतात्वमैवपरित्यक्ताः, भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः ।

जगत और ब्रह्म की अनन्यता के प्रतिपादक" तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म "इत्यादि वाक्यों से जीव की ब्रह्म से अनन्यता बतलाई गई है। इस कथन पर आपत्ति करते हैं कि—उक्त श्रुति में यदि जीव से भिन्न ब्रह्म, की अनन्यता अभिहित है तो, सत्य संकल्पता सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त परब्रह्म में, अपने हित के लिए, जगत की रचना करना तथा अहित होने पर न करना इत्यादि दोष लागू हो जावेंगे। यह जगत् आध्या-

त्मिक–आधिदैविक–आधिभौतिक दु:खों का आकर है, ऐसे दु:खपूर्ण जगत को कोई भी बुद्धिमान स्वतंत्र अपने लिये नहीं रचेगा। जीव और ब्रह्म की अनन्यता बतलाने के लिए, जीव ब्रह्म के भेद की प्रतिपादिका श्रुतियों को तुम छोड़ देते हो तभी तुम अनन्यता की सिद्धि कर पाते हो अन्यथा, भेद के रहते अभेद की सिद्धि हो नहीं सकती।

औपाधिक भेदविषया भेदश्रुतयः स्वाभाविकाभेदविषयाश्च अभेद श्रुतयइतिचेत्–तत्रेदंवक्तव्यम्–स्वभावतः स्वस्माद्भिन्नं जीवं किमनुपहितम् जगत्कारणं ब्रह्मजानाति वा, न वा? न जानातिचेत्–सर्वज्ञत्व हानिः। जानाति चेत्– स्वस्मादभिन्नस्य जीवस्य दु:खंस्वदु:खमिति जानतो ब्रह्मणो हिताकरणाहितकरणादिदोष-प्रसक्तिरनिवार्या।

यदि कहो कि—श्रुतियाँ, जीव और ब्रह्म के, औपाधिक भेद तथा स्वाभाविक अभेद, का प्रतिपादन करती हैं। इस पर कथन यह है कि–जगत का कारण, अनुपहित (उपाधिसंबंध रहित निर्विशेष) ब्रह्म, स्वभाव से अभिन्न जीव को जानता है या नहीं? यदि नहीं जानता तो उसकी सर्वज्ञता समाप्त होती है। यदि जानता है, तो वह अपने से अभिन्न जीव के दु:खों को अपना ही दु:ख मानता है, तब तो, ब्रह्म की, हित करण और अहित प्रकरण आदि दोषों से, मुक्ति कदापि संभव नहीं है (अर्थात् वह सुख की ही सृष्टि करेगा दु:ख की नहीं)

जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतोभेदः, तद्विषया भेदश्रुतिरितिचेत् तत्रापि जीवाज्ञानपक्षे पुर्वोक्तोविकल्पः तत्फलं च तदवस्थम्। ब्रह्माज्ञानपक्षे स्वप्रकाशस्वरूपस्यब्रह्मणोऽज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतजगत्सृष्टिश्च न संभवति। अज्ञानेन प्रकाशः तिरोहितश्चेत्–तिरोधानस्य प्रकाश निवृत्तिकरत्वेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वात् स्वरूपनिवृत्तिरेवेति स्वरूपनाशादिदोष सहस्रं प्रागेवोदीरितम्। अतइदमसंगतम् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्।

यदि कहो कि—भेद समर्थिका श्रुतियाँ, जीव और ब्रह्म के अज्ञानकृत भेद का प्रतिपादन करती हैं। तब, जीव के अज्ञानपक्ष में, पूर्वोक्त दोषानुसंगादि विकल्प के फलस्वरूप होने वाली अनवस्था होती है तथा ब्रह्म के अज्ञान पक्ष में—स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म का, अज्ञान का साक्षी होना और उससे संबद्ध जगत् की रचना करना असंभव है। यदि कहें कि—अज्ञान से (ब्रह्म का) प्रकाश तिरोहित हो जाता है; प्रकाश निवृत्ति करना ही तो, तिरोधान का कार्य है, प्रकाश ही परब्रह्म का स्वरूप है, प्रकाश का तिरोधान मानने का अर्थ होता है, ब्रह्म का स्वरूपनाश; ऐसे ही हजारों दोष उपस्थित होंगे, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। इसलिए ब्रह्म की जगत् कारणता असंगत है।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—सिद्धान्तः

उक्त संशय पर—सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

अधिकन्तु भेद निर्देशात् ।२।१।२२।।—

तु शब्दः पक्षंव्यावर्त्तयति, आध्यात्मिकादिदुःखयोगार्हात्प्रत्यगात्मनः अधिकं अर्थान्तरभूतं ब्रह्म। कुतः भेदनिर्देशात्—प्रत्यगात्मनो हि भेदेन निर्दिश्यते परं ब्रह्म "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति। "स कारणं करणाधिपाधिपः "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ः "अस्मान्मायीसृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्योमायया सन्निरुद्धः "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेशः "नित्यो नित्यानांचेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्" "योऽव्यक्तमंतरे संचरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद योऽक्षरमंतरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एषसर्वभूतांतरात्माऽपहृतपाप्मादिव्योदेवएकोनारयणः "इत्यादिभिः।

सूत्रस्थ तु शब्द उपर्युक्त पक्ष का निराकरण करता है, आध्यात्मिक आदि दुःखों के योग्य जीव की अपेक्षा, ब्रह्म श्रेष्ठ होने से, भिन्न है, ऐसा श्रुतियों से ज्ञात होता है। ब्रह्म और जीव की भिन्नता, निम्नांकित श्रुतियों से स्पष्ट होती है "जो आत्मा में स्थित होकर भी उससे भिन्न हैं, आत्मा जिन्हें नहीं जानता, जो आत्मा के शरीरी हैं और अन्तर्यामी होकर आत्मा का संयमन करते हैं, वे आत्मान्तर्यामी अमृत स्वरूप हैं।" जीव अपने से पृथक् परमात्मा का चिंतन, प्रेरक रूप से करके उनकी प्रीति प्राप्त करके अमृतत्व प्राप्त करता है।" वह इन्द्रियों के कारण जीव के भी, स्वामी हैं" उन दोनों में एक फल का आस्वाद करता है, दूसरा केवल देखता मात्र है "वे दोनों अज, अज्ञ—प्राज्ञ, ईश्वर–अनीश्वर हैं" प्राज्ञ परमात्मा से मिलकर "प्राज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित होकर" मायी ब्रह्म, माया के सहयोग से इस जगत की सृष्टि करते हैं, दूसरा जीव, इस जगत में माया से बंधा रहता है "वे परमात्मा, प्रधान प्रकृति और क्षेत्रज्ञ जीवों के, स्वामी और गुणेश हैं" "जो नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, एक होकर अनेक कार्यों का संचालन करते हैं" जो अव्यक्त अक्षर में संचरित हैं, अक्षर जिनका शरीर है, वह उन्हें नहीं जानता। जो मृत्यु में संचरित है, मृत्यु जिनका शरीर है, मृत्यु उन्हें नहीं जानता, ऐसे सर्वान्तर्यामी, निष्पाप, दिव्य देव, एक नारायण ही हैं" इत्यादि।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः।२।१।२३॥

अश्मकाष्ठलोष्ठतृणादीनामत्यंतहेयानां सततविकारास्पदानामचिदविशेषाणां निरवद्यनिर्विकारनिखिलहेय प्रत्यनीककल्याणैकतानस्वेतर समस्त वस्तुविलक्षणानन्त ज्ञानानंदैक स्वरुपनानाविधानन्तमहाविभूति ब्रह्म स्वरूपैक्यं यथा नोपपद्यते, तथा चेतनस्याप्यनन्तदुःखयोगार्हस्य द्यतोतकल्पस्य अपहतपाप्मा "इत्यादि वाक्यावगत सकलहेय प्रत्यनीक अनवधिकातिशयासंख्येय कल्याण गुणाकर ब्रह्म भावानुपपत्तिः।

जैसे कि–पत्थर, लकड़ी, मिट्टी और तृण आदि अत्यंत तुच्छ, सदा विकारशील अचेतन पदार्थों से, विशिष्ट, निर्दोष, निर्विकार समस्त वस्तुओं

से विलक्षण, कल्याण तत्पर, अनंतज्ञानानंदमय अनंत महाविभूतियों से परिपूर्ण, पर ब्रह्म का ऐक्य कभी संभव नहीं हैं; वैसे ही—अनंत दुःख भोगने वाले, जुगनू से टिमटिमाते चेतन (जीव) से—"अपहतपाप्मा" इत्यादि विशेषताओं वाले, तुच्छ पदार्थों से विपरीत, निरवधि असंख्य कल्याणमय गुणों के आकर परब्रह्म परमात्मा की, कभी एकता संभव नहीं है।

सामानाधिकरण्यनिर्देशः "यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतेर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वाद् ब्रह्मणो जीव शरीरतया तदात्मत्वेनावस्थितेर्जीवप्रकार ब्रह्म प्रतिपादन परश्चैतदविरोधी, प्रत्युतैतस्यार्थस्योपपादकश्चेति "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यादिभिरसकृदुपपादितम्।

"आत्मा जिनका शरीर है" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि—जीव ब्रह्म का शरीर है, शरीरी होने के कारण ब्रह्म जीव में निवास करते हैं। इस सामान्य वर्णन से जीव ब्रह्म की अभिन्नता निश्चित होती है। इससे किसी भी प्रकार की शंका का स्थान नहीं रह जाता, अपितु वक्तव्य की पुष्टि होती है। "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यादि सूत्रों में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

अतः सर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद् वस्तु शरीरमिति सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीरं ब्रह्मकारणं, तदेव ब्रह्म स्थूल चिदचिद् वस्तुशरीरम् जगदाख्यं कार्यमिति जगद्ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्योपपत्तिः, जगतो ब्रह्मकार्यत्वम्, ब्रह्मणोऽनन्यत्वम्, अचिद्वस्तुनो जीवस्य च ब्रह्मणश्च परिणामित्व दुःखित्वकल्याणगुणाकरत्व स्वभावासंकरः सर्वश्रुत्यविरोधश्च भवति।

इससे ज्ञात होता है कि—जड़चेतन वस्तु शरीरी ब्रह्म ही विविध अवस्थाओं में स्थित हैं। सूक्ष्म जड़चेतन शरीरी ब्रह्म कारण स्वरूप हैं तथा वे ही स्थूलजड़चेतन शरीरी होकर जगत नाम से, कार्य रूप होते हैं. इस प्रकार जगत और ब्रह्म की परिणामता, दुःखपूर्णता, कल्याण गुणाकरता आदि परस्पर विरोधी गुण दोषों का, जो कि शास्त्रों में वर्णित है, सामंजस्य हो जाता है।

"सदेव सोम्येदमेकमेवासीत्" इत्यविभागावस्थायां अपि अचिद् युक्त जीवस्य ब्रह्मशरीरतया सूक्ष्मरूपेणावस्थानं अवश्याभ्युपगंतव्यम् 'वैषम्यनैधृण्ये न सापेक्षत्वात्" न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च "इति सूत्र द्वयोदितत्वात्तदानीमपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य अविभागस्तु नामरूपविभागाभावादुपपद्यते। अतो ब्रह्मकारणत्वं संभवत्येव।

"हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत एकमात्र सत् ही था" इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि–अव्यक्त प्रलयावस्था में भी ब्रह्म का शरीर स्थानीय अचित युक्त जीव, सूक्ष्म रुप से उसमें स्थित रहता है "वैषम्यनैधृण्ये" न कर्माविभागादिति" इत्यादि दो सूत्रों में, अव्यक्त अवस्था में, जीव की सूक्ष्मरुप से स्थिति बतलाई गई है। इस प्रकार के नामरुप के अभाव से, जीवात्मा परमात्मा की अभिन्नता सिद्ध हो जाती है, और ब्रह्म की कारणता भी निश्चित हो जाती है।

ये पुनरस्यैव जीवस्याविद्यावियुक्तावस्थामभिप्रेत्येमं भेदंवर्णयन्ति तेषामिदं सर्वमसंगतं स्यात्। न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं समस्तकारणत्वं, सर्वात्मत्वं, सर्वनियंतृत्वमित्यादीनिसंति। अनेनैवरूपेण हि आभिः श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते। तस्य सर्वस्याविद्यापरिकल्पितत्वात्। न चाविद्या परिकल्पितस्याविद्यावस्थायां शुक्तिका रजतादिभेदवत् परस्परभेदोऽत्र सूत्रकारेण "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" इत्यादिषु प्रतिपाद्यते ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येति जिज्ञास्यतया प्रकान्तस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणस्य वेदांत वेद्यत्वं, तस्य च स्मृतिन्यायविरोध परिहारश्च क्रियते। "अपीतौ तद्वत प्रसंगादसमंजसम्" न तु दृष्टांत भावात्" इति सूत्रद्वयमेवदधिकरणसिद्धमनुवदति, तत्र हि विलक्षणयोः कार्यकारणभाव संभव एवाधिकरणार्थः। "असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्" इति च पूर्वाधिकरणस्थ मनु वदति।

जो लोग जीव की अविद्यारहित अवस्था को लक्ष्य करके, जीव ब्रह्म का भेद बतलाते हैं, उनके अनुसार उक्त सारी व्यवस्था असंगत हो जाती है। जीव की उस अविद्या रहित अवस्था में, कभी सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, समस्त कारणता, सर्वात्मकता, सर्वनियामकता आदि विशेषतायें नहीं हो सकतीं। जिस प्रकार का भेद ऊपर बतला चुके हैं, वही शास्त्रो का प्रतिपाद्य है। यह जगत मिथ्या है, यह परिकल्पना अविद्या जन्य है। अविद्या परिकल्पित शुक्ति रजत के भेद की तरह, जीव जगत और ब्रह्म का भेद "अधिकस्तु भेद निर्देशात्" सूत्र में स्वीकार्य हो, सो बात नहीं है, अपितु ब्रह्म की जिज्ञासा को कर्त्तब्य मानते हुए, जिज्ञास्य रुप से उपक्रांत जगत के कारण ब्रह्म को ही वेदांत वेद्य बतलाकर सूत्रकार उनसे संबद्ध स्मृति शास्त्रीय और युक्ति पूर्ण विरोधों का परिहार मात्र करते हैं। "अपीतौ तद्वत" एवं "न तु दृष्टांतभावात्" इन दो सूत्रों में इस अधिकरण का अनुवाद मात्र करते हैं। वहाँ पर भी दोनों विलक्षण वस्तुओं का कार्यकारणभाव से प्रतिपादन करना ही अधिकरण का उद्देश्य है। "असदिति चेत्" इत्यादि सूत्र भी, पूर्व अधिकरण के प्रतिपाद्य विषय का अनुवादक मात्र है।

८ उपसंहारदर्शनाधिकरण:—

उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्द् हि ।२।१।२४॥

परस्य ब्रह्मण: सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य स्थूलसूक्ष्मावस्थ सर्वचेतनाचेतनवस्तु शरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वात्मत्वं सकलेतर बिलक्षणत्वं चाविरुद्धमिति स्थापितम्। इदानीं सत्यसंकल्पस्य परस्य ब्रह्मण: संकल्पमात्रेणविचित्र जगत् सृष्टि योगो न विरुद्ध इति स्थाप्यते।

अब तक सर्वज्ञ सत्य संकल्प, स्थूल सूक्ष्म अवस्था वाले, समस्त जड़ चेतन शरीर वाले, समस्त पदार्थो से विशिष्ट सर्वात्मा, अन्य सभी से विलक्षण, अविरुद्ध परब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया। अब सर्वज्ञ, सत्य-संकल्प परब्रह्म की, संकल्पमात्र से विचित्र जगत की सृष्टि कार्यता भी विरुद्ध नहीं है, इस मत की स्थापना करते हैं।

ननु च परिमित शक्तीनां कारककलापोपसंहार सापेक्षत्वदर्शनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणः कारककलापानुपसंहारेण जगद्कारणत्व विरोधः कथमाशंक्यते ?

प्रश्न होता है कि–परिमित शक्ति वाले लोगों का कार्य, अनेकों कारकों से अपेक्षित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म को भी, कार्य में अनेक कारकों का साहाय्य अपेक्षित होगा, उनके बिना उस सर्वशक्तिमान के लिए, जगत का कार्य करना असंभव है, ऐसी आशंका क्यों की जाती है?

उच्यते—लोके तत्कार्य जननशक्तियुक्तस्यापि तत्तदुपकरणापेक्षत्व दर्शनात्— सर्वशक्ति युक्तस्य परस्य ब्रह्मणोऽपि तत्तदुपकरणविरहिणः स्रष्ट्रत्वंनोपपद्यत इति कस्यचिन्मदधियः शंका जायत इति सा निराक्रियते घटपटादिकारणभूतानां कुलालकुविन्दादीनां तज्जननसामर्थ्ये सत्यपि कानिचिदुपकरणान्युपसंहृत्यैव जनयितृत्वं दृश्यते। तज्जननाशक्ताः कारककलापोपसंहारेऽपि जनयितुं न शक्नुवन्ति, शक्ताः पुनः कारक कलापोषसंहारे जनयंतीत्येतावानेव विशेषः। ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वं तदुपकरणानामुपसंहारे नोपपद्यते। प्राक्सृष्टेश्च असहायत्वं "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" एको ह्वैनारायण आसीत्"इत्यादिषु प्रतीयते । अतः स्रष्ट्रत्वं नोपपद्यत इत्येवंप्राप्तं, तदिदमाशंकते उपसंहार दर्शनान्नेति चेत् इति ।

उक्त शंका पर कहते हैं कि–लोक में विशेष विशेष कार्य शक्ति होते हुए भी, उन उन कार्यो से संबद्ध उपकरणों की अपेक्षा देखी जाती है, वैसे ही सर्वशक्तिमान परब्रह्म, सृष्टि संबंधी उपकरणों के बिना सृष्टि करने में असमर्थ हैं, ऐसी किसी मंदबुद्धि को ही आशंका होती है। उनका कथन है कि–घट पट आदि कार्यों के कर्त्ता कुम्हार और जुलाहा आदि में उनके बनाने की सामर्थ्य के होते हुए भी, कार्य की पूर्ति के लिये कुछ उपकरणों की आवश्यकता होती है जो इन कार्यो को नहीं जानते, उनके

समक्ष यदि सारे साधन एकत्र भी हो तो भी उनमें इन कार्यों को करने की सामर्थ्य नहीं हैं' वे नहीं कर सकते। जो कर सकते हैं वे साधनों के एकत्र होने मात्र से कार्य करते हैं, यही उनकी विशेषता है। ब्रह्म सर्वशक्ति और सर्वकार्य कुशल होते हुए भी साधनों के अभाव में सृष्टि नहीं कर सकते। सृष्टि के पूर्व उनकी असमर्थता—"हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह सारा जगत सत् ही था" एकमात्र नारायण ही थे "इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होती है। इसलिए उनसे सृष्टि होना असंभव है, यही बात "उपसंहार दर्शनान्नेति चेत्" में कही गई है।

सिद्धान्तः—परिहरति—न क्षीरवद् हि इति। न सर्वेषां कार्यजननशक्तानामुपसंहारसापेक्षत्वमस्ति, यथाक्षीरजलादेर्दधिहिमजननशक्तस्य तज्जनने, एवं ब्रह्मणोऽपि स्वयमेव सर्वजननशक्तेः सर्वस्य जनयितुत्वमुपपद्यते। हीति प्रसिद्धवन्निर्देशश्चोद्यस्य मंदताख्यापनाय। क्षीरादिष्वातंचनाद्यपेक्षा न दध्यादिभावाय, अपिशैघ्रयार्थं रस विशेषार्थं वा।

उक्त शंका के परिहार में सूत्रकार सिद्धांत रूप से "क्षीरवद् हि" कहते हैं—वे कहते हैं कि—सर्व कार्य समर्थ परमात्मा को साधन संग्रहों की अपेक्षा नहीं होती। जैसे कि—दही और बर्फ आदि के कारण दूध और जल को, उक्त कार्यों के रुप में परिणत होने में, किन्हीं साधनों की अपेक्षा नहीं होती वैसे ही—परमात्मा में, जगत रुप से परिणत होने की पूर्ण सामर्थ्य है, उनसे सृष्टि संभव है। उक्त सिद्धांत की प्रसिद्धि और आशंका की हीनता का द्योतक सूत्रस्थ "हि शब्द है। दूध को जमाने के लिए जो आतंचन (फिटकरी आदि दामन) का प्रयोग किया जाता है वह, शीघ्रता या स्वाद विशेष के लिए होता है, जमाने के लिए नहीं होता।

देवादिवदपि लोके।२।१।२५॥

यथा देवादयः स्वे स्वे लोके संकल्प मात्रेण स्वापेक्षितानि सृजंति, तथाऽसौ पुरुषोत्तमः कृत्स्नं जगत् संकल्प मात्रेण सृजति। देवादीनां वेदावगतशक्तीनां दृष्टांततयोपादानम्, ब्रह्मणो वेदावगतशक्तेः सुखग्रहणायेति प्रतिपत्तव्यम्।

जैसे कि–देवगण, अपने अपने लोकों में अपनी अपेक्षित वस्तुओं की संकल्पमात्र से सृष्टि कर लेते हैं वैसे ही यह पुरुषोत्तम भी संपूर्ण जगत की सृष्टि संकल्पमात्र से करते हैं देवों की ऐसी शक्ति महिमा वेदों में प्रख्यात है, इसका दृष्टान्त इसलिए प्रस्तुत किया गया कि–परब्रह्म की वेदोक्त महिमा को सुखपूर्वक जाना जा सके।

९ कृत्स्न प्रसक्त्याधिकरणः—

कृत्स्न प्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्द कोपो वा २।१।२६॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इदं वा अग्रेनैव किंचनासीत्" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिषु कारणावस्थायां निरस्त्र चिदचिद् विभागतया निरवयवं ब्रह्मैवासीदित्युक्तम्, तदविभागमेकं निरवयवमेव ब्रह्म "वहुस्याम् "इति संकल्प्य आकाशवाय्वादिविभागं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञ विभागं चाभवदिति चोक्तम्, एवं सति तदेव परं ब्रह्म कृत्स्नं कार्यत्वेनोपयुक्तमित्यभ्युपगंतव्यम्। अथ चिदंशः क्षेत्रज्ञविभागविभक्तः, अचिदंशश्चाकाशादि विभाग विभक्तः, इत्युच्यते, तदा "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् "ब्रह्मैकमेव–आत्मैक एव" इत्येवमादयः कारणभूतस्य ब्रह्मणो निरवयवत्ववादिनः शब्दाः कुप्येयुः बाधिता भवेयुः।

"हे सोम्य! सृष्टि के प्रथम, यह जगत् सत् स्वरूप ही था" "उस समय यह सब कुछ नहीं था" यह सब सृष्टि के पूर्व आत्मस्वरूप ही था "इत्यादि वाक्यों में, बतलाया गया है कि–सृष्टि से पूर्व जडचेतन का विभाग न होने से एकमात्र, निराकार कारणावस्थ ब्रह्म ही था। अविभक्त निराकार एक ब्रह्म ने "बहुत हो जाऊँ "ऐसा संकल्प करके, आकाश पृथ्वी आदि विभाग तथा ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त जीवों में अपने को व्यक्त किया वही पर ब्रह्म, संपूर्ण कार्यरूपों में परिणत हुए, यही मानना चाहिए। यदि यह मानें कि–ब्रह्म का चेतनांश जीवों के रूप में तथा अचेतानांश पृथ्वी आकाशादिरूपों में विभक्त हुआ, तब, कारण ब्रह्म की निराकारता के

प्रतिपादक "हे सौम्य! यह जगत सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय सत् था" "ब्रह्म निश्चित ही एक है "आत्मा निश्चित ही एक है "इत्यादि वाक्य, विरुद्ध समझे जावेगे।

यद्यपि सूक्ष्मचिदचिद् वस्तुशरीरं ब्रह्मकारणम्, स्थूलचिदचिद् वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यमित्यभ्युपगम्यते, तथापि शरीरि अंशस्यापि कार्यत्वाभ्युपगमादुक्त दोषो दुर्वारः। तस्य निरवयवस्य बहुभवनं च नोपपद्यते। कार्यत्वानुपयुक्तांशास्थितिश्च नोपपद्यते। तस्माद समंजसमिवाभाति। अतो ब्रह्म कारणत्वं नोपपद्यते।

यद्यपि सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीर ब्रह्म कारण तथा स्थूल चिदचिद् वस्तु शरीर ब्रह्म कार्य है, ऐसा मानते हैं, फिर भी शरीरी के अंश की कार्यता स्वीकारने में उक्त दोष उपस्थित हो ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि-निराकार का अनेक होना संभव नहीं है अंश की कार्यरूप में कोई उपयोगिता नहीं है, ऐसे एक अंश की अवस्थिति भी युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती। इसलिए ब्रह्म कारणवाद सिद्ध नहीं होता।
इत्याक्षिप्ते समाधत्ते—उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्।२।१।२७॥

तु शब्द उक्त दोषं व्यावर्तयति नैवमसामंजस्यम्, कुतः? श्रुतेः श्रुतिस्तावन्निरवयवत्वं ब्रह्मणस्ततो विचित्र सर्गं चाह। श्रौतेऽर्थे यथा श्रुति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः। ननु च श्रुतिरपि अग्निना सींचेदितिवत् परस्परान्वयायोग्यमर्थं प्रतिपादयितुं न समर्थाः, अतआह शब्दमूलत्वादिति शब्दैक प्रमाणकत्वेन सकलेतरवस्तुविसजातीयत्वादस्यार्थस्य विचित्रशक्ति योगो न विरुध्द्यत इति न सामान्यतो दृष्टं साधनं दूषणं वा अर्हति ब्रह्म।

सूत्रस्थ "तु" शब्द उक्तदोष के परिहार का बोधक है, आप जिस असमंजसता की शंका कर रहे हैं वह नहीं होगी, क्योंकि श्रुति, ब्रह्म की निराकारता, और विचित्र जगत् सृष्टि, दोनों का ही वर्णन करती हैं, श्रुति प्रतिपाद्य विषय को श्रुति द्वारा ही जाना जा सकता है। यदि कहें

कि-श्रुति "अग्नि से सेचन करो "इत्यादि की तरह अनहोनी बात का प्रतिपादन नहीं कर सकती; तो श्रुतियाँ—शब्द मूलक हैं, अर्थमूलक नहीं इसलिए ऐसा होना संभव है। ब्रह्म समस्त पदार्थों से, विजातीय है, यह बात एकमात्र, शब्द प्रमाणगम्य है, इसलिए श्रुतिकथित ब्रह्म का विचित्र शक्ति संबंध होना, कोई विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म कभी, सामान्यतोदृष्ट साधनं या दोषाक्षेप का विषय नहीं हो सकता (अर्थात् ब्रह्म को लौकिकदृष्टांन्तों के आधार पर आक्षिप्त नहीं किया जा सकता)

आत्मनि चैवं विचित्राश्चहि।२।१।२७॥

किं च—एवं वस्त्वंतर संबंधिनो धर्मस्य वस्त्वंतरे चारोपणे सति, अचेतने घटादौ दृष्टा धर्मास्तदविसजातीये चेतने नित्ये आत्मन्यपि प्रसज्यन्ते। तदप्रसक्तिश्च भावस्वभाववैचित्र्यादित्याह-विचित्राश्चहि इति-यथा-"अग्निजलादीनामन्योन्यविसजातीयाना मौष्ण्यादि शक्तयश्च विसजातीया दृश्यन्ते, तद्वल्लोकदृष्ट विसजातीये परे ब्रह्मणि तत्रतत्रादृष्टाः सहस्रशः शक्तयः सन्तीति न किंचिदनुपपन्नम्। यथोक्तं भगवता पराशरेण-"निर्गुणस्या प्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः, कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते" इति सामान्यदृष्टया परिचोद्य, "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा, यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः, भवंतितपतां श्रेष्ठ पावकस्ययथोष्णता" इति। श्रुतिश्च—"किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यद-ध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्, ब्रह्मवनं ब्रह्मस वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा प्रब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" इति। सामान्यतो दृष्टं चोद्यं सर्ववस्तुविलक्षणे परे ब्रह्मणि नावतरतीत्यर्थः।

संशय होता है कि—इस प्रकार तो, अन्य वस्तु संबंधी गुण का अन्य में अरोपण करने से, अचेतन घट आदि में, दृष्ट गुण, विसजातीय नित्य

चेतनआत्मा में भी आरोपित हो जावेंगे?, वस्तु में स्वभावगत वैलक्षण्य मानने से ऐसा नहीं होगा। परस्पर विसजातीय अग्नि जल आदि पदर्थों में, उष्णता शीतलता आदि विचित्र शक्तियाँ देखी जाती हैं, ऐसी जगत में दृश्यमान समस्त विचित्रतायें, परब्रह्म में एक साथ अविरुद्ध रूप से स्थित रहती है, जंसा कि–भगवान पराशर ने कहा भी है–"निर्गुण अपरिच्छिन्न, शुद्ध विमल स्वभाव परब्रह्म से सृष्टि कैसे संभव है? ' ऐसी, सामान्यतः शंका करके—"अग्नि में जैसे उष्णता है, वैसे ही वस्तु निष्ठ सृष्टि आदि शक्तियाँ परब्रह्म में स्वभावतः स्थित हैं। "ऐसी ही श्रुति भी है–"मैं जिज्ञासा करता हूँ कि–जिससे द्युलोक और पृथ्वी निसृत हुए, वह बन है अथवा कुछ और? वह वृक्ष है अथवा कुछ और? परमेश्वर जिसमें अधिष्ठान करके जगत का परिचालन करते हैं, वेवन और वृक्ष सभी ब्रह्म हैं, द्युलोक और पृथ्वी उन्ही से प्रादुर्भूत हुए। "इनका तात्पर्य यह है—कि—जागतिक सारे पदार्थ विलक्षण हैं, इसलिए उन विलक्षण परब्रह्म में, उनकी स्वाभाविक स्थिति है।

स्वपक्ष दोषाच्च ।२।१।२६॥

स्वपक्षे, प्रधानादिकारणवादे, लौकिकवस्तु विसजातीयत्वाभावेन प्रधानादेः लोकदृष्टा दोषास्तत्र भवेयुरिति सकलेतर विलक्षणं ब्रह्मैव कारणमभ्युपगन्तव्यम्। प्रधानं च निरवयवयम्, तस्य निरवयवस्य कथमिव महदादिविचित्र जगदारम्भ उपपद्यते।

जो लोग प्रधान आदि को जगत का कारण बतलाते है, उनके स्वयं अपने मत में भी, लौकिक पदार्थ विसजातीय न होने के कारण, लोक दृष्ट दोष, प्रधान आदि में लागू होते हैं। वे लोग प्रधान को निराकार मानते हैं; निराकार प्रधान से, महत आदि विचित्र जगत की सृष्टि कैसे संभव है?

सत्त्वंरजस्तम इति तस्यावयवा विद्यन्त इति चेत्, तत्रेदं विवेचनीयम्, किं सत्त्वरजस्तमसां समूहः प्रधानं, उत सत्त्वरजस्तमोभिरारब्धं प्रधानम्? अनन्तरे कल्पे, प्रधानं कारणमिति स्वाभ्युपगम– विरोधः, स्वाभ्युपेतसंख्याविरोधश्च, तेषामपि निरवयवानां

कार्यारम्भ विरोधश्च। समूहपक्षे च तेषां निरवयवत्वेन प्रदेशभेदमनपेक्ष्य संयुज्यमानानां न स्थूल द्रव्यारम्भकत्व सिद्धिः। परमाणुकारणवादेऽपि तथैव अणवो निरंशाः निष्प्रदेशाः, प्रदेशभेदमनपेक्ष्य परस्परं संयुज्यमाना अपि न स्थूलकार्यारम्भाय प्रभवेयुः।

यदि कहें कि—सत्त्व रज और तम, ये तीनों गुण ही उसके अवयव हैं, तो विचार करना होगा कि--सत्त्व रज तम का समूह, प्रधान है अथवा सत्त्व रज तम से आरब्ध वस्तु विशेष, प्रधान है? यदि इन तीनों गुणों का कार्य प्रधान को मानें तो "प्रधान ही एक मात्र कारण है "ऐसा तुम्हारा कथन कट जावेगा और तुम्हारी अभिमत संख्या में भी विरोध होगा तथा निरवयव उन गुणों से, कार्य वस्तु का संभव भी, विरुद्ध बात होगी। यदि तीनों गुणों के समूह को प्रधान मानें तो, निरवयव उनके कारण, किसी अंश का परस्पर संयुक्त होना संभव न होगा। इस कारण, स्थूल द्रव्यों का उत्पादन भी असिद्ध हो जावेगा।

परमाणुवाद में भी, वही बातें हैं, क्यों कि अणु, चिदंश और निष्प्रदेश (भाग रहित) हैं, इसलिए उनके परस्पर मिल जाने पर भी स्थूल रूप में, उनका कार्यान्वित होना असंभव है।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।२।१।३०

सकलेतरवस्तु विसजातीया परा देवता सर्वशक्त्युपेता च। तथैव परां देवतां दर्शयंति हि श्रुतयः" पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च" तथा— "अपहतपाप्मा विजरो-विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः "इति सकलेतर विसजातीयतां परस्या देवता याः प्रतिपाद्य "सत्यकामः सत्यसंकल्पः "इति सर्वशक्तियोगं प्रतिपादयंति। तथा—"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्व कर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्त्योऽवाक्य नारदः "इति च।

अन्यान्य समस्त पदार्थों से विलक्षण परा देवता सर्वशक्ति सम्पन्ना है, ऐसा ही उस परा के संबंध में श्रुत्रियों का कथन है–"इसकी परा शक्ति स्वाभाविकी-ज्ञान-बल-क्रिया आदि अनेक नामों की है"तथा"वह निष्पाप, अजर-अमर-विशोक-भूख प्यास रहित है "परा देवता की ऐसी विलक्षणता बतलाकर "सत्यकाम सत्यसंकल्प "इत्यादि सर्वशक्तियोग का प्रतिपादन किया गया है। तथा–"वह मनोमय अर्थात् मानस संकल्पवाला है, प्राण उसका शरीर तथा दीप्ति उसका स्वरूप है, वह सत्यकाम, सत्यसंकल्प, आकाश सदृश, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस वाक्य और आदर रहित, समस्त जगत में परिव्याप्त है। "इत्यादि।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।२।१।३१॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्म सकलेतर विलक्षणं सर्वशक्तिः, तथापि "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते "इति करणविरहिणस्तस्य न कार्यारम्भः संभवतीति चेत्–तत्रोत्तरं–"शब्दमूलत्वात्"। "विचित्राश्चहि "इत्युक्तं शब्दैक प्रमाण सकलेतरविलक्षणं तत्तत्करण विरहेणापि तत्तत्कार्यसमर्थमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जवनो ग्रहीताः "इत्येवमाद्या।

यद्यपि ब्रह्म, एक अद्वितीय, अन्य पदार्थों से बिलक्षण सर्वशक्तिमान हैं, फिर भी "उनके देह इन्द्रियाँ नहीं हैं" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि–वह करण रहित हैं, इसलिए उनसे कार्यों का होना संभव नहीं है। इस कथन का उत्तर "शब्दभूलत्वात् विचित्राश्च हि "इत्यादि के प्रसंग में दे चुके हैं। शब्दैक प्रमाणगम्य, सबसे विलक्षण, करणों से रहित भी वह, सब कार्यों को करने में समर्थ हैं। ऐसी श्रुति भी है–"नेत्ररहित देखते हैं, कानरहित सुनते हैं, बिना हाथ पैर के दौड़कर पकड़ते हैं "इत्यादि।

१० प्रयोजनवत्त्वाधिकरणः—

न प्रयोजवत्त्वात् ।२।१।३२॥

यद्यपीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एव सन् सकलेतर विलक्षणत्वेन सर्वार्थशक्तियुक्तः स्वयमेवविचित्रं जगत् स्रष्टुं शक्नोति, तथापीश्वर

कारणत्वं न संभवति। प्रयोजनवत्त्वाद् विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावात्। बुद्धि पूर्वकारिणामारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनं स्वार्थः परार्थो वा। न हि परस्य ब्रह्मणः स्वभावत एवावाप्तसमस्त-कामस्य जगत् सर्गेण किंचन प्रयोजनमनवाप्तमवाप्यते। नापि परार्थः, अवाप्तकामस्य परार्थता हि परानुग्रहेण भवति, न चेदृशगर्भजन्म-जरामरण नरकादि नानाविधानंतदुःख बहुलं जगत् करुणया सृजति, प्रत्युत सुखैकतानमेव जनयेज्जगत् करुणया सृजन्। अतः प्रयोजनाभावात् ब्रह्मणः कारणत्वं नोपपद्यत इति।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व एकमात्र ईश्वर ही थे, सबसे विलक्षण होने से, सर्वशक्तियुक्त, वह स्वयम् ही जगत की सृष्टि करने में समर्थ भी हैं, फिर भी—उनकी कारणता संभव नहीं है, क्यों कि—विशिष्ट सृष्टि, प्रयो—जनाधीन होती है, ईश्वर में उस प्रयोजन का अभाव है। जो विवेचना-पूर्वक कार्य करता है, कार्यारम्भ में उसके दो प्रकार के प्रयोजन होते हैं एक स्वार्थ, दूसरा परार्थ। परब्रह्म जब स्वभाव से ही अभीष्ट विषयों से तृप्त अर्थात् आप्त काम हैं, तब जगत् सृष्टि से उन्हे किस अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति का प्रयोजन हो सकता है। उनका प्रयोजन परार्थ भी नहीं हो सकता, क्यों कि वे आप्त काम हैं, उनके अनुग्रह मात्र से दूसरे की कार्य सिद्धि हो सकती है। वे करुणावान, गर्भ-जन्म-जरा-मरण-नरकादि युक्त अनेक प्रकार के दुखों से पूर्ण, जगत की सृष्टि नहीं कर सकते। यदि वे जगत को रचते भी तो अपनी करुणा से एकमात्र सुख पूर्ण रचना करते। इसलिए प्रयोजन के अभाव से ब्रह्म की कारणता सिद्ध नहीं होती।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—इस पर उत्तर देते हैं—

लोकवत्तु लीला कैवल्यम्।२।१।३३॥

अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसंकल्प विकार्यविविध-विचित्र चिदचिन्मिश्र जगत् सर्ग लीलैव केवला प्रयोजनम्, लोकवत्-यथा लोके सप्तद्वीपां मेदिनीमधितिष्ठतः संपूर्णशौर्यवीर्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य केवल लीलैक प्रयोजनाः कंदुकाद्यारम्भादृश्यंते, तथैव

परस्यापि ब्रह्मणः स्वसंकल्पमात्रावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लीलैकव प्रयोजनमिति निरवद्यम्।

जो समस्त काम्य वस्तुओं से तृप्त और परिपूर्ण हैं, उनके लिए जडचेतन युक्त विविध विचित्र जगत् सृष्टि, केवल लीलामात्र है। जैसे कि—लोक में, सप्तद्वीपों वाली पृथ्वी के अधिष्ठाता महाराज, संपूर्ण शौर्य वीर्य पराक्रमवाले होकर भी, केवल मनोविनोद के प्रयोजन से, कंदुक क्रीडा इत्यादि करते हैं, वैसे ही परब्रह्म भी, अपने संकल्प मात्र से जगत की सृष्टि-स्थिति-संहार आदि कार्य, लीला के प्रयोजन से ही करते हैं, जो कि निर्दोष है।

वैषम्यनैघृंण्ये न सापेक्षत्त्वात्तथाहि दर्शयति २।१।३४॥

यद्यपि परम पुरुषस्य सकलेतरच्चिदचिद् वस्तु विलक्षणस्याचिंत्यशक्तियोगात् प्राक्सृष्टेरेकस्य निरवयवस्यापि विचित्रचिदचिन्मिश्र जगत् सृष्टि संभाव्येत, तथापि देवतिर्यङ् मनुष्यस्थावरात्मनोत्कृष्ट-मध्यमापकृष्ट सृष्ट्या पक्षपातः प्रसज्येत्। अतिघोर दुःख योगकरणान्नैघृंण्यं चावर्जनीयमिति।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व, अद्वितीय निरवयव जडचेतन आदि समस्त पदार्थों से विलक्षण परमपुरुष परमेश्वर से, अपनी अव्यक्त शक्ति द्वारा जडचेतन युक्त विचित्र जगत की सृष्टि संभव हो सकती है, तथापि, उत्तम, मध्यम और अधम रूप देव, मनुष्य और पशु आदि की सृष्टि करना उनके लिए दोषावह है तथा घोर दुःख संयोगमयी सृष्टि से उनकी निर्दयता निश्चित होती है।

तत्रोत्तरं-न सापेक्षत्वादिति, न प्रसज्येयातां वैषम्यनैघृंण्ये, कुतः? सापेक्षत्वात्—सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञ कर्मसापेक्षत्वाद् विषमसृष्टेः देवादीनां क्षेत्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत्कर्म सापेक्षं दर्शयन्ति हि श्रुतिस्मृतयः "साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापोभवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणा "तथा भगवता

पराशरेणापि देवादिवैचित्र्यहेतुः, सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तिरेवेत्युक्तं "निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि, प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः। निमित्त मात्रं मुक्तवैवनाम्यद् किंचिदपेक्षते, नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्।" इति, स्वशक्त्या स्वकर्मणैव देवादि वस्तुताप्राप्तिरिति।

उक्त संशय का उत्तर देते हैं कि–वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों की संभावना नहीं होगी, क्योंकि—सृज्यमान देवता आदि जीवों के कर्मो के तारतम्यानुसार ही सृष्टिगत वैषम्य है, देव आदि जीवों का, देवादि शरीरों से जो संयोग होता है, वह अपने अपने कर्मो से सापेक्ष होता है ऐसा ही श्रुति स्मृतियों का मत है—"उत्तम कार्य करने वाला, उत्तम होता है, पाप कर्म करने वाला पापी होता है, पुण्य से पुण्य तथा पाप से पाप की प्राप्ति होती है।" सृज्मान जीवों के प्राक्तन कर्म ही देवादि विचित्र सृष्टि के कारण होते हैं, ऐसा भगवान पराशर भी कहते हैं–"उत्पाद्य जीवों की सृष्टि में, भगवान केवल निमित्त मात्र है, सृष्ट्य जीवों की कर्मशक्ति ही प्रधान कारण है, जीवों को निमित्त की अपेक्षा होती है, पर स्वकीय शक्तिबल से वे वस्तुत्त्व प्राप्त करते हैं, अर्थात् वस्तु रूप में प्रकाशित होते हैं।" अपनी शक्ति अर्थात् अपने कर्म से ही, देव आदि योनियाँ होती हैं, इसलिए परमात्मा दोषी नहीं हैं।

न कर्माविभागादितिचेन्नादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।२।१।३५।।

प्राक्सृष्टेः क्षेत्रज्ञाः न सन्ति, कुतः, ? अविभाग श्रवणात् "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्" इति, अतस्तदनीं तदंभावात्तत्कर्म न विद्यते, कथं तदपेक्षं सृष्टिवैषम्यमित्युच्यत इति चेत्—न अनादित्वात् क्षेत्रज्ञानां तत्कर्म प्रवाहाणां च। तदनादित्वेऽप्यविभाग उपपद्यते च, यतः तत् क्षेत्रज्ञवस्तु परित्यक्तनारूपं ब्रह्मशरीरतयाऽपि पृथगव्यपदेशानर्हम् अति सूक्ष्मम्। तथाऽनभ्युपगमे अकृताभ्यागमकृत विप्रणाश प्रसंगश्च।

सृष्टि से पूर्व जीव नहीं थे, ऐसा अविभाग बोधक "हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व सत् ही था" इस वाक्य से ज्ञात होता है। उस समय उनके न रहने से, उनके कर्म भी नहीं थे, तब यह कैसे कह सकते हैं—कि सृष्टि-विषमता जीवकर्म सापेक्ष है? ऐसा कथन असंगत है, जीव और जीवों के कर्म का प्रवाह अनंत है, उनके अनादि होते हुये भी, उनका अविभाग संभव है। वे क्षेत्रज्ञ, ब्रह्म के शरीर में नाम रूप विहीन होकर, ब्रह्म से अलग न रह सकने योग्य, अति सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेगे तो अकृताभ्यागम और कृतविनाश दोष उपस्थित होंगे (अर्थात् प्रकृति का प्रवाह यदि अनादि नहीं है तो, जीवों का फलभोग आकस्मिक होने से अकृताभ्यागम दोष होगा। तथा पूर्व कल्प में किये हुये कर्मों का फल यदि बिना भोगे ही नाश होगा तो कृतनाश दोष होगा। सृष्टि प्रवाह को अनादि मानना ही उपयुक्त है।

उपलभ्यते च तेषामनादित्वं "न जायते म्रियते वा विपश्चित" इति, सृष्टिप्रवाहानादित्वं च "सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादौ "तद्धेदं तर्हि अव्याकृत्मासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नाम रूप व्याकरणमात्र श्रवणात् क्षेत्रज्ञानां स्वरूपानादित्वं सिद्धम्। स्मृतावपि "प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यनादीउभावपि" इति। अतः सर्व विलक्षणत्वात् सर्वशक्तित्वात् लीलैकप्रयोजनत्वात्, क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्र सृष्टियोगात् ब्रह्मैव जगत् कारणम्।

उनकी अनादिता का वर्णन मिलता भी है—जीव का जन्म और मृत्यु नहीं होती" सृष्टि प्रवाह की अनादिता भी जैसे—"विधाता ने पूर्व कल्प के अनुसार सूर्य और चंद्र की सृष्टि की।" सृष्टि के पूर्व यह जगत अव्याकृत था, उसे ही नाम रूप से व्यक्त किया" इस वाक्य में केवल नाम रूप का वर्णन होने से, जीवों की स्वरूपतः अनादिता सिद्ध होती है। "प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानो इस स्मृति वाक्य से भी अनादिता सिद्ध होती है। सब से विलक्षण और सर्व शक्ति संपन्न ब्रह्म एक मात्र लीला के प्रयोजन से, जीवों के कर्मानुसार विचित्र सृष्टि करते हैं, वे ही जगत के कारण हैं, यही मानना चाहिए।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।२।१।३६॥

प्रधान परमाण्वादीनां कारणत्वे यद् धर्मवैकल्यमुक्तं, वक्ष्यमाणं च तस्य सर्वस्य धर्मजातस्य कारणत्वोपपादिनो ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव जगत् कारणमिति स्थितम् ।

प्रधान और परमाणु को कारण बनाने में जो कारण धर्मों में असंगति होती है, उसे आगे बतलाया गया है । कारणता के उपपादक समस्त धर्म, ब्रह्म में ही उपपन्न होते हैं, इसलिए ब्रह्म ही जगत के कारण है यही निश्चित मत है ।

॥ द्वितीय अध्याय प्रथम पाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[द्वितीय पाद]

१ रचनानुपपत्त्याधिकरण।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च ।२।२।१॥

उक्तं जगज्जन्मादिकारणं परं ब्रह्मेति, तत्र परैरुद्भाविताश्च दोषाः परिहृताः । इदानीं स्वपक्ष रक्षणाय पर पक्षाः प्रतिक्षिप्यंते, इतरथा कस्यश्चिन्मंदधिय स्तेषां पक्षाणां युक्तयाभासमूलतामजानतः प्रामाणिकत्व शंकया वैदिक पक्षे किंचिद् श्रद्धा वैकल्यं जायेतापि, अतः परपक्ष प्रतिक्षेपायानन्तरः पादः प्रवर्त्तते । तत्र प्रथमं तावत् कापिलमतं निरस्यते । वैदिकानुमतसत्कार्यवादाद्यर्थ संग्रहेणैतस्य सत्यक्षनिक्षेप संभावनाभ्रम हेतुत्वातिरेकात् ।

अब तक जगत के जन्म आदि के कारण ब्रह्म का समर्थन किया गया तथा दूसरों द्वारा किए गये दोषों का परिहार किया गया । अपने अपने मत की रक्षा के लिये, दूसरों के दूषण बतलावेंगे, यदि परमत दोषों का उद्घाटन नहीं करेंगे तो मंद बुद्धिवाले, उनके तर्क पूर्ण कथनों के चक्र में पड़कर, वैदिक मत के प्रति अश्रद्धालु हो जावेंगे । इसलिये विरुद्ध मतों के खंडन से इस पाद को प्रारम्भ करते है । सर्व प्रथम कापिल मत का ही खंडन करेगे, क्योंकि–ये लोग वैदिक समस्त सत्कार्यवाद को मानते हैं, जिससे वैदिक से प्रतीत होते हैं, इसलिये सर्वाधिक भ्रमोत्पादक हैं ।

"ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादिभिर्वैदिकवाक्यानामतत्परत्वमात्रमुक्तम्, अत्रैव तत्पक्ष स्वरूप प्रतिक्षेपः क्रियत इति न पौनरुक्तयाशंमा । एषा सांख्यानां दर्शनस्थितिः, "मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः" इति

तत्त्वसंग्रहः । मूलप्रकृतिर्नाम सुखदुःखमोहात्मकानि लाघव प्रकाश चलनोपष्टंभनगौरवावरणकार्याण्यत्यन्तातीद्रियाणी कार्यैकनिरूपण विवेकान्यन्यूनातिरेकाणि समतामुपेतानि सत्त्वरजस्तमांसिद्रव्याणि। सा च सत्त्वरजस्तमसां साम्यरूपा प्रकृतिरेका स्वयमचेतनाऽनेक चेतन भोगापवर्गार्थी नित्या सर्वगता सततविक्रिया न कस्यचिद् विकृतिः, अपितु परमकारणमेव, महदाद्यास्तद् विकृतयो अन्येषां च प्रकृतयः सप्त, महानहंकारः शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रम्, गंधतन्मात्रम् इति। तत्राहंकारस्त्रिधा—वैकारिकस्तैजसोभूतादिश्च क्रमात् सात्विकोराजसस्तामसश्च, तत्र वैकारिकः सात्त्विकः, इन्द्रियादि, भूतादिस्तामसो महाभूतहेतुभूततन्मात्र हेतुः, तैजसो राजसस्तूभयोऽनुग्राहकः, आकाशादीनि पंचमहाभूतानि, श्रोत्रादीनि पंचज्ञानेंद्रियाणि, वागादीनि पंच कर्मेन्द्रियाणि, मन इति केवल विकाराः षोडश, पुरुषस्तु निष्परिणामत्वेन न कस्यचित् प्रकृतिः, न कस्यचिद् विकृतिः, तत एव निर्धर्मकश्चैतन्यमात्रवपुर्नित्यो निष्क्रियः सर्गगतः प्रतिशरीरं भिन्नश्च, निर्विकारत्वान्निष्क्रियत्वाच्चतस्य कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वं चन संभवति एवंभूतेऽपि तत्त्वे मूढाः प्रकृतिपुरुष सन्निधि मात्रेण पुरुषस्य चैतन्यं प्रकृतावध्यस्य प्रकृतेश्च कर्तृत्वं स्फटिकमणाविव जवाकुसुमस्यारूणिमानं पुरूषेऽध्यस्य "अहंकर्त्ता भोक्ता" इति मन्यन्ते। एवमज्ञानाद्भोगः तत्त्वज्ञानच्चापवर्गः । तदेतत्प्रत्यक्षानुमानागमैः साधयंति । तत्र प्रत्यक्ष सिद्धेषु पदार्थेषु नातीव विवादपदमस्ति। आगमोऽपि कपिलादि सर्वज्ञज्ञानमूल इति सोऽपि प्रथमे कांडे प्रमाणलक्षणे निरस्त प्रायः। यदिदं प्रधानमेव जगत्कारण। मित्यनुमानं, तन्निरसनेन तन्मतं सर्वं निरस्तं भवतीति तदेव निरस्यते।

वैदिक वाक्यों का तात्पर्य, प्रकृति कारणवाद का सम्मोदन करना नहीं है, यह बात "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि में बतला चुके हैं। सही रूप से कापिलमत का खंडन अब करते हैं, इसलिए पुनरूक्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिये ! सांख्य दर्शन का मत हैं कि—"मूल प्रकृति अविकृत है, महत् आदि सात पदार्थ प्रकृति और विकृत दोनों हैं, किन्तु पुरुष न प्रकृत है न विकृत, वह तो एकमात्र अनुभव स्वरूप है।" सुख-दुःख-मोहात्मक—लघुता—प्रकाश—स्पन्दन—धारण—गुरूता और आवरण इत्यादि धर्म युक्त अतिशय अतीन्द्रिय तत्त्व विशेष ही, मूल प्रकृति है। इसका पार्थक्य एकमात्र कार्यगम्य है। न्यूनाधिक भाव शून्य, साम्य अवस्था को प्राप्त सत्त्वरज और तम द्रव्य ही प्रकृति है, जो कि नित्य सर्वव्यापी, निरन्तर विकारशील स्वतः अचेतन होते हुये भी, अनेक चेतनो (जीवों) के भोग और अपवर्ग का साधन करती है, यही उसका मुख्य प्रयोजन है। वह किसी का कार्य नहीं है, अपितु चरम कारण स्वरूप है। महत्—अहंकार—शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा—रूप तन्मात्रा—रसतन्मात्रा—गन्धतन्मात्रा इत्यादि सात, मूल प्रकृति के कार्य हैं, तथा अधस्तन तत्त्व समूहों के कारण भी हैं। अहंकार तीन प्रकार का है, वैकारिक, तैजस और भूतादि, ये क्रमशः सात्विक राजसिक और तामसिक है। वैकारिक सात्विक अहंकार इन्द्रियों का कारण है। भूतादि तामस अहंकार, पृथ्वी आदि महाभूत और पंच तन्मात्राओं का कारण हैं। तैजसराजस अहंकार, दोनों (सात्विक तामस) संस्कारों का अनुग्राहक (उपकारक) है। आकाश आदि पंचमहाभूत, श्रोत्र आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय, वाक् आदि पंच कर्मेन्द्रिय और ये सोलह केवल विकारमात्र है। पुरूष परिणाम हीन है, अतः न किसी की विकृति है न प्रकृति। इसी से पुरूष निर्गुण, एकमात्र चैतन्यस्वरूप नित्य, निष्क्रिय, सर्वव्यापक, प्रति शरीर में भिन्न भिन्न है। निर्विकार और निष्क्रिय होने से, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व संभव नहीं है। इस प्रकार के तत्त्व को जानते हुये भी, मूढ लोग, प्रकृति और पुरूष के सानिध्य होने से, पुरूष के चैतन्य को, प्रकृति से आरोपित करके स्फटिक मणि में प्रतिबींवित जवाकुसुम की लालिमा की भांति प्रकृति के कर्त्तृत्व को पुरूष में आरोपित करके "मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूँ" ऐसा मानते हैं। इस प्रकार के अज्ञान से भोग तथा तत्त्वज्ञान से अपवर्ग होता है। प्रत्यक्ष- अनुमान और आगम प्रमाणों से, उक्त सिद्धांत स्थिर करते हैं। प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थों में कोई

विवाद नहीं है आगम प्रमाण, कपिल ऐसे सर्वज्ञ पुरुषों के ज्ञान से उद्-बुद्ध है प्रथम अध्याय में उनके आगम प्रमाण को प्रायः खंडित किया जा चुका है। प्रधान की, जगत कारणता के विषय में जो अनुमान करते हैं, उसका निराकरण करने से उनका सारा मत ही निराकृत हो जायगा, इसलिये अब उसी का निराकरण करते हैं।

ते चैवं वर्णयन्ति—कृत्स्नस्य जगत् एकमूलत्वमवश्याभ्युपगमनीयम्, अनेकेभ्यः कार्योत्पत्यभ्युपगमे कारणानवस्थानात्। तंतुप्रभृतयो हि अवयवाः स्वांशभूतैः षड्भिः पार्श्वैः परस्परं संयुज्यमाना अवयविनमुत्पादयंति, ते च तंत्वादयः स्वावयवैस्तथाभूतैरुत्पाद्यंते, ते च तथाभूतैः स्वावयवैरिति परमाणुभिरपिस्वकीयैःषड्भिःपार्श्वैः संयुज्यमानैरेव स्वाकार्योत्पादनमभ्युपेतव्यम्। अन्यथा प्रथिमानुपपत्तेः। परमाणवो अप्यंशित्वेन स्वांशैस्तथैवोत्पाद्यंते, ते च स्वांशैरिति न क्वचिद् कारणव्यवस्थितिः अतः कारणव्यवस्था सिध्यर्थमेकद्रव्यं विविधविचित्रपरिणामशक्तियुक्तं स्वयमप्रच्युत स्वरूपमेव महदाद्यनंता-वस्थाश्रयः कारणमाश्रयणीयम्। तच्चैकं कारणं गुणत्रयसाम्यरूपं प्रधानमिति तत्कल्पने हेतूनुपन्यस्यंति– 'भेदानां परिणामात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च। कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य कारणमस्त्यव्यक्तम्" इति।

वे लोग वर्णन करते हैं कि—किसी एक पदार्थ को जगत का मूल कारण अवश्य मानना पड़ेगा, अनेक कारणों को मानने से, कारणगत अनवस्था होगी। देखा जाता है कि—तंतु आदि अवयव, अपने अंशभूत छः पार्श्वों से संयुक्त होकर अवयवी (वस्त्र) का उत्पादन करते हैं, वे तंतु आदि अवयव, पूर्वानुरूप स्वीय अवयवों से समुत्पादित होते हैं, वैसे ही वे अवयव अपने अवयवों से समुत्पादित होते हैं। ऐसी ही परमाणु समूह भी अपने छः पार्श्वों से संयुक्त होकर, अपने कार्य पदार्थ का समुत्पादन करते हैं,इसे स्वीकारना होगा। अन्यथा पदार्थ की स्थूलता,हो नहीं सकती। अंशी सावयव परमाणु भी, स्वकीय अंशो से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार कारण

कल्पना की कभी समाप्ति नहीं हो सकती। इसलिए कारण व्यवस्था की सिद्धि के लिए, अनेक विचित्रताओं वाले, परिणाम शक्ति संपन्न, स्वतः अच्युतस्वभाव, महत्तत्व आदि अनंत अवस्थाओं के आश्रयीभूत किसी एक कारण को स्वीकारना चाहिए। सत्वादि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही उक्त प्रकार का कारण है जो कि प्रधान है। ऐसे काल्पनिक प्रधान की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"भेदों के परिणाम से, कार्य और कारण के समन्वय से, शक्त्यानुसार प्रवृत्ति से, कार्य और कारण के विभाग से, कारण कार्य के तादात्म्य संबंध से, जिसकी विशेषता ज्ञात होती है, ऐसा अव्यक्त ही कारण है।

अयमर्थः विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम् विचित्रसन्निवेश तनुभुवनादि कृत्स्नंजगत्, तच्च जगद् विचित्र सन्निवेशत्वेन कार्यंभूतं तत्सरूपाव्यक्त कारणम्, कुतः ? कार्यत्वात्; कार्यस्य हि सर्वस्य तत्सरूपात् कारणविशेषात् विभागस्तस्मिन्नेवाविभागश्च दृश्यते। यथा घट मकुटादेः कार्यस्य तत् सरूपान्मृत्सुवर्णादेःकारणाद् विभागस्तस्मिन्नेव चा विभागः अतो विश्वरूपस्य जगतः तत्सरूपात प्रधानादुत्पत्तिस्तास्मिन्नेवलयश्चेति प्रधानकारणकमेव जगत्। गुणत्रय साम्यरूपं प्रधानमेव जगत्सरूपं कारणं सत्त्वरजस्तमोमयसुखदुःखमोहात्मकत्त्वाज्जगतः। यथा मृदात्मनाघटस्य मृद् द्रव्यमेव कारणम् तदेव हि तदुत्पत्याख्यप्रवृत्तिशक्तिमत्, तथा दर्शनात्। अव्यक्तस्य गुणसाम्य रूपस्य देशतः कालतश्चापरिमितस्यैव कारणत्वं भेदानां महदहंकारतन्मात्रादीनां परिमितत्वादवगम्यते। महदादीनि च घटादिवत्परिमितानि कृत्स्न जगदुत्पत्तौ न प्रभवन्ति, अतस्त्रिगुणं जगद् गुणत्रयसाम्यरूपप्रधानै ककारणमिति निश्चीयते।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि—विश्वरूप ही वैश्वरूप्य (अर्थात्—देह भुवन आदि संपूर्ण जगत्) है। विचित्र सन्निवेश समन्वित कार्यरूप यह जगत, तदनुरुप अव्यक्त कारण से उद्भूत है। सारे होने वाले पदार्थ,

अपने ही समान स्वभाव वाले विशिष्ट कारण से विभक्त और तिरोभूत होते देखे जाते हैं। जैसे कि-घट मुकुट आदि, अपने समान रूप वाले मिट्टी और सुवर्ण आदि से विभक्त और लीन होते हैं। वैसे ही विचित्र सन्निवेश विशिष्ट जगत, प्रधान से ही, उत्पन्न और लीन होता है। इसलिए प्रधान को ही, जगत का उपादान कारण स्वीकारना चाहिए। यह जगत सत्व-रजतमोगुणमयसुखदुःखमोहात्मक है, इसलिए तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान ही, जगत् के स्वभावानुरुप कारण है। जैसे कि-मृत्तिकात्मक घट की कारण मृत्तिका ही हो सकती है, मृत्तिका में उस घट के उपादान पाये जाते हैं। भेद समूह (महत्-अहंकार और पंचतन्मात्र) पदार्थ, परिमित (परिच्छिन्न) हैं, इससे ज्ञात होता है कि–देशकाल आदि से अपरिच्छिन्न गुणसाम्यरुप अव्यक्त ही, इन सब का कारण है। महत् आदि तत्व समूह, घट आदि पदार्थों की तरह, परिच्छिन्न हैं, इसलिए वे सब तो, जगत के उत्पादन में समर्थ हो नहीं सकते। तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप, प्रधान ही, त्रिगुणात्मक जगत् की एकमात्र कारण निश्चित होती है।

अत्रोच्यते–रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च अनुमीयत इत्यनुमात्रं, न भवदुक्तं प्रधानं विचित्रजगत् रचना समर्थं, अचेतनत्वे सति तत्स्वभावाविज्ञानधिष्ठितत्वात्, यदेवं तत्तथा, यथा रथप्रासादादिनिर्माणे केवल दार्वादिकम्। दार्वादेरचेतनस्य तज्ज्ञानधिष्ठितस्य कार्यारम्भानुपपत्तेः दर्शनात्, तज्ज्ञानाधिष्ठितस्य कार्यारम्भप्रवृत्तेर्दर्शनाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणमित्युक्तं भवति।

उक्त मत पर कथन यह है कि-रचना और तद् विषयक प्रवृत्ति की अनुपपत्ति और अनुमान से ऐसा निश्चित होता है कि–प्रधान कारण नहीं हो सकती। जिसकी अनुभूति की जाय वही अनुमान है, अनुमित प्रधान तत्व विचित्र जगत् की रचना करने में समर्थ नहीं है क्योंकि–वह स्वयं अचेतन है, उसके स्वभाव से भिन्न कोई दूसरा चेतन यदि उसका परिचालन नहीं करता तो, जैसी है वैसी ही सदा रहेगी जैसे कि-रथ प्रासाद आदि के निर्माण में केवल लकड़ी आदि ही समर्थ नहीं है, चेतन शिल्पी से अपरि-

चालित लकड़ी से कोई कार्य होता देखा नहीं जाता, अपितु उसके अधिष्ठान में ही कार्यारम्भ होता है। वैसे ही किसी एक प्राज्ञ से अधिष्ठित हुए बिना प्रधान भी जगत का कारण नहीं हो सकती।

चकारादन्वयस्यानैकान्त्यं समुच्चिनोति, नहि अन्वितं शौक्ल्यगोत्वादि कारणत्व व्याप्तं। न च वाच्यं माभूदन्वितानामपि शौक्ल्यादिधर्माणां कारणत्वं, द्रव्यस्य तु हेमादेः कार्येऽन्वितस्य कारणत्वव्याप्तिरस्त्येव सत्वादोन्यपि द्रव्याणि कार्येऽन्वितानि कारणत्व व्याप्तानि इति। यतः सत्वादयो द्रव्य धर्माः न तु द्रव्यस्वरूपम्, सत्त्वादयो हि पृथिव्यादिद्रव्यगतलघुत्व प्रकाशादि हेतुभूताः तत्स्वभाव विशेषा एव, न तु मृद्हिरण्यादिवत् द्रव्यतया कार्यान्विता उपलभ्यंते, गुणा इत्येव च सत्त्वादीनां प्रसिद्धिः।

सूत्रस्थ "च" के प्रयोग से, कार्यकारणानुवृत्ति की अनैकान्तिकता ज्ञात होती है। शुक्लता और गोत्व आदि धर्मों के अन्वित अर्थात् कार्य में अनुवृत्त होते हुये भी, कारणता धर्म से वह व्याप्त नहीं होता [अर्थात् यही कार्य का कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता] शुक्लता आदि से अन्वित होते हुये, कारण धर्म व्याप्त नहीं होता तो न सही, मुकुट आदि कार्यों से अन्वित सुवर्ण आदि में तो कारणता है, अतएव सत्त्व आदि गुण द्रव्य पदार्थ, जब कारण से अनुवृत्त हैं, तो उनमें कारणता व्याप्ति क्यों न होगी? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—सत्त्व आदि गुण धर्म ही है। स्वयं द्रव्य स्वरूप नहीं हैं। पृथिवी आदि पदार्थ गत लघुता और प्रकाश आदि के प्रवर्त्तक, सत्व आदि गुण, पृथ्वी आदि के, एक प्रकार से स्वभाव ही हैं, वह कभी मिट्टी और सुवर्ण की तरह द्रव्य रूप से किसी कार्य में अन्वित नहीं हो सकते। सत्त्व आदि तो गुण नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

यच्च कारणव्यवस्था सिद्धये जगतः एकमूलत्वमुक्तम्, तदपि सत्वादीनामनेकत्वान्नोपपद्यते। अत एव कारणव्यवस्था च न सिध्यति। साम्यावस्थाः सत्त्वादय एवहि प्रधानमिति त्वन्मतम्। अतः कारणबहुत्व। दनवस्थातदवस्थैव। न च तेषाम परिमितत्वेन

व्यवस्थासिद्धिः । अपरिमितत्वे हि त्रयाणामपि सर्वगतत्वेन न्यूनाधिकभावाभावाद वैषम्यासिद्धेः कार्यारम्भा संभवात् । कार्यारम्भायैव परिमितत्वमवश्याश्रयणीयम् ।

जो यह कहा कि—अनेक कारण मानने से अव्यवस्था होगी वह भी सत्त्व आदि गुणों के अनेक होने से असंगत बात है । इससे भी कारणव्यवस्था नहीं बनती । तुम्हारे मत से, साम्यावस्थापन्न सत्त्वादि ही "प्रधान" है तो गुणों की अनेकता होने से, कारण बाहुल्य सिद्ध होता है इस प्रकार अनवस्था दोष तुम्हारे ही गले पड़ता है । तुम जो गुणों को अपरिमित मानते हुए, व्यवस्था की रक्षा करने की चेष्टा करते हो, वह भी नहीं हो पाती, क्योंकि—उनमें न्यून अधिक भाव तो हो नहीं सकता और वैषम्यावस्था सिद्ध नहीं होती, बिना वैषम्यावस्था के कार्यारम्भ नहीं हो सकता, इसलिए कार्यारम्भ के लिए तुम्हें उनकी परिमितता अवश्य स्वीकारनी होगी ।

यत्र रथादिषु स्पष्टं चेतनाधिष्ठित्वं दृष्टम्, तद्व्यरिक्तं सर्वं पक्षीकृतमित्याह—

रथ आदि के निर्माण में चेतनाधिष्ठान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, उससे भिन्न और सब पदार्थ पक्षीकृत हैं, इस संशय पर कहते हैं—

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ।२।२।२॥

यदुक्तं प्रधानस्य प्राज्ञानधिष्ठितस्य विचित्रजगद्रचनानुपत्तिरिति, तन्न, यतः पयोऽम्बुवत्प्रवृत्तिरुपपद्यते । पयसस्तावददधि भावेन परिणममानस्यानन्यापेक्षस्याऽद्यपरिस्पन्द प्रभृति परिणाम परंपरा स्वत एवोपपद्यते, यथा च वारिदविमुक्तस्याम्बुन एकरसस्य नारिकेलतालचूतकपित्थ निम्बतिन्त्रिण्यादित्ररसरूपेण परिणाम प्रवृत्तिःस्वत एव दृश्यते तथा प्रधानस्यापि परिणामस्वभावस्यान्यानधिष्ठितस्यैव प्रतिसर्गावस्थायां सदृश परिणामेनावस्थितस्य सर्गावस्थायां गुण वैषम्यनिमित्ति विचित्र परिणाम उपपद्यते । यथोक्तं-"परिणा-

मतः सलिलवत् प्रतिगुणाश्रयविशेषात्" तदेवमव्यक्तमनन्यापेक्षं-प्रवर्त्तत इति चेत्-अत उत्तरं तत्रापि इति। यत् क्षीरजलादिदृष्टान्त-तया निर्दशितं तत्रापि प्राज्ञानधिष्ठाने प्रवृत्तिर्नोपपद्यते तदपि पूर्वत्र पक्षीकृतमित्यभिप्रायः। "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद हि" इत्यत्र दृष्टपरिकरान्तर रहितस्यापि स्वासाधारण परिणाम उपपद्यत, इत्येतावदुक्तम्, न प्राज्ञाधिष्टितत्त्वं पराकृतम् "योऽप्सुतिष्ठन्" इत्यादिश्रुतेः।

जो यह कहा कि-अभिज्ञ चेतन से अभिष्टित न होने से, प्रधान जगत की रचना करते में समर्थ नहीं है, यह असंगत बात है, दुग्ध और जल की तरह उसकी भी प्रवृत्ति हो सकती है। कारणान्तर निरपेक्ष, दधिरूप में परिणत, दुग्ध में जो, परिस्पन्दन आदि परिणाम परम्परा होती है वह स्वतः ही होती है। तथा मेघ से पतित जल जैसे एकरस होते हुए भी—नारियल, ताल, आम, कैथा, नीम, आदि विचित्र स्वादु रसों में स्वतः ही परिणत होता है, वैसे ही, परिणाम शील प्रधान, प्रलयावस्था में किसी अन्य से परिचालित न होकर, सदृश परिणाम विशिष्ट के रूप में स्थित रहकर, सृष्टिकाल में, सत्व आदि गुणों की विषमता से विचित्र आकारों में परिणत होती है। जैसा कि कहा भी गया है-"जल की तरह, गुणों में भी, निश्चित आश्रयों में, परिणाम भेद होता है, और उसी से कार्य वैचित्र्य होता है। "इससे निश्चित होता है कि-अव्यक्त अनन्यापेक्ष होकर, सृष्टि रूप में परिणत होती है। इस कथन का उत्तर-सूत्र में तत्रापि पद से दिया गया है अर्थात् दृष्टान्त रूप से जिन दुग्ध आदि का उदाहरण दिया गया है, उनमें भी प्राज्ञ के अधिष्ठान (चेतन के परिचालन) के बिना प्रवृत्ति संभव नहीं है। इस बात को, पूर्व सूत्रोक्त आपत्ति की पक्ष श्रेणी (विवादास्पद स्थल) में रक्खा गया है। पूर्वोक्त "उपसंहार दर्शनात्" इत्यादि सूत्र में, केवल यही कहा गया है कि—लौकिक सहायता शून्य पदार्थ भी, स्वकीय असाधारण शक्ति के आधार पर, विशेष विशेष कार्यों के आकार में परिणत होते हैं, प्राज्ञ अधिष्ठाता की वहाँ पर अपेक्षा नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता; "जो जल में अधिष्ठान करते हैं "इत्यादि श्रुति प्राज्ञ अधिष्ठान का समर्थन करती है।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् २।२।३॥

इतश्च सत्यसंकल्पेश्वराधिष्ठानापेक्षपरिणामित्वे सर्गव्यति-रेकेण प्रतिसर्गावस्थयाऽनवस्थित प्रसंगाच्च नप्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्, प्राज्ञाधिष्ठितत्वे तस्य सत्यसंकल्पत्वेन सर्गप्रतिसर्गविचित्र सृष्टिव्यवस्था सिद्धिः। न च वाच्यं प्राज्ञाधिष्ठितत्वेऽपि तस्यावाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्यानवधिकाधिकातिशयानंदस्य निरवद्यस्य निरंजनस्य सर्गप्रतिसर्गव्यवस्था हेत्वभावात् विषम सृष्टौ निर्दयत्व प्रसंगाच्च समानोऽयं दोष इति। परिपूर्णस्यापि लीलार्थं प्रवृत्ति संभवात्, सर्वज्ञस्य तस्य परिणामविशेषापन्न प्रकृति दर्शनरूप सर्ग प्रतिसर्ग विशेष हेतोः संभवात्, क्षेत्रज्ञ कर्मणामेव विषम सृष्टिव्यवस्थापकत्वाच्च।

सत्य संकल्प परमेश्वर की अधिष्ठातृता से रहित, प्रधान की परिणति स्वीकारने से, प्रलयावस्था में प्रधान में, सारे जगत की स्थिति कदापि संभव नहीं है। प्राज्ञ परमेश्वर से अनधिष्ठित, प्रधान, जगत की कारण नहीं हो सकती। प्राज्ञ द्वारा परिचालित मानने से ही, उसकी सत्य संकल्प जन्य सृष्टि, प्रलय और सृष्टिगत विचित्रता की व्यवस्था हो सकती है। यदि कहो कि-प्रधान को प्राज्ञ से अधिष्ठित मान लेने पर भी, प्राप्त काम परिपूर्ण निरवधि, अतिशय आनंदमय, निर्दोष, निरंजन परमेश्र के लिए सृष्टि और प्रलय के किसी उपयोगी कारण के न होने से, वैषम्य पूर्ण सृष्टि परक निर्दयता की बात उठ सकती है, इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष तो समान ही है। तुम्हारा यह कथन भी असंगत है; परिपूर्ण, केवल लीला के लिए ही सृष्टि में प्रवृत्त होते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर के पक्ष में, विशेष परिणामापन्न प्रकृति का दर्शन ही सृष्टि और प्रलय का हेतु हो सकता है। विशेषतः, जीवों के प्राक्तन कार्य ही, सृष्टिगत विषमता के कारण हैं।

नन्वेवं क्षेत्रज्ञपुण्यापुण्यरूपकर्मभिरेव सर्वावस्थाः सिध्यन्तीति कृतमीश्वरेणाधिष्ठात्रा, पुण्यापुण्यरूपानुष्ठितकर्म संस्कृता प्रकृतिरेव

पुरुषार्थानुरूपं तथा तथा व्यवस्थया परिणंस्यते, यथा विषादि दूषितानां अन्नपानादीनामौषधविशेषाप्यायितानां च सुख दुःख हेतु भूतः परिणामविशेषो देशकालव्यवस्थया दृश्यते, अतः सर्ग प्रतिसर्ग व्यवस्था देवादिविषमसृष्टिः कैवल्यव्यवस्था च सर्वप्रकार परिणाम-शक्तियुक्तस्य प्रधानस्यैवोपपद्यत इति।

यदि ऐसा ही है कि-जीवों के प्राक्तन शुभाशुभ कर्मो से ही सारी वैषम्यव्यवस्था होती है तो-प्रधान के अधिष्ठाता परमेश्वर की क्या आवश्यकता है? जैसे कि—विष आदि के संसर्ग से दूषित, औषधविशेष के संयोग से परिशोषित्, अन्न जल आदि का, देशकाल के अनुसार, सुखदुःख-कर विचित्र परिणाम देखा जाता है, वैसे ही, प्रकृति भी, पुरुषानुष्ठित पुण्यापुण्य कर्म संस्कार के सहयोग से, तदनुरूप, पुरुषभोग संपादन के लिए, विशेष वैचित्र्यमय कार्य के आकार में परिणत हो जाती है। इस प्रकार–हर प्रकार के परिणाम वाली प्रधान से सम्बधित होकर-सृष्टि प्रलय की व्यवस्था, देवादि सृष्टिगत वैषम्य, और मोक्ष की व्यवस्था आदि सब, संपन्न हो जाती है।

अनभिज्ञो भवान् पुण्यापुण्यकर्मस्वरूपयोः, पुण्यापुण्यस्वरूपेहि शास्त्रैक समधिगम्ये, शास्त्रं चानदिनिधनाविच्छिन्नपाठसम्प्रदाया-नाघ्रातप्रमादादिदोषगंधवेदाख्याक्षरराशिः तच्चा परमपुरुषाराधनतद्-विपर्ययरूपे कर्मणी पुण्यापुण्ये, तदनुग्रह निग्रहायत्तो च तत्फले सुखदुःखे इति वदति। तथाह द्रमिडाचार्यः "फलसंविभत्सया हि कर्मभिरात्मानं पिप्रीषंति स प्रीतोऽलं फलायेति शास्त्रमर्यादा "इति। तथा च श्रुतिः "इष्टापूर्त्तं बहुधाजातं जायमानं विश्वं विभर्तिभुवन-स्य नाभिः "इति। तथा च भगवता स्वयमेवोक्तं-"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततं, स्व कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विदन्ति मानवः "इति। "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्क्षिपाम्यजस्रम-शुभानासुरीष्वेवयोनिषु" इति च।

(उतर) आप, पुण्यापुण्य कर्म के स्वरूप विभाग के विषय से अनभिज्ञ हैं। पुण्यापुण्य का स्वरूप एकमात्र शास्त्र गम्य है। उत्पत्ति विनाश रहित अविच्छिन्न पाठ संप्रदाय, प्रमाद आदि दोषों से असंस्पृष्ट, वेदनामक अक्षर राशि ही शास्त्र है। वह शास्त्र ही परमपुरुष परमेश्वर के आराधात्मक कर्म को पुण्य तथा उससे विपरीत कर्म को अपुण्य तथा परमेश्वर के निग्रह और अनुग्रह के अधीन सुख दुःख को, पुण्य अपुण्य का फल बतलाता है। द्रमिडाचार्य भी ऐसा ही कहते हैं-"फल प्राप्ति की इच्छा से कर्मो द्वारा जो आत्मा को प्यार करते हैं, वह प्रीत हो जाने पर फल प्राप्त कर लेते हैं, यही शास्त्र मर्यादा है" (अर्थात् फलरूपा पराभक्ति से जो परमात्मा से प्रीत करते हैं, उन्हे फलस्वरूप प्रीति की प्राप्ति हो जाती है) ऐसा ही श्रुति का भी मत है-"जगत का नाभिस्वरूप अनेक प्रकार के इष्टापूर्त्त कर्म ही, जात और जायमान जगत को धारण करते हैं"। स्वयं भगवान भी ऐसा ही कहते हैं—" जिससे प्रणिमात्र की एवं जिसके द्वारा यह सारा जगत परिव्याप्त है, मानव स्वकीय वर्णाश्रमोचित कर्म द्वारा, उसकी अर्चना करके सिद्धिलाभ करते है "संसार में ईश्वर द्वेषी क्रूर प्रकृति वाले पापिष्ठ अधमनरों को मैं, निरन्तर आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ"।

स भगवान् पुरुषोत्तमोऽवाप्तसमस्तकामः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सत्यसंकल्पः स्वमाहात्म्यानुगुणलीला प्रवृत्तः एतानि कर्माणि समीचीनान्येतान्यसमीचीनानीति कर्म द्वैविध्यं संविधाय तदुपादानोचितदेहेन्द्रियादिकं तन्नियमनशक्ति च सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां सामान्येन प्रदिश्य स्वशासनावबोधि शास्त्रं च प्रदर्श्य तदुपसंहारार्थं चान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्यानुमंतृतया च नियच्छंस्तिष्ठति। क्षेत्रज्ञास्तु तदाहितशक्तयः तत्प्रदिष्टकरण कलेवरादिकास्तदाधाराश्च स्वयमेव स्वेच्छानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपाददते। ततश्चपुण्यापुण्य रूपकर्मकारिणं स्वशासनानुवर्त्तिनं ज्ञात्वा धर्मार्थकाममोक्षैर्वर्धयते शासनातिवर्त्तिनं च तद् विपर्ययैर्योजयति, अतः स्वातंत्र्यादिवैकल्य चोद्यानि नावकाशं लभन्ते।

वही आप्तकाम, सर्वज्ञ, सत्यसंल्कप, सर्वेश्वर भगवान पुरुषोत्तम अपनी महिमायुक्त लीला में प्रवृत्त होकर, उत्तम और अधम कर्मों का निर्धारण करके, समस्त जीवों को, कर्मग्रहणोपयुक्त देहेन्द्रिय और उसकी संयमन शक्ति प्रदान कर, लोग उनका शासन स्वीकारें, ऐसा शास्त्रोपदेश देकर-स्वयं सर्वान्तिर्यामीरूप से प्रविष्ट होकर, संयमन करते हुए स्थित रहते हैं। जीव उन परमात्मा से शक्ति प्राप्त कर, उनके प्रदत इन्द्रिय और शरीर धारण करके, स्वेच्छानुसार पाप और पुण्य कर्मों का उपपादन करते हैं। वह परमात्मा पुण्य कर्म करने वालों को, अपने शासन के अनुगत मानकर, धर्म अर्थ काम मोक्ष द्वारा बढ़ाते हैं, तथा शासन के उल्लंघन करने वालों को उससे विपरीत गति प्रदान करते हैं। इस प्रकार, ईश्वर संबंधी स्वातंत्र्य हानि आदि दोषों का कोई स्थान ही नहीं रहता।

दयाहि नाम स्वार्थं नरपेक्षा परदुःखासहिष्णुता, सा च स्वशासनातिवृत्तिव्यवसायिन्यपि वर्त्तमाना न गुणायावकल्पते, प्रत्युतापुंस्त्वमेवाबहति, तन्निग्रह एव तत्र गुणः,अन्यथा शत्रु निग्रहादीनामगुणत्वप्रसंगात्। स्वशासनातिवृत्तिव्यवसाय निवृत्तिमात्रेणानाद्यनंतकल्पोपचितदुर्विषहानंतापराधानंगीकारेण निरतिशय सुखसंवृद्धये स्वयमेव प्रयतते। यथोक्तं–"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्, ददामिबुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते। तेषामेवानुकंपार्थं अहमज्ञानजंतमः, नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।" इति, अतः प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं न कारणम्।

स्वार्थ संबंध रहित, परदुःख को न सह सकना ही दया है जो जीव ईश्वर के शासन का उल्लंघन करते हैं, उन पर भी प्रभुकी वैसी दया है, परंतु, वह उपकार न करके अपुरुषार्थं (दुःख) का उत्पादन करती है भगवान की ऐसी दयामय अकृपा भी, उनका एक गुण है, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो, शत्रु निग्रह आदि कार्य दोषावह मानें जावेंगें। शासनातिक्रमण विषयक अध्यवसाय से निवृत्त हो जाने पर, भगवान स्वयं ही, जीवों के अनादिकाल संचित अपराधों की उपेक्षा करके, अत्यानंद सुख समृद्धि प्रदानकरने की चेष्टा करते हैं। जैसा कि वे स्वयं कहते भी हैं–"निरन्तर

एकाग्रचित्त से प्रीति पूर्वक भजन करने वाले को मैं ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वह मुझे प्राप्त कर सके। उनके ऊपर अनुकम्पा करने के लिए ही मैं, आत्मा में स्थित होकर, उज्वल ज्ञान दीप द्वारा, उनके आंतरिक अज्ञानांधकार को दूर करता हूँ। "इत्यादि से निश्चित होता है कि-प्राज्ञ से अशासित, प्रधान जगत का कारण नहीं है।

अथस्यात्—यद्यपि प्राज्ञानधिष्ठितायाः प्रकृतेः परिस्पंद प्रवृत्तिरपि न संभवतीत्युक्तम्, तथाऽप्यनपेक्षाया एव परिणामप्रवृत्तिः संभवति तथादर्शनात्, धेन्वादिनोपयुक्तं हि तृणोदकादि स्वयमेव क्षीराद्याकारेण परिणममानं दृश्यते। अतः प्रकृतिरपि स्वयमेव जगदाकारेण परिणंस्यते। इति तत्राह—

उक्त कथन पर आपत्ति करते हैं कि-परमेश्वर की प्रेरणा के विना अचेतन प्रधान में क्रिया की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह तो ठीक है परंतु अनपेक्षित भाव से प्रधान में, परिणाम प्रवृत्ति तो हो सकती है, वैसा देखा भी जाता है, कि-गौद्वारा उपभुक्त-तृण जल आदि स्वतः ही दुग्ध के रूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृति भी स्वतः जगत के आकार में परिणत हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं--

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।२।२।४॥

नैतदुपपद्यते, तृणादेः प्राज्ञानधिष्ठितस्य परिणामाभावाद् दृष्टांतासिद्धेः, कथमसिद्धिः? अन्यत्राभावात्—यदि हि तृणोदकादिक मनुड्हाद्युपयुक्तं प्रहीणं वा क्षीराकारेण पर्यणंस्यत, ततः प्राज्ञानधिष्ठितमेव परिणमत इति वक्तुमशक्यत, न चैतदस्ति, अतो धेन्वाद्युपयुक्तं प्राज्ञ एव क्षीरी करोति। "पयोम्बुवच्चेति तत्रापि" इत्युक्तमेवात्र प्रपंचितम् तत्रैव व्यभिचार प्रदर्शनाय।

उक्त तर्क असंगत है, तृण आदि, परमेश्वर की प्रेरणा बिना स्वतः ही दुग्ध हो जाये, ऐसा दृष्टांत नितांत असिद्ध है, गौ आदि के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ऐसा क्यों नहीं हो जाता? तृण खाने वाले वैल आदि में यदि दुग्ध परिणति हो जाती तो, परमेश्वर के प्रेरणा बिना,

प्रधान की जगदाकार परिणति मान ली जाती, किन्तु ऐसा तो संभव है नहीं। वस्तुतः गाय आदि से उपभुक्त तृण आदि की दुग्ध रूप में जो परिणति होती है, वह परमेश्वर की प्रेरणा से ही होती है। "पयोम्बु-वच्चेत्तत्रापि" सूत्र में कहे गए नियम के व्यभिचार को प्रदर्शित करने के लिए ही, इस सूत्र में विवेचन किया गया है।

पुरुषाश्मवदितिचेत्तथापि ।२।२।५॥

अथोच्येत—यद्यपि चैतन्यमात्रवपुः पुरुषो निष्क्रियः, प्रधानमपि दृक्च्छक्तिविकलम् तथापि-पुरुषसन्निधानादचेतनं प्रधानप्रवर्त्तते तथा दर्शनात्, गमनशक्तिविकलदृक्छक्ति युक्त पंगुसंनिधानात्तच्चैतन्योपकृतो दृक्छक्तिविकलः प्रवृत्तिशक्तोऽन्धः प्रवर्त्तते, अयस्कांताश्मसन्निधानाच्चायः प्रवर्त्तते। एवं प्रकृतिपुरुषसंयोगकृतो जगत् सर्गः प्रवर्त्तते। यथोक्तं—"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य, पंग्वंधवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृतः सर्गः। "इति पुरुषस्य प्रधानोपभोगार्थं कैवेल्यार्थं च पुरुष सन्निधानात् प्रधानं सर्गादौ प्रवर्त्तत इत्यर्थः।

कहते हैं कि—यद्यपि चैतन्यमात्र शरीर पुरुष निष्क्रिय है और प्रधान भी दर्शनशक्ति हीन है, फिर भी, पुरुष के सानिध्य में रहने वाली अचेतन प्रधान अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकती है, जैसे कि दर्शनशक्ति विहीन क्रियाक्षमअंधा व्यक्ति, गमनशक्ति रहित, देखने में समर्थ पंगुव्यक्ति के सानिध्य से कार्य करता है तथा चुम्बक के सानिध्य से लोहा स्पंदित होता है। उसी प्रकार प्रकृति भी चैतन्य के संयोग से जगत की सृष्टि करती है। जैसा कि कहा भी है—"पुरुष, प्रधान का भोग करके, स्वयं भी मुक्ति-रूप कैवल्य की प्राप्ति करे, इसलिए पंगु और अंध की तरह, पुरुष और प्रकृति संयोग करते हैं, जिसके फलस्वरूप जगत की सृष्टि होती है" अर्थात् पुरुष के प्रकृति संबंधी भोग और मोक्ष के लिए, पुरुष के सहारे प्रकृति, सृष्टि का विस्तार करती है।

अत्रोत्तरं—तथापीति, एकमपि प्रधानस्य प्रवृत्त्यसंभवस्तदवस्थ एव, पंगोर्गमनशक्तिविकलस्यापि मार्गदर्शनतदुपदेशादयः कादाचित्का विशेषः सहस्रशः सन्ति, अंधोऽपि चेतनः सन् तदुपदेशाद्यवगनेन प्रर्त्तते, तथा अमस्कांतमणेरप्ययः समीपागमनादयःसंति। पुरुषस्यतु निष्क्रिमस्य न तादृशा विकाराः संभवंति। सन्निधानमात्रस्य निकत्वेन नित्य सर्गप्रसंगो नित्यमुक्तत्वेन, बंधाभावोऽपवर्गाभावश्च।

"तथापि" कहकर उक्त तर्क का निराकरण करते हैं। अर्थात् इस स्थिति में भी, प्रकृति का अभाव पूर्ववत् ही है। पंगु में गमन शक्ति न होते हुए भी, मार्ग दर्शन के सूचक उपदेश आदि हजारों साधन उसे मिल सकते हैं, अन्धा भी सचेष्ट होकर पंगु के उपदेश से जानकारी प्राप्त कर अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, चुम्बक की ओर लोहा भी खिंच सकता है; पर निष्क्रिय पुरूष में ऐसा विकार संभव नहीं है। यदि प्रधान और पुरूष का साहचर्य सदा मानते हो तो, सृष्टि भी सदा रहेगी, प्रलय कभी होगा ही नहीं, साथ ही जब पुरूष नित्यमुक्त है, तो बंधन और मुक्ति इन दोनों का ही अभाव रहेगा? [जो कि—तुम्हारे मत से विपरीत बात है]

अंगित्वानुपपत्तेश्च।२।२।६॥

गुणानामुत्कर्षनिकर्षनिबंधनांगांगिभावाद् हि जगत् प्रवृतिः "प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेपात्" इति वदद्भिः भवद्भिरभ्युपगम्यते। प्रतिसर्गायस्थायां तु साम्यावस्थानां सत्त्वरजस्तम सामन्योन्याधिक-न्यूनत्वाभावादंगांगिभावानुपपतेर्न जगत् सर्ग उपपद्यते। तदापि वैषम्याभ्युपगमे नित्यसर्ग प्रसंगः। अतश्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्।

सत्त्व आदि गुणों की जो आश्रयगत विशेषता है, उसी से विचित्र परिणाम होता है, तुम्हारे इस कथन के अनुसार गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष एवं तारतम्य के अनुसार अंग अंगी भाव से जगत की प्रवृत्ति होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक सृष्टि की स्थिति में, साम्यअवस्था को प्राप्त सत्व

रजतम में न्यूनाधिकता का अभाव होने से, अंग अंगी भाव तो हो नहीं सकता इसलिए जगत की सृष्टि भी नहीं हो सकती । यदि गुण वैषम्य स्वीकारते हो तो सृष्टि सदा बनी रहेगी । इससे निश्चित होता है कि प्राज्ञ से अनधिष्ठित प्रधान, जगत का कारण नहीं हो सकती ।

अन्यथानुमितौ चज्ञशतिवियोगात् ।२।२।७॥

दूषित प्रकारातिरिक्त प्रकारान्तरेण प्रधानानुमितो च प्रधानस्य ज्ञानतृत्वशक्तिवियोगात् ते एव दोषः प्रादुःष्युः । अतो न कथं-चिदप्यनुमानेन प्रधान सिद्धिः ।

तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत, प्रधान कारण संबंधी सभी युक्तिया दूषित हो गई, इनके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से, प्रधान के संबंध में अनुमान करो भी तो, जब प्रधान में ज्ञानशक्ति का ही अभाव है, तब तुम्हारे अनु-मान भी दूषित हो जावेगे । किसी भी प्रकार, प्रधान की कारणता, प्रमा-णित नहीं होती ।

अभ्युपगमेऽप्यर्काभावात् ।२।२।८॥

अनुमानैन प्रधान सिद्धि अभ्युपगमेऽपि प्रधानेन प्रयोजना-भावान्त तदनुमातव्यम् । "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य" इति प्रधानस्य प्रयोजनं पुरुषभोगापवर्गाबभिमतौ तौ च न संभवतः । पुरुषस्य चैतन्यमानवपुषो निष्क्रियस्य निर्विकारस्य निर्मलस्य तत एव नित्य मुक्त स्वरूपस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तद् वियोगरूपोऽपवर्गश्च न संभवति एवं रूपस्यैव प्रकृतिसंन्निधानात्तत् परिणामविशेपसुखदुःख दर्शन रूपभोग संभावनायां प्रकृति सन्नि-धानस्य नित्यत्वेन कदाचिदप्यपवर्गौ न सेतस्यति ।

अनुमान से किसी प्रकार प्रधान का अस्तित्व स्वीकार भी ले, पर सृष्टि कार्य में प्रधान का कोई प्रयोजन नहीं समझ में आता इसलिए उसके लिए अनुमान करना ही व्यर्थ है । "पुरुष के कैवल्य तथा प्रधान के दर्शन के लिए ही" अर्थात् पुरुष, प्रकृति का दर्शन का मोक्ष लाभ करे यही एक-

मात्र प्रयोजन है इस सांख्योक्ति से ज्ञात होता है कि–पुरूष का सुख दुःख भोग और मुक्ति लाभ ये दो ही सांख्य सम्मत प्रयोजन पुरूष के लिए संभव भी तो नहीं है क्योंकि–पुरूष स्वभाव से ही चेतन्य स्वरुप निष्क्रिय, निर्विकार और निर्मल होने से नित्यमुक्त स्वरूप है इसलिए उसमें प्रकृति दर्शन रूप भोग और प्रकृति से संबंध विच्छेद रूप मुक्ति की संभावना ही कहाँ है ? यदि किसी प्रकार, प्रकृति के सानिध्य से, प्रकृति के परिणाम विशेष सुख दुःख अनुभवात्मक भोग को पुरूष में मान भी ले तो, जब प्रकृति पुरूष के नित्य सानिध्य में रहती है, तब पुरुष की मुक्ति तो कभी हो नहीं सकती।

विप्रतिषेधाच्चासमंजसम् ।२।२।९॥

विप्रतिषिद्धं चेदं सांख्यानां दर्शनम् । तथाहि-प्रकृतेः परार्थत्वेन दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन च प्रकृतेर्भोक्तारं अधिष्ठातारं च द्रष्टारं साक्षिणं च पुरुषमभ्युपगम्य प्रकृत्यैव साधनभूतया तस्य कैवल्यमपि प्राप्यं वदंत एव तस्य नित्यनिर्विकारचैतन्यमात्रस्वरूपतया अकर्त्तत्वं कैवल्यं च स्वरूपमेवाहुः, तत एव बंधमोक्षसाधनानुष्ठानं मोक्षश्च प्रकृतेरेवेत्याहुः एवंभूतनिर्विकारोदासीनपुरुषसंन्निधानात् प्रकृतेरितरेतराध्यासेन सर्गादि प्रवृत्ति पुरुषभोगापवर्गार्थत्वंचाहुः "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य, कैवल्यं माध्यस्थ्यं दृष्टृत्वं कर्तृभावश्च "इति। "पुरुष विमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य"इत्युक्त्वैवमाहुः "तस्मान्नवध्यते नापि मुच्येत नापि संसरति कश्चित्, संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः इति," तथा–"तस्मावृत् संयोगात् अचेतनं चेतनावदिवलिंगम्, गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः पुरुषस्यदर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पंग्वंध वदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः इति" ।

साख्यों का यह दर्शन परस्पर विरूद्ध तथ्यों को भी उपस्थित करता है, जैसे कि-प्रकृति स्वयं पुरुषार्थ, जड और पुरुष भोग्या है, इसलिए पुरुष को उसका भोक्ता, द्रष्टा और अधिष्ठाता, साक्षी कहा गया है। प्रकृतिरूपी साधन से पुरुष की कैवल्य प्राप्ति बतलाई गई है साथ ही पुरुष को नित्य, निर्विकार चैतन्यस्वरूप, निष्क्रिय और कैवल्य कहा गया है। इसीलिए बंधन से मुक्त होने के लिए साधनानुष्ठान और मोक्ष प्रकृति सापेक्ष कहा गया है। निर्विकार उदासीन पुरुष की नित्य सन्निधि होने से, प्रकृति पुरुष में इतरेतर अध्यास (अर्थात् प्रकृति में पुरुष के और पुरुष में प्रकृति के गुण मिल जाने से) होने से सृष्टि आदि कार्य और पुरुषीय भोगापवर्ग साधन में, प्रकृति की प्रवृत्ति बतलाई गई है जैसे कि-"संघात परार्थता (समष्टिरूप सावयव पदार्थों की पर प्रयोजनीयता) त्रिगुणों की विपरीतता, अधिष्ठान पुरुष संबंधी भोक्तृभावना तथा कैवल्यार्थ प्रवृत्ति से, पुरुष नामक पदार्थ की स्थिति निश्चित होता है। पूर्वोक्त विपरीत के कारण ही पुरुष का साक्षित्व, विशुद्धता, औदास्य, द्रष्टत्व और अकर्तृत्व सिद्ध होता है। आत्मा की मुक्ति के अनुरूप ही प्रधान की चेष्टायें होती हैं। "इत्यादि कहने के बाद ही कहते हैं "इसलिए कोई आत्मा, बद्ध-मुक्त या संसारी नहीं होता, अपितु परिवर्त्तनशील प्रकृति ही, संसारी, बद्ध या मुक्त होती है। "इसलिए पुरुष के संयोग से अचेतन प्रकृति, चेतन की तरह होती है और पुरुष स्वभाव से निष्क्रय होते हुए भी कर्त्ता सा प्रतीत होता है। पुरुष की कैवल्य सिद्धि के लिए तथा पुरुष द्वारा प्रकृतिदर्शन के लिए, अंधे और लंगड़े के संयोग का सा, प्रकृति पुरुष का संयोग होता है जिसके फलस्वरूप सृष्टि होती है।

साक्षित्व द्रष्टृत्वभोक्तृत्वादयो नित्यनिर्विकारस्याकर्त्तुरुदासीनस्य कैवल्यैक स्वरूपस्य न संभवंति। एवं रूपस्य तस्याध्यासमूलभ्रमोऽपि न संभवति, अध्यासभ्रमयोरपि विकारत्वात्। प्रकृतेश्च तौ न संभवतः, तयोश्चेतन धर्मत्वात्। अध्यासोहिनाम चेतनस्यान्यस्मिन्नन्य धर्मानुसंधानं स च चेतन धर्मो विकारश्च। न च पुरुषस्य प्रकृतिसन्निधि मात्रेणाध्यासादयः संभवंति, निर्विकारत्वात्। संभवति चेत्, नित्यं प्रसज्येरन्, सन्निधेरकिंचित्करत्वं च" न

विलक्षणत्वात् "इत्यत्र प्रतिपादितम् ।

साक्षित्व, द्रष्टत्व, भोक्तृत्व आदि, धर्म, नित्य, निर्विकार, उदासीन अकर्त्ता, कैवल्यैकस्वरूप पुरुष में नहीं हो सकते, तथा ऐसे स्वभाव वाले पुरुष में, अध्यासमूलक भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि अध्यास और भ्रम दोनों ही विकारात्मक हैं। प्रकृति में भी, अध्यास और भ्रम नहीं हो सकते, क्योंकि ये दोनों चेतन के धर्म हैं, प्रकृति अचेतन है। किसी चेतन को, किसी एक पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ के धर्म या गुणों की प्रतीति हो, उसे अध्यास कहते हैं, यह अध्यास, चेतन का विकारात्मक धर्म है यदि कहो कि-प्रकृति के साहचर्य से चेतन में अध्यास आदि होते हैं, सो भी नहीं हो सकता, क्यों कि पुरुष स्वभाव से निर्विकार है। यदि कहो कि-प्रकृति के नित्य साहचर्य से, पुरुष में संभव हो सकते हैं; तब तो, इन्हें पुरुष में सदा ही आरोपित मानना पड़ेगा। प्रकृति पुरुष के सानिध्य की अकिंचित् कार्यता हम "न विलक्षणत्वात् "सूत्र में दिखला चुके हैं।

प्रकृतिरेव संसरति बध्यते मुच्यते चेत्-कथं नित्यमुक्तस्य पुरुषस्योपकारिणी सेत्युच्यते? वदंतिहि—"नानाविधैरुपायैरुपकारिण्य-नुपकारिणः पुंसः, गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति "इति तथा- प्रकृतिर्येन पुरुषेण यथास्वभावादृष्टा, तस्मात्पुरुषात्तदानीमेव निवर्तत इति चाहुः। "रंगस्यदर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा वृत्तात् पुरुषस्यतथाऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मेमतिर्भवति। या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति-पुरुषस्यै इति। तदप्यसंगतम्-पुरुषोहि नित्यमुक्तत्वान्निर्विकारत्वान्नतां कदाचिदपि पश्यति नाध्यस्यति च। स्वयं स्वात्मानं न पश्यति, अचेतनत्वात्। पुरुषस्य स्वात्मदर्शनं, स्वदर्शनमिति नाध्यवस्यति स्वयमचेतनत्वात् पुरुषस्य च दर्शनरूप विकारासंभवात्।

यदि कहो कि—प्रकृति ही संसरित, बद्ध और मुक्त होती है; तो उसे नित्यमुक्त पुरुष की उपकारिणी कैसे कह सकते हो? सांख्यों का कथन है कि-"गुणवती (सत्त्वरजतमोमयी अथवा सद्गुण संपन्ना स्त्री)

पुरुष (आत्मा या स्वामी) के अपकार करने पर भी, गुणहीन उस पुरुष का, उपकार ही करती है, अपना प्रयोजन होते हुए भी, उसी का प्रयोजन साधती है।"वे ये भी कहते हैं कि-प्रकृति, जिस पुरुष से, जैसे स्वभाव से देखी जाती है, उस पुरुष के निकट से वह वैसी ही, उस समय लौट आती है-जैसे कि-"नर्त्तकी, रंगशाला में स्थित पुरुषों को नृत्य दिखलाकर, लौट जाती है, वैसे ही प्रकृति, पुरुष को अपनी झलक दिखलाकर लौट आती है। प्रकृति से अधिक, कोई और सुकुमार नहीं हो सकता, ऐसी मेरी मति है, पुरुष ने मुझे पहिचान लिया, ऐसा सोचते ही वह लज्जित होकर पुनः उसके सामने नहीं जाती। "इत्यादि कथन भी असंगत है—पुरुष जब नित्य मुक्त और निर्विकार है तो वह, उस प्रकृति को न देख सकता है और न स्वतः अध्यस्त ही हो सकता है। वह प्रकृति स्वयं अपने को तो देख नहीं सकती, क्यों कि अचेतन है। वह जो, पुरुष को अपना दर्शन देती है, उसमें स्वयं तो अध्यस्त (लिप्त) हो नहीं सकती, क्योंकि—अचेतन है। पुरुष भी निर्विकार है, इसलिए दर्शन कर नहीं सकता।

अथ सन्निधिमात्रमेव दर्शनमित्युच्यते, सन्निधेर्नित्यत्वेन नित्य दर्शन प्रसंग इत्युक्तम्। स्वरूपातिरिक्तकादाचित्क सन्निधिरपि नित्यनिर्विकारस्य नोपपद्यते।

जो यह कहा कि—प्रकृति की सन्निधि होने मात्र से, दर्शन की प्रवृत्ति होती है, तो नित्य सन्निधि से, दर्शन की प्रवृत्ति भी नित्य होगी। यदि नित्य सन्निधि न मानकर कभी कभी की सन्निधि मानते हो तो भी, नित्यनिर्विकार पुरुष में दर्शन प्रवृत्ति की संभावना नहीं है।

किं च मोक्षहेतुस्तु स्वसन्निधानरूपमेव दर्शनं चेत्-बंधहेतुरपि तदेवेति नित्यवद् बंधो मोक्षश्चस्याताम्। अथवा दर्शनं बंधहेतुः यथावत् स्वरूपदर्शनं मोक्षहेतुरिति चेत्-उभयविधस्यापि दर्शनस्य सन्निधानरूपतानतिरेकात्सदोभय प्रसंग एव। सन्निधिरनित्यत्वे तस्यहेतुरन्वेषणीयः, तस्यापीत्यनवस्था। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया स्वरूपसद्भाव एव सन्निधिरिति तदा स्वरूपस्य नित्यत्वेन

नित्यवद्बंधमौक्षौ। अत एवमादेर्विप्रतिषेधात् सांख्यानांदर्शन-मसमंजसम्।

यदि कहो कि–प्रकृतिसानिध्य दर्शन ही, पुरुष का मोक्ष है, तो वह प्रकृति बंधन का कारण भी तो है, इस प्रकार तो बंधन और मोक्ष दोनों साथ साथ रहेंगे। यदि कहो कि–भ्रांतिपूर्णज्ञान ही बंधन का कारण है तथा आत्मा का साक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है; तो इन दोनों प्रतीतियों से उक्त सन्निधि से कोई भेद नहीं है, वही बंधन और मुक्ति की साथ साथ होने वाली बात, उठती है। यदि सन्निधि को अनित्य मानें तो उसकी अनित्यता का कारण खोजना होगा, उससे भी अनवस्था होगी। दोष परिहार के लिए यदि प्रकृति और पुरुष के स्वरूप सद्भाव को ही सन्निधि मानें, तो जब दोनों का ही स्वरूप नित्य माना है, बंधन और मोक्ष भी नित्य हो जावेंगे। इस प्रकार की अनेक अनर्गल बातों से सांख्यों का दर्शन असंगत सिद्ध होता है।

येऽपिकूटस्थनित्यनिर्विशेषस्वप्रकाशचिन्मात्रं ब्रह्माविद्या–साक्षित्वेनापारमार्थिक बंधमोक्षभागिति वदंति तेषामप्युक्तनीत्याऽ-विद्यासाक्षित्वाघ्यासाद्यसंभवादसामंजस्यमेव, इयांस्तुविशेषः, सांख्याः जननमरण प्रतिनियमादिव्यवस्था सिध्यर्थ पुरुषबहुत्वमिच्छंति, तेतु तदपि नेच्छंतीति सुतरामसामंजस्यम्।

और जो लोग (शांकरमतावलंबी) कूटस्थ, नित्य निर्विशेष, स्वप्रकाश, चैतन्यमात्र स्वरूप ब्रह्म को ही अविद्या का साक्षी और द्रष्टा बतलाकर बंधन और मोक्ष के मिथ्यात्व की बात कहते हैं, उनके मतानुसार भी, ब्रह्म के अविद्या साक्षित्व आदि धर्मो का अध्यास संभव नही हो सकता, असामंजस्य ही होता है. इनकी सांख्यों से इतनी ही विशेषता है कि-सांख्य लोग-जननमरणव्यवस्था की रक्षा के लिए अनेक पुरुषों की कल्पना करते हैं, जब कि शांकर वो भी नहीं करते अर्थात् अद्वैत स्वीकारते है, असामं-ज़स्य तो हर स्थिति में होता ही है।

यत्तु प्रकृतेः पारमार्थ्या पारमार्थ्यविभागेन वैषम्यमुक्तं, तदयुक्तम्, पारमार्थिकत्वेऽप्यपारमार्थिकत्वेऽपि नित्यनिर्विकार स्वप्रकाशैकरस चिन्मात्रस्य स्वव्यतिरिक्त साक्षित्वाद्यनुपपत्तेः। अपारमार्थिकत्वे तु तस्याः दृश्यत्वबाध्यत्वाभ्युपगमात् सुतरामसंगतम्। औपाधिक भेदवादेऽपि उपाधिसंबंधिनो ब्रह्मणोऽयमेवस्वभाव इत्युपाधिसंबंधा-द्यनुपपतेरसामंजस्यं पूर्वमेवोक्तम्।

और जो, प्रकृति की परमार्थता और अपरमार्थता के आधार पर वैषम्य का समर्थन किया वह भी असंगत है; प्रकृति परमार्थ हो या अपरमार्थ, नित्य–निर्विकार–स्वप्रकाश–एकमात्र चिन्मय वस्तु के लिए अपने से अतिरिक्त कोई और साक्षी, नहीं हो सकता। यदि प्रकृति को अपरमार्थ मानते हैं तो प्रकृति में दृश्यत्व और बाध्यत्व भी मानने ही पड़ेंगे, इस स्थिति में, पुरुष का साक्षित्व मानना असंगत होगा। प्रकृति के पारमार्थिक भेद मानने पर भी, उपाधिसंबद्ध ब्रह्म का और उसका स्वभाव जब एक सा ही है, तब उपाधि संबंध आदि घट नहीं सकता, इन समस्त कारणों से जो असामंजस्य होता है, उसे तो पहिले ही बतला चुके हैं।

२ महद्दीर्घाधिकरणः—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम् ।२।२।१०॥

प्रधानकारणवादस्य युक्तयाभासमूलतय विप्रतिसिद्धत्वाच्चा -सामंजस्यमुक्तम्। संप्रति परमाणुकारणवादस्याप्यसामंजस्यम् प्रतिपाद्यते- “महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम् “इति। असमंजसमिति वर्त्तते, वा शब्दश्चार्थे। ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम्, द्वयणुकपरमाणुभ्यां, महद्दीर्घवत् त्र्यणुकोत्पत्तिवादवत्, अन्यच्च-तदभ्युपगतं सर्वमसमंजसम्, परमाणुभ्यो द्वयणुकादिक्रमेण

जगदुत्पत्तिवादवदन्यदप्यसमंजसमित्यर्थः। तथाहितंतु प्रभृतयो हि अवयवाः स्वांशैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमाना अवयविनमुत्पादयंति, परमाणवोऽपि स्वकीयैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमाना एव द्वयणुकादीनां उत्पादकाभवेयुः, अन्यथा परमाणूनां प्रदेशभेदभावे सति, सहस्रपरमाणुसंयोगेऽपि एकस्मात् परमाणोरनतिरिक्तपरिमाणतया-अणुत्व ह्रस्वत्वमहत्त्वदीर्घत्वाद्यसिद्धिः स्यात्। प्रदेशभेदाभ्युपगमे परमाणवोऽपि सांशाः स्वकीयैरंशै। ते च स्वकीयैरंशैरित्यनवस्था।

असद् युक्तिमूलक, परस्पर विरुद्ध मतवाले, प्रधान कारणावाद की असंगति बतला दी गई। अब "महद्दीर्घवद् "इत्यादि सूत्र से परमाणु कारणवाद की असंगति का प्रतिपादन करते हैं। सूत्र में वा शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका तात्पर्य है कि-यहाँ भी असामंजस्य है ह्रस्व और परिमंडल अर्थात् द्वयणुक और परमाणु से महद्दीर्घवत् अर्थात् त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है इत्यादि मत के साथ ही कणाद के अन्य मत भी असामंजस्यपूर्ण हैं। अर्थात् परमाणुओं से द्वयणुकादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन जैसे असंगत है, वैसे ही अन्य विषय भी असंगत हैं। जैसे कि वस्त्र के अवयव तंतु अपने छः पार्श्वों से परस्पर संयुक्त होकर, अवयवी (वस्त्र) का उत्पादन करते हैं, परमाणु भी अपने छः पार्श्वों से संयुक्त होकर ही द्वयणुक आदि के उत्पादक होंगे, अन्यथा अंशरहित परमाणु हजारों हजारों परमाणुओं से संयुक्त होने पर भी, बड़े परिमाण के हो ही नहीं सकते, इसके फलस्वरूप, अणुत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, महत्त्व आदि की व्यवस्था भी नहीं बन सकती। परमाणुओं के अंशभेद स्वीकारने से, वे परमाणु अपने अपने अंशों से सावयव होंगे, इस प्रकार अनवस्था होगी।

न च वाच्यम्-अवयवाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां हि सर्षपमहीधरयोः वैषम्यासिद्धेः। अवयवापकर्षकाष्टावश्याभ्युपगमनीया इति। परमाणूनां प्रदेश भेदाभावे सत्येकपरमाणुपरिमाणातिरेकी प्रथिमा न जायेतेति, सर्षपमहीधरयोरेवासिद्धेः। किं कुर्मः? इति चेत्, वैदिकः पक्षः परिगृह्यताम्।

यह नहीं कह सकते कि-अवयवों की अल्पता और दीर्घता द्वारा ही सरसों और पर्वत रूप विषमता होती है। परमाणुओं के अनंत अवयवों को मानने पर, अवयवों के अनंतत्व साम्य होने से सरसों और पर्वत के मध्य में, कभी विभिन्न परिमाण, प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए अवयव की चरम सूक्ष्मता, अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी। परमाणु के अवयव भेद को न स्वीकारने से, एक परमाणु का जो परिमाण है, उसके द्वारा, उससे अधिक परिमाण स्थूलता, कभी हो नहीं सकती, इसलिए सरसों और पर्वत का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि-फिर क्या करें? वैदिक पक्ष स्वीकारो।

यत्तु परैः ब्रह्मकारणवाददूषणपरिहारपरमिदं सूत्रंव्याख्यातम्, तदसंगतम्। पुनरुक्तं च, ब्रह्मकारणवादे परोक्तान्दोषान् पूर्वस्मिन पादे परिहृत्य परपक्षप्रतिक्षेपो हि अस्मिन् पादे क्रियते। चेतनाद् ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिसंभवश्च "न विलक्षणत्वात् "इत्यत्रैव प्रपंचितः। अतो ह्रस्वपरिमंडलाभ्यां महद् दीर्घाणु ह्रस्वोत्पत्तिवदन्यच् च तदभ्युपगतं सर्वमसमंजसम् इत्येव सूत्रार्थः।

जो लोग, ब्रह्म कारणवाद दूषण परिहार परक इस सूत्र की व्याख्या करते हैं, वह असंगत और पुनरूक्ति मात्र है। पूर्वपाद में ही, ब्रह्मकारणवाद पर किये गए, परपक्ष के प्रहारों का परिहार करके इस द्वितीयपाद में परपक्ष का प्रत्याख्यान करते हैं। चेतन ब्रह्म से ही, जगत् की उत्पत्ति संभव हो सकती है, ऐसा "न विलक्षणत्वात्" सूत्र में विस्तृत रूप से बतला दिया गया है। ह्रस्व और परिमंडल से जैसे-महत्-दीर्घ अणु और ह्रस्व परिमाण युक्त पदार्थों की उत्पत्ति जैसे असंगत है, वैसे ही कणाद के अन्य मत भी असंगत हैं, यही सूत्र का तात्पर्य है।

किमन्यदसमंजसमित्याह-और असंगति क्या हैं? इसका उत्तर देते हैं।

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभाव: ।२।२।११॥

परमाणुकारणवादे हि परमाणुगतकर्मजनित तत्संयोगपूर्वक-द्वयणुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिरिष्यते, तत्रनिखिलजगदुत्पत्तिकारणभूत

परमाणुगतमाद्यं कर्मादृष्टकारितमित्यभ्युपगम्यते "अग्नेरूर्ध्वंज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनं अणुमनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि "इति।

जो परमाणु को जगत का उपादान मानते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि–परमाणु से सर्वप्रथम क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है, जिससे द्वयणुक आदि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है। उसमें विशेषता यह है कि– समस्त जगत् की उत्पत्ति की कारणभूत जो परमाणुओं की आदिम क्रिया है, वह अदृष्ट परिचालित है। "अग्नि की ऊपर उठती हुई ज्वाला, वायु की तिरछी चाल, परमाणु और मन की आदिम क्रिया आदि, अदृष्ट परिचालित हैं, "इत्यादि।

तदिदं परमाणुगतंकर्म स्वगतादृष्टकारितम्, आत्मगतादृष्ट कारितं वा? उभयथाऽपि न संभवति, क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुष्ठानजनित-स्यादृष्टस्य परमाणुगतत्वासंभवात्, संभवे च सदोत्पादकत्व प्रसंगः। आत्मगतस्य चादृष्टस्य परमाणुगतकर्मोत्पत्तिहेतुत्वंन संभवति।

प्रश्न यह है कि–परमाणु की जो आद्यक्रिया है, वह परमाणुगत अदृष्ट द्वारा संपादित है अथवा, आत्मगत अदृष्ट द्वारा संपादित है? दोनों प्रकार से नहीं हो सकती, क्योंकि–जीवकृतशुभ अशुभ कर्म जनित अदृष्ट की कभी परमाणु में अवस्थिति नहीं हो सकती यदि संभव भी हो तो सदा क्रियोत्पत्ति होती रहेंगी, कभी विराम न होगा। आत्मगत अदृष्ट, कभी परमाणुओं में, कर्मोत्पादन कर नहीं सकता।

अथादृष्टवदात्मसंयोगादणुषु कर्मोत्पत्तिः। तदातस्य अदृष्टप्रवाहस्य नित्यत्वेन नित्यसर्ग प्रसंगः। नन्वदृष्टं विपाकापेक्षं फलायालम्। कानिचिददृष्टानि तदानीमेव विपच्यन्ते, कानिचि-ज्जन्मान्तरे कानिचित्कल्पान्तरे। अतो विपाकापेक्षत्वान्न सर्वदो-त्पादकत्वप्रसंगः इति, नैतत्, अनंतैरात्मभिः संकेतपूर्वकमयुगपद-नुष्ठतानेकविधकर्मजनितानामदृष्टानामेकस्मिन् काले एकरूप-विपाकस्याप्रामाणिकत्वात्। अतएव युगपत् सर्वसंहारो द्विपरार्ध

कालं अविपाकेनावस्थानं च न संगच्छते । न चेश्वरेच्छाहितविशेषादृष्टसंयोगादणुषुकर्म; आनुमानिकेश्वरासिद्धेः "शास्त्रयोनित्वात्" इत्यत्रोपपादित्वात् । अतो जगदुत्पत्तेरणुगतकर्मपूर्वकत्वाभावः ।

यदि कहो कि–अदृष्ट विशिष्ट आत्मा के साथ संयोग होने से परमाणुगत क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसा होने से तो, जीव के अदृष्ट प्रवाह (पापपुण्य धारा) की नित्यता सिद्ध होती है साथ ही सृष्टि की नित्यता भी। परिपक्वावस्था को प्राप्त अदृष्ट ही, फल प्रदान करता है। कोई कोई अदृष्ट (जिनका फल भोग इसी जन्म में संभव है) तत्क्षण ही परिपक्व हो जाते हैं, कोई अदृष्ट जन्मान्तर में और कोई कल्पान्तर में परिपक्व होते हैं। इसलिए अदृष्ट जीव ही जब, विपाक सापेक्ष है तब उससे, सदा उत्पादन की ही आशा रखना व्यर्थ है। नहीं आत्मायें अनन्त हैं, उनके द्वारा विभिन्न काल में अनुष्ठित क्रियायें, उन सबका कर्मजन्य अदृष्ट, एक ही समय, एकसा परिपक्व होगा, इसका तो कोई ठिकाना हैं नहीं। इसलिए एक साथ सब वस्तुओं का संहार, द्विपरार्धकाल, और विपाक रहित अदृष्ट की स्थिति संभव नहीं है। ईश्वर की इच्छानुरूप, अदृष्ट में कोई विशेष गुण हो जावे या उस अदृष्ट के संयोग से परमाणु में प्रथम स्पंदन हो जावे। ऐसा भी नहीं कह सकते, "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र में आनुमानिक ईश्वर को असिद्ध कर चुके हैं। इसलिए जगत की उत्पत्ति में अणुगत कर्म पूर्वकता नहीं हो सकती।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।२।१२॥

समवायाभ्युपगमाच्चासमंजसम्, कुतः? साम्यादनवस्थितेः समवायस्याप्यवयविजातिगुणवदुपपादकान्तरस्यापि तथेत्यनवस्थितेरसमंजसमेव। एतदुक्तं भवति-अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यः संबंधः, स समवाय इति समवायोऽभ्युपगम्यते। अपृथक्स्थित्युपलब्धीनां जात्यादीनां तथा भावस्य निर्वाहकत्वेन चेत्समवायोऽभ्युपगम्यते, समवायस्यापि तत्साम्यात्तथाभाव-

हेतुरन्वेषणीयः तस्याऽपितथेत्यनवस्थितिः। समवायस्य तदप्रथक्-सिद्धत्वं स्वभाव इति परिकल्प्यते चेत्—जातिगुणनामे वैष स्वभावः परिकल्प्यनीयः, न पुनरदृष्टचरं समवायमभ्युपगम्य तस्यैव स्वभाव इति कल्पयितुं युक्तम् इति।

समवाय संबंध मानने से भी, यह मत असंगत है। ऐसा मानने से साम्य होता है, जिससे कि अव्यवस्था हो सकती है। अवयवी की जाति और गुण के उपपादन के लिए, जैसे समवाय संबंध मानते हो, वैसे ही समवाय की सिद्धि के लिए भी किसी अन्य हेतु का अन्वेषण करना पड़ेगा, फिर उस कलिपत हेतु के हेतु की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार कल्पना की समाप्ति न होने से असामंजस्य होगा। कथन यह है कि—जिसकी कोई पृथक् स्थिति नहीं आधार आधेयभाव से ही जिसकी स्थिति होती है, उसकी आश्रयता बतलाने वाला संबंध ही समवाय है, ऐसी एक समवाय संबंध की कल्पना की गई। जिनकी पृथक् रूप से स्थिति और उपलब्धि नहीं होती, जाति गुण आदि की जिनसे अपृथक् स्थिति और उपलब्धि है, केवल इतना बतलाने के लिए ही यदि समवाय संबंध की कल्पना करते हैं तो, समवाय भी तो उसी प्रकार का एक द्रव्य होगा, जिसकी पृथक् स्थिति और उपलब्धि नहीं हो सकती, उसकी अपृथक्ता के लिए एक कारण की कल्पना करनी आवश्यक हो जायगी, उस कल्पित हेतु के हेतु की भी कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था होगी। यदि कहें कि—उससे अपृक् सिद्धता ही समवाय का स्वभाव है तो, जाति गुण आदि का भी ऐसे ही स्वभाव मानने में क्या हानि है। परंतु कल्पनातीति, समवाय की कल्पना करके, उसके ऐसे स्वभाव की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं है।

समवायस्यनित्यत्वे अनित्यत्वे चायं दोषः समानः नित्यत्वेदोषान्तरं चाह—समवाय की नित्यता अनित्यता दोनों ही स्थिति में उक्त दोष समान रूप से होगा। नित्यता की स्थिति के दोषों को बतलाते हैं।

नित्यमेव च भावात्।२।२।१३॥

समवायस्य संबंधत्वात् संबंधस्य नित्यत्वे संबंधिनोजगतश्च नित्यमेव भावादसमंजसम्।

समवाय एक संबंध विशेष है, उस संबंध की नित्यता स्वीकारने से, उससे संबंधी जगत की भी नित्यता हो जावेगी, जो कि असंगत बात है।

रूपत्वादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ।२।२।१४।।

परमाणूनां पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां चतुर्विधानां रूपरस गंधस्पर्शवत्त्वाभ्युपगमादभिमतनित्यत्वसूक्ष्मत्वनिरवयवत्वादिविपर्ययेण अनित्यत्वस्थूलत्व सावयवत्वादि प्रसज्यते, रूपादिमतां घटादीनां अनित्यत्व तथाविधकारणान्तरारब्धत्वादिदर्शनात् । नहि दर्शनाऽनुगुण्येनादृष्टोऽर्थः कल्प्यमानः स्वाभिमतविशेषेव्यवस्थापयितुं शक्यः । दर्शनानुगुण्येन हि परमाणूनां रूपत्वादिमत्त्वं त्वया कल्प्यते। अतोप्यसमंजसम् ।

पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय इन चार प्रकार के परमाणुओं को रूप-रस-गंध और स्पर्श विशिष्ट स्वीकारने पर भी तुम्हारी अभिमत नित्यता और निराकारता के विपरीत, अनित्यता स्थूलता और साकारता संभावित हो जाती है। रूपादि विशिष्ट घट आदि को अनित्य और स्वानुरूप कारणों से उत्पन्न होते देखा जाता है। लोक प्रतीति के अनुसार प्रत्यक्ष पदार्थ की कल्पना करते हुए, अपने अभिप्रेत विशेषार्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते। इसलिए तुम्हारा मत असंगत है।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया परमाणूनां रूपादिमत्त्वंनाभ्युपगम्यते तत्राह—

यदि उक्त दोष के परिहार के लिए परमाणुओं के रूपादि को नहीं स्वीकारते तो उस पर कथन है।

उभयथा च दोषात् २।२।१५।।

न केवलं परमाणूनां रूपादिमत्वाभ्युपगम एव दोषः, रूपादि विरहेऽपि कारणगुणपूर्वकत्वात् कार्यगुणानां पृथिव्यादयो रूपादिशून्याः

स्युः तत्परिजिहीर्षया रूपादिमत्वाभ्युपगमे पूर्वोक्त दोष इत्युभयथा च दोषात् असमंजसम् ।

केवल परमाणुओं को रूपादिमान मानने से ही दोष उपस्थित होता हो, सो बात नहीं है, अपितु रूपादि के बिना भी, कारण का गुण कार्य में आ जाता है, इस नियम के अनुसार, परमाणुजन्य पृथ्वी आदि कार्य रूप आदि से शून्य हो जावेंगे। इस दोष के परिहार के लिए यदि, परमाणुओं का रूपादि संबंध स्वीकारते हो तो वही अनित्यता आदि दोष उपस्थित होते हैं। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में दोष होने से, असामंजस्य निश्चित है।

अपरिग्रहाच्चात्यंतमनपेक्षा ।२।२।१६॥

कापिल पक्षस्य श्रुतिन्यायविरोध परित्यक्तस्यापि सत्यकार्यवादादिना क्वचिदंशे वैदिकैः परिग्रहोऽस्ति, अस्यतु काणादपक्षस्य केनाप्यंशेनापरिग्रहात् अनुपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षैव निःश्रेयसार्थिभिः कार्या ।

श्रुति और युक्ति विरुद्ध होने से कपिल का मत परित्यक्त है पर उनके सत्कार्यवाद आदि किन्ही अंशो को वैदिकों ने स्वीकारा है। इस कणादमत का कोई भी अंश, वैदिकों द्वारा नहीं स्वीकारा गया, तथा यह युक्ति विरुद्ध भी है। इसलिए मुमुक्षुओं को इसकी एकदम उपेक्षा करनी चाहिए।

३ समुदायाधिकरणः—

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।२।२।१७॥

परमाणुकारणवादिनो बैशेषिका निरस्ताः। सौगताश्च जगतः परमाणुकारणत्वमभ्युपगच्छनीत्यनंतरं तन्मतेऽपि जगदुत्पत्तितद् व्यवहारादिकं नोपपद्यत इत्युच्यते ते चतुर्विधा; केचित्पार्थिवाप्यतैजस-वायवीय परमाणुसंघातरूपान् भूत भौतिकान् वाह्यांश्चित्त चैत्तरूपांश्चाभ्यंतरानर्थान् प्रत्यक्षानुमानसिद्धानभ्युपयंति। अन्ये तु

वाह्यार्थान् सर्वान् पृथिव्यादीन् विज्ञानानुमेयान् वदंति । अपरे त्वर्थशून्यं विज्ञानमेव परमार्थसत् वाह्यार्थस्तु स्वाप्नार्थकल्पा इत्याहुः त्रयोऽप्येते स्वाभ्युपगतं वस्तु क्षणिकमाचक्षते, उक्तभूतभौतिकचित्त-चैतव्यतिरिक्तमाकाशादिकं स्वरूपेणैवनानुमन्वते अन्ये तु सर्व-शून्यत्वमेव संगिरंते । तत्र ये वाह्यार्थास्तित्ववादिनः, ते तावन्निरस्यंते, ते चैवं मन्यन्ते रूपरसस्पर्शगंधस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः, रूपरस स्पर्शस्वभावाश्चाप्याः, रूपस्पर्शस्वभावाश्चतैजसाः, स्पर्शस्वभावाश्च वायवीयाः, पृथिव्यपतेजोवायुरूपेण संहन्यन्ते, तेभ्यश्च पृथिव्यादिभ्य शरीरेन्द्रियविषयरूपसंघाता भवंति, तत्र च शरीरान्तर्वर्त्ती ग्राहकाभिमानारूठो विज्ञानसंतान एवात्मत्वे-नावतिष्ठन्ते, तत एव सर्वो लौकिकोव्यवहारः प्रवर्त्तते इति ।

परमाणु कारणवादियों का वैशेषिक मत निरस्त हो चुका। अब, सौगत (बौद्ध) भी परमाणुकारणवाद को जगत् की सृष्टि के लिए स्वीकारते हैं, उनके मतानुसार भी, जगत की उत्पत्ति आदि का व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता, इत्यादि का प्रतिपादन करते हैं। वे बौद्ध चार संप्रदायों में विभक्त हैं, उनमें से एक-पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणुओं की समष्टि को भूत (पृथ्वी आदि) और भौतिक (घट-पट-आदि) तथा चित्त और चैतसिक (चित्तगतसुखदुःखादि) रूप से वाह्य और आभ्यंतर पदार्थ मानते हैं, ये लोग प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर ऐसा मानते हैं। दूसरे-पृथ्वी आदि समस्त वाह्य पदार्थों को बुद्धि अनुमेय बतलाते हैं, प्रत्यक्षसिद्ध नहीं मानते। तीसरे-विज्ञान (बुद्धि वृत्ति) को ही एकमात्र सत्य मानते हैं, वाह्य पदार्थों को स्वप्न की तरह काल्पनिक मानते हैं। ये तीनों ही अपने स्वीकृत पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। इन भूत भौतिक-चित्त चैतसिक पदार्थों के अतिरिक्त, आत्मा और आकाश आदि का स्वरूपतः अस्तित्व नहीं मानते। चौथे-सब कुछ शून्य ही बतलाते हैं [अर्थात् शून्य ही एकमात्र सत्य, और सब कुछ मिथ्या है] इनमें वाह्यार्था-स्तित्ववादी कहते हैं कि—रूप-रस-स्पर्श और गंध, ये चार गुण, पार्थिव परमाणुओं के; रूप-रस और स्पर्श ये तीन गुण, जलीय परमाणुओं के;

रूप और स्पर्श ये दो गुण, तैजस परमाणुओं के; स्पर्शमात्र वाययीव परमाणुओं के; स्वाभाविक गुण हैं। ये चारों पृथ्वी आदि चार स्थूल आकारों में एकत्र होते हैं तब इनके सम्मिलन से, शरीर, इन्द्रिय, और इंद्रियों के विषय रूप संघात होते हैं। शरीर का अन्तर्वर्त्ती जो, ज्ञातृत्वाभिमानी, विज्ञान संतान (बुद्धि का वृत्ति प्रवाह) है, वही आत्मा है उसी से सारे लौकिक व्यवहार संपादित होते हैं।

तत्राभिधीयते-समुदाय उभयहेतुकेऽपि, तदप्राप्तिः, योऽयं अणुहेतु पृथिव्यादिभूतात्मकः समुदायः, यश्च पृथिव्यादि हेतुकः शरीरेन्द्रिय विषयरूपः समुदायः, तस्मिन् उभय हेतुकेऽपि समुदाये, तत्प्राप्तिर्नोप -पद्यते-जगदात्मकसमुदोयात्पत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। परमाणुनां पृथिव्यादि भूतानां च क्षणिकत्वाभ्युपगमात्, क्षणध्वंसिनः परमाणवो भूतानि च कदा संहतौ व्याप्रियन्ते, कदावा संहन्यंते, कदा विज्ञान विषयभूताः, कदा च हानोपादानादिव्यवहारास्पदतां भजंते, को वा विज्ञानात्मा, कं च विषयं स्पृशति, कश्चविज्ञानात्मा, कमर्थं कदा वेदयते, कं वा विदितमर्थं, कश्च कदोपादत्ते, स्प्रष्टा हिनष्टः, स्पृष्टश्चनष्टः, तथा वेदिता विदितश्चनष्टः, कथं चान्येन स्पृष्टमन्यो वेदयते, कथंचान्येन विदितमर्थमन्य उपादत्ते? संतानानामेकत्वेऽपि, संतानिभ्यस्तेषां वस्तुतो वस्त्वन्तरत्वानभ्युपगमान्नतन्निबंधनं व्यवहारादिकमुपपद्यते, अहमर्थ एवात्मा, स च ज्ञातैवेति, चोपपादितं पुरस्तात्।

इस पर कथन यह है कि—दोनों प्रकार के कारणों के मानने पर भी, संघात संभव नहीं है। अर्थात् परमाणुओं से उत्पन्न पृथ्वी आदि का भूतात्मक समुदाय, तथा पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न, भौतिक शरीर-इंद्रिय और विषयों का समुदाय, इन दोनों को मानने पर भी, जगदाकार समुदायोत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि—परमाणु और पृथ्वी आदि भूतों को जब क्षणिक मानते हो तो उन क्षणिक विनाशशील परमाणुओं और भूतों का संगठन कब होगा? और वे बुद्धिगम्य किस क्षण में होंगे? उनका

हेय और उपादेय रूप से व्यवहार कब होगा? विज्ञानात्मा किसे कहोगे और विषय को ग्रहण करने वाला किसे कहोगे? विज्ञानात्मा किस विषय को कब ग्रहण करेगा? उस ज्ञात विषय का कौन, कब अनुभव करेगा? जब स्पर्श करने वाला, स्पर्श होने वाला, तथा ज्ञाता और ज्ञेय आदि सभी क्षणभंगुर नष्ट हैं, तब कब, कौन, किस वस्तु का, स्पर्शजन्य अनुभव कर सकेगा? तथा ज्ञात विषय का, किसी दूसरे से कैसे उल्लेख कर सकेगा? परंपरित संघात को जब पृथक् वस्तु नहीं मानते अपितु एक मानते हो तो, लोकव्यवहार सध नहीं सकता, क्योंकि-"अहं" पदार्थ ही तो आत्मा है, उसे ही पहिले ज्ञाता रूप में बतला चुके हो।

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात्

।२।२।१८।।

अविद्यादीनामितरेतरहेतुत्वेनोपपन्नं संघातभावादिकमिति चेत्, एतदुक्तं भवति-यद्यपिक्षणिकाः सर्वे भावाः, तथाऽप्यविद्ययैतत्सर्वमुपपद्यते, अविद्या हि नाम विपरीत बुद्धिः क्षणिकादिषु स्थिरत्वादिगोचराः तया संस्काराख्याः रागद्वेषादयोजायंते, ततश्चित्ताभिज्वलनरूपं विज्ञानं ततश्च नामाख्याश्चित्तचैताः पृथिव्यादिकं च रूपिद्रव्यम् ततः षडायतनाख्यमिन्द्रियषट्कम् ततः स्पर्शाख्यः कायः, ततोवेदनादयः, ततश्चपुनरप्यविद्यादयो यथोक्ता, इत्यनादिरियमविद्यादिकाऽन्योन्यमूला चक्र परिवृत्तिः, एतच्च सर्वं पृथिव्यादिभूतभौतिकसंघातमंतरेण नोपपद्यते। अतः संघातभावादिकमुपपन्नम् इति।

यदि कहो कि-अविद्या आदि पदार्थों में, परस्पर हेतुता है, जिससे कि-संघात सद्भावादि उपपन्न हो जाते हैं। यद्यपि सारे भावक्षणिक हैं, तथापि अविद्या द्वारा ये सब उपपन्न होते हैं। क्षणिकता आदि में स्थिरता आदि विपरीत बुद्धि का होना ही अविद्या है, उस अविद्या से ही राग द्वेष आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं, उससे चित्त का स्फुरण रूप विज्ञान पैदा होता है, उस विज्ञान से, संज्ञात्मक चित्त और चैत्तधर्मसमुदाय तथा रूप युक्त पृथिवी आदि समुदाय होते हैं, उससे छः इन्द्रियाँ, स्पर्शनामक देह, उससे वेदना या अनुभूति का जन्म होता है, फिर उसी प्रकार अविद्या

आदि का क्रम चलता है। इस प्रकार अनादिकाल से परस्परमूलक अविद्यादि चक्र घूम रहा है। पृथ्वी आदि भूत भौतिकमय संघात के प्रभाव में यह चक्र बंद हो जाता है। इसलिए संघात सद्भाव ठीक है।

तत्रोत्तरं—न संघातभावानिमित्तत्वात्—इति। नैतदुपपद्यते एषामविद्यादीनां पृथिव्यादिभूतभौतिक संघातभावं प्रत्यनिमित्तत्वात् न खल्वस्थिरादिषु, स्थिरत्वादिवुद्धयात्मिकाऽविद्या तन्निमित्तारागद्वेषादयो वाऽर्थान्तरस्य क्षणिकस्य संहति हेतुतां प्रतिपद्यंते, शुक्तिकारजतादिबुद्धिर्हि न शुक्तयाद्यर्थ संहतिहुतुर्भवति। किं च यस्य क्षणिके स्थिरत्ववुद्धिः सतदैव नष्ट इति कस्य रागादयः उत्पद्यंन्ते। संस्काराश्रयं स्थिरमेकं द्रव्यमनभ्युपगच्छतां संस्कारानुवृत्तिरपि न शक्या कल्पयितुम्।

उसका उत्तर देते हैं—संवात सद्भाव आदि उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि संघात भाव की निमित्त, अविद्या नहीं है। जैसे कि—पृथ्वी आदि भूत भौतिक समुदाय में, अविद्या, निमित्त नहीं है, वैसे ही चक्र भ्रम का सिद्धान्त भी असंगत है। स्थिरता रहित पदार्थों में, स्थिरता बुद्धिवाली अविद्या और उससे उत्पन्न होने वाले रागद्वेष, कभी अन्य क्षणिक पदार्थों के साथ, संघात भाव से समुत्पादन के कारण नहीं हो सकते। सीप में जो चाँदी की प्रतीति होती है, वह कभी सींप आदि पदार्थों के संघात की हेतु नहीं हो सकती। एक बात और भी है कि—क्षणिक पदार्थों में, जिसकी स्थिरत्व बुद्धि होती है वह क्षणिक होने से उसी समय नष्ट हो जाती है, फिर राग आदि होंगे किस आधार पर? जो स्थिरतर किसी एक द्रव्य को, ज्ञान संस्कार का आश्रय नहीं मानते, उनके मतानुसार, ज्ञान संस्कार की जो उत्तरोत्तर अनुवृत्ति है, उसकी कल्पना होगी कैसे?

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्। २।२।१९॥

इतश्च क्षणिकत्वपक्षे जगदुत्पत्तिर्नोपपद्यते, उत्तरक्षणोत्पत्ति वेलायां, पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वात्, तस्योत्तरक्षणं प्रति हेतुत्वानुपपत्तेः, अभावस्य हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येत् अथ पूर्वक्षणवर्त्तित्वमेव

हेतुत्वमित्युच्यते, एवं तर्हि कंचिदेव घटक्षणः तदुत्तरकालभाविनां सर्वषामेव गोमहिषाश्वकुड्यपाषाणादीनां त्रैलोक्यवर्त्तिनां हेतुः स्यात्। अथैक जातीयस्यैव पूर्वक्षणवर्त्तिनो हेतुत्वमिष्यते, तथापि सर्वदेशवर्त्तिनामुत्तरक्षणभाविनां घटानामेक एव पूर्वक्षणवर्त्तिघटो हेतुः स्यात्, अथैकस्यैव हेतुरेक इति मनुषे, तथापि, कस्यैकस्य को हेतुः ? इति न ज्ञायते। अथ यस्मिन् देशे यो घटक्षणः स्थितः, तद्देशसंबंधिन एवोत्तरक्षणस्य स हेतुरिति; किं देशस्य स्थिरत्वं मनुषे ? किंच चक्षुरादिसंप्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानवियत्वं संभवति।

इस लिए भी क्षणिक वादियों के मत से जगदुत्पत्ति संभव नहीं है - कि—कार्य क्षण की उत्पत्ति के समय ही, कारण क्षण तत्काल नष्ट हो जाता है, इसलिए वह, परवर्त्ती कार्यक्षण का, कारण तो कहलायेगा नहीं। यदि पूर्वक्षण के ध्वंस को ही कारण मानें तो, सभी स्थानों में, सभी क्षणों में, सभी कार्यों की उत्पत्ति होती रहेगी। यदि कहो कि—पूर्वक्षण की जब स्थिति रहती है, उसे ही हेतु मानते हैं, तो उत्तर काल में होने वाले गाय, भैंस, घोड़ा, भींत-पत्थर आदि सभी जागतिक पदार्थों का वह हेतु होगा (किसी विशेष का कारण कैसे स्थिर करोगे ?) यदि कहो कि हम एक जातीय पूर्वक्षण को ही कारण मानते हैं, तो पूर्वक्षण-वर्त्ती एक ही घट, उत्तर क्षणवर्त्ती, सर्व देशीय सभी घटों का कारण माना जावेगा। यदि एक क्षण को, एक कार्य का ही, कारण मानो, तो कौन सा क्षण किस कार्य का कारण है ? इसका निर्णय कैसे करोगे ? यदि कहो कि—जिस स्थान में जो घटक्षण है, वह उसी स्थान में स्थित उत्तर घटक्षणों का कारण होगा। तो क्या आप उस स्थान को स्थिरतर मानते हैं ! और भी एक बात है नेत्र के साथ जो पदार्थ का संबंध होता है, ज्ञानोत्पत्ति काल में यदि वह पदार्थ विद्यमान न रहेगा, तो कोई भी पदार्थ, ज्ञान का विषय होगा कैसे ?

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा। २।२।२०॥

असत्यपिहेतौ कार्यमुत्पद्यते चेत्, सर्वं सर्वत्रसर्वदोत्पद्येतेत्युक्तम्,

न केवलमुत्पत्ति विरोध एव, प्रतिज्ञा च भवतामुपरुध्येत, अधिपति-सहकार्यालम्बनसमनन्तर प्रत्ययाश्चत्वारो विज्ञानोत्पत्तौ हे तवः इति वः प्रतिज्ञाः, अधिपतिः इन्द्रियम्। अथ प्रतिज्ञानुपरोधाय घट क्षणे स्थित एव घटक्षणान्तरोत्पत्तिरिष्यते तथा च सति द्वयोः कार्यकारणयोर्यौगपद्ये नोपलब्धिः प्रसज्येत, न च तथोपलभ्यते, क्षणिकत्व प्रतिज्ञा चैवं हीयेत। क्षणिकत्वं स्थितमेवेति चेत्--इंद्रियसंप्रयोगज्ञानयोर्यौगिपद्यं प्रसज्येत्।

हेतु के अभाव में भी यदि कार्य की उत्पत्ति मानो तो, हर समय, हर स्थान में, हर कार्य की उत्पित्त होती रहेगी। इतना ही नहीं, तुम्हारी प्रतिज्ञा में भी व्याघात होगा, तुम्हारी प्रतिज्ञा है कि—अधिपति, सहकारी अवलंबन और समनंतर प्रत्यय, इन चार कारणों से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। अधिपति का अर्थ इन्द्रिय है। उक्त दोष के परिहार के लिए, यदि एक ही घटक्षण के समकाल में, अपर घट की उत्पत्ति मानों तो, कार्य और कारण दोनों घटक्षणों की, एक साथ उपलब्धि होती, दो क्षणों की, एक साथ स्थिति कहीं भी देखी नहीं जाती, इसलिए तुम्हारा क्षणिकवाद हीन सिद्ध होता है। यदि कहो कि क्षणिकत्व का सिद्धान्त ही स्थिर है, तब तो विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग और तद्विषक ज्ञान, एक साथ होंगे [जो कि तुम्हें स्वीकार नहीं है]

प्रतिसंख्या प्रतिसंख्या निरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्।२।२।२१॥

एवं तावदसत् उत्पत्ति निरस्ताः, सतो निरन्वयविनाशोऽपि नोपपद्यत इत्युच्यते, क्षणिकत्ववादिभिर्मुद्गराभिधाताद्यनंतरभावित-योपलब्धियोग्यः सदृशसंतानावसानरूपः स्थूलो यः, सदृशसंताने प्रतिक्षणभावी चोपलब्ध्यनर्हः सूक्ष्मश्च यो निरन्वयो विनाशः प्रति-संख्यानिरोधाप्रतिसंख्यानिरोधशब्दाभ्यामभिधीमते, तौन संभवत इत्यर्थः। कुतः ? अविच्छेदात्—सतो निरन्वयविच्छेदासंभवात्। असंभवश्चसत् उत्पत्तिविनाशौ नामावस्थान्तरापत्तिरेव, अवस्था योगि

तु द्रव्यमेकमेव स्थिरमिति कारणादन्यत्वं कार्यस्योपपादयद्भिरस्माभिः 'तदनन्यत्वम्' इत्यत्र प्रतिपादितम्। निर्वाणस्य दीपस्य निरन्वयविनाश-दर्शनादन्यत्ररपि विनाशो निरन्वयोऽनुमीयत इति चेन्त, घटशरावादौ मृदादिद्रव्यानुवृत्त्युपलब्ध्या सतो द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव विनाश इति निश्चिते सति, प्रदीपादौ सूक्ष्मदशापत्त्याऽप्यनुपलब्धोपपत्तेः। तत्राप्यवस्थान्तरापत्ति कल्पनस्यैव युक्तत्वात्।

असद् उत्पत्ति का निराकरण कर चुके अब सत् के निरन्वय और विनाश की अनुपपत्ति बतलावेंगे। क्षणिकतावादी मुद्‌गर प्रवाह के बाद के क्षण में उपलब्धि के योग्य समान प्रवाहों की स्थूल परम्परा के विनाश को प्रति संख्या निरोध, तथा उन प्रवाहों के मध्यवर्ती अतिसूक्ष्म उपलब्धि के अयोग्य प्रवाहों के विनाश को अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। अर्थात् स्थूल विनाश का नाम प्रतिसंख्यानिरोध और सूक्ष्म विनाश का नाम अप्रति संख्या निरोध है। ये दोनों नहीं हो सकते क्योंकि—जिसका कारण के साथ किसी प्रकार का संयोग ही न होगा, उसके विनाश का प्रश्न ही नहीं उठता। सत्पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश तो, अवस्थान्तर प्राप्ति मात्र है। "तदन्यत्वम्" इत्यादि सूत्र के प्रसंग इसका प्रतिपादन कर चुके हैं, अवस्थावान् द्रव्य स्थिरतर एक ही है, इसलिए कारण से कार्य, भिन्न वस्तु है। यदि कहें कि—दीप निर्वाण के बाद, दीप का निरन्वय (स्थूल) विनाश देखा जाता है, उसी के अनुसार अन्यत्र भी, निरन्वय विनाश का अनुमान किया जा सकता है। नहीं ऐसा नहीं कर सकते। घट प्याला-आदि सत्तावान पदार्थों में, उनकी कारण मिट्टी की अनुवृत्ति दिखलाई पड़ती है, जिससे निश्चित होता है कि—सत्पदार्थ की अवस्थान्तर प्राप्ति का नाम ही विनाश है। विनाश के बाद, प्रदीप आदि के रहते हुए भी, दीप ज्वाल का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका एकमात्र कारण है कि—वह सूक्ष्म है। स्थूल तत्त्व की ही अवस्थांतर विनाश कल्पना की जा सकती है।

उभयथा च दोषात् ।२।२।२२॥

क्षणिकत्ववादिभिरभ्युपेता तुच्छादुत्पत्तिः उत्पन्नस्य तुच्छता-

पत्तिश्च न संभवतीत्युक्तम्, तदुयमप्रकाराभ्युपगतौ दोषश्च भवति। तुच्छादुत्पत्तौ तुच्छात्मकमेव कार्यं स्यात्, यद्हि यस्मादुत्पद्यते, तत्तदात्मकंदृष्टम्-यथा मृत्सुवर्णादेरुत्पन्नं मणिमकुटादि मृत्सुवर्णाद्यात्मकं दृष्टम्, न च जगत्तुच्छात्मकं भवद्भिरभ्युपगम्यते, न च प्रतीयते। सतो निरन्वयविनाशे सत्येकक्षणादूर्ध्वं कृत्स्नस्य जगतः तुच्छतापत्तिरेव स्यात् पश्चात्तुच्छाज्जगदुत्पत्तौ अनंतरोक्तं तुच्छात्मकत्वमेवस्यात्। अत उभयथाऽपि दोषान्न भवदुक्तप्रकारावुत्पत्तिनिरोधौ।

क्षणिक वादी कहते हैं कि—कार्य वस्तु तुच्छ कारण से उत्पन्न होती है और उत्पत्ति के बाद भी तुच्छ रूपता को ही प्राप्त होती है, उनकी यह बात भी संभव नहीं है, दोनों बातें दोषपूर्ण हैं। तुच्छ से उत्पन्न होनेवाला कार्य भी तुच्छात्मक ही होगा, जो जिससे उत्पन्न होता है वह वैसा ही देखा जाता है जैसे कि मिट्टी सुवर्ण आदि से निर्मित घट-मुकुट आदि मिट्टी सुवर्णात्मक ही दीखते हैं। आप स्वयं भी जगत को तुच्छात्मक नहीं स्वीकारते, और न ऐसी प्रतीति ही होती है। सत्पदार्थ का यदि निरन्वय विनाश ही ठीक है तो अवस्थिति के तत्काल बाद ही सारे जगत की तुच्छता हो जायगी, तुच्छ कारण से यदि जगत की उत्पत्ति हो तो भी वही तुच्छता होगी, इस प्रकार दोनों ही प्रकारों से दोष की संभावना होने से तुम्हारा उत्पत्ति विनाश का सिद्धान्त, असंगत ठहरता है।

आकाशे चाविशेषात्।२।२।२३॥

वाह्याभ्यंतरवस्तुनः स्थिरत्वप्रतिपादनाय प्रतिसंख्याप्रतिसंख्या निरोधयोस्तुच्छरूपता निराकृता, तत्प्रसंगेन ताभ्यांसह तुच्छत्वेन सौगतैः परिगणितस्याकाशस्यापि तुच्छता प्रतिक्षिप्यते। आकाशे च निरुपाख्यता न युक्ता, भावरूपत्वेनाभ्युपगतपृथिव्यादिवदाकाशस्यापि अबाधितप्रतीति सिद्धत्वाविशेषात्। प्रतीयते हि आकाशः "अत्रश्येनः पतति, अत्रगृध्रः" इतिश्येनादिपतनदेशत्वेन।

वाह्य और आभ्यंतर पदार्थों की स्थिरता बतलाने के लिए प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या निरोध की तुच्छरूपता का निराकरण किया गया, बौद्ध इन दोनों के साथ आकाश को भी तुच्छ बतलाते हैं, प्रसंगत उसका भी निराकरण करते हैं। आकाश की तुच्छता युक्ति संगत नहीं है, जब पृथ्वी आदि का अस्तित्व स्वीकारते हो, उसी प्रकार आकाश की भी तो प्रतीति होती है, उसका अस्तित्व क्यों नहीं मानोगे ? "आकाश में बाज उड़ता है, गिद्ध उड़ता है" ऐसे बाज आदि के उड़ने के स्थान रूप से, आकाश की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है।

न च पृथिव्याद्यभावमात्र प्रकाश इति वक्तुं शक्यम्, विकल्पासहत्वात्। पृथिव्यादेः प्रागभावः, ध्वंसाभावः, इतरेतराभावः अत्यन्ताभावोवा आकाशः, सर्वथाऽप्याकाश प्रतीत्यनुपपत्तिः स्यात्। प्रागभावप्रध्वंसाभावयोराकाशत्वे पृथिव्यादिषु वर्त्तमानेषु आकाश प्रतीत्ययोगात् निराकाशं जगत्स्यात्। इतरेतराभावस्याकाशत्वेऽपि इतरेतराभावस्य तत्तद्वस्तुगतत्वेन तेषामंतराले आकाश प्रतीतिर्नस्यात्। अत्यंताभवस्तु पृथिव्यादीनां न संभवति। अभावस्य विद्यमानपदार्थावस्था विशेषत्वोपपादनाच्चाकाशस्याभावरूपत्वेऽपि न निरुपाख्यत्वम्। अंडान्तर्वर्तिनश्चाकाशस्य त्रिवृत्करणोपदेश प्रदर्शित पंचीकरणेन रूपवत्वात् चाक्षुषत्वेऽप्यविरोधः।

यह नहीं कह सकते कि—पृथ्वी आदि सत्तावान पदार्थों का अभाव ही आकाश है, ऐसा कहना विचार पूर्ण नहीं होगा। पृथ्वी आदि के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव में से किस प्रकार का अभाव आकाश को मानोगे। इनमें से किसी भी प्रकार को मान लो, आकाश की प्रतीति में तो कोई बाधा आने से रही। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव मानते हो तो पृथिवी आदि के रहते हुए, आकाश की प्रतीति कभी हो नहीं सकती, जगत को आकाश शून्य होना चाहिए। यदि इतरेतराभाव मानते हो तो, यह अभाव जब वस्तुनिष्ठ है, तब आकाश की प्रतीति हो नहीं सकती। पृथिवी आदि का अत्यंताभाव तो हो नहीं सकता, इसलिए आकाश, अत्यंताभाव रूप नहीं है। विद्यमान भाव पदार्थ की, अवस्था

विशेष को ही अभाव माना जाय तब भी आकाश अभाव स्वरूप होते हुए भी तुच्छ नहीं हो सकता। त्रिवृतकरण श्रुति में प्रदर्शित पंचीकरण पद्धति के अनुसार, ब्रह्माण्डान्तर्गत आकाश में, नीलिमा रूप की स्थिति प्रमाणित होती है, आकाश चाक्षुष विषय है, इसलिए भी उसका अस्तित्व मान्य है।

अनुस्मृतेश्च ।२।२।२४॥

पूर्वंप्रस्तुतं वस्तुनः स्थिरत्वमेवोपपाद्यते–अनुस्मरणं–पूर्वानुभूत-वस्तु विषयं ज्ञानम्–प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः। तदेवेदमिति सर्ववस्तुजातं अतीतकालानुभूतं प्रत्यभिज्ञायते। न च भवद्भिर्ज्वालादिष्विव सादृश्यनिबंधनोऽयमेकत्वव्यामोह इति वक्तुं शक्यम्। व्यामुह्यतो ज्ञातुरेकस्यानभ्युपगमात्। तर्हि अन्यानुभूतेनैकत्वं सादृश्यं वा स्वानुभूतस्यान्योऽनुसंधत्ते। अतोभिन्नकालवस्त्वाश्रयसादृश्यानुभवनिबंधनमेकत्वव्यामोहं वदद्भिः ज्ञातुरेकत्वमवश्याश्रयणीयम्।

पहिले जो वस्तु की स्थिरता प्रतिपादन की गई, यहाँ उसका ही उपपादन किया जायेगा। अनुस्मृति का अर्थ है, पूर्वानुभूत वस्तु विषयक ज्ञान, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा। पूर्वानुभूत समस्त वस्तु "यह वही वस्तु है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा, ज्ञान का विषय होती है। आप यह नहीं कह सकते कि–अग्नि की ज्वालाओं में जैसे सदृशता होने से, एक ज्वाला का सा भ्रम होता है, वैसे ही यह प्रत्यभिज्ञा भी, सादृश्य भ्रम मूलक है। क्योंकि–आप किसी मोह ग्रस्त एक ही ज्ञाता व्यक्ति का अस्तित्व तो मानेगे ही नहीं। दूसरा कोई व्यक्ति किसी अन्य के अनुभूत विषय के साथ, अपनी स्वानुभूति की एकता तो मानता नहीं है। इसलिए–जिसने, विभिन्न कालवर्त्ती वस्तुनिष्ठ सादृश्यानुभव मूलक एकत्व भ्रम निर्देश किया, दोनों कालों में अनुभव करने वाला कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

न च ज्ञेयेष्वपि घटादिषु ज्वालादिष्विव भेदसाधन प्रमाणमुपलभामहे, येन सादृश्य निबंधनां प्रत्यभिज्ञां कल्पयेम्। यदपि चेदमुच्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यां घटादेः क्षणिकत्वं सिध्यति, प्रत्यक्षं तावत् वर्त्तमानार्थविषयमवर्त्तमानाद्वस्तुनो व्यावृत्तं स्वविषयमवगमयति,

नीलं इव पीतात् एवं च भूतभविष्यद्भ्यां वर्त्तमानस्य वस्त्वंतरत्वमवगतं भवति। अनुमानमपि अर्थ क्रियाकारित्वात् सत्वाच्च घटादिः क्षणिकः यदक्षणिकं शशविषाणादि, तदनर्थक्रियाकार्यसच्च। तथा अन्त्य घटक्षणसत्वात् पूर्वघटक्षणसत्त्वानि विनाशीनि, घटक्षणसत्वात् अंत्यघटक्षणसत्ववत् इति। तच्चकार्यंकारणभावानुपपत्यादिभिः पूर्वमेव निरस्तम्।

अग्निशिखा आदि में जैसा भेद साधक प्रमाण मिलता है, ज्ञातव्य घट आदि में वैसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे कि--प्रत्यभिज्ञा को सादृश्य-मूलक भ्रम कहा जा सके। जो यह कहा कि—प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से ही घटादि की क्षणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि वर्त्तमान विषय का ही ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। जैसे कि पीतिमा से नीलिमा भिन्न दीखती है। वैसे ही--प्रत्यक्ष प्रमाण, अपने विषय की, भूत और भविष्य से पृथक् प्रतीति कराता है। तथा क्षणिकवाद की सिद्धि के लिए जो अनुमान किया जाता है कि--घट आदि पदार्थ में, अर्थ क्रियाकारिता तथा सद्रूपता के कारण क्षणिकता की प्रतीति होती है। जो अक्षणिक शशशृंग आदि हैं वे अनर्थ क्रियाकारी असत् हैं। परवर्त्ती घटक्षण की अपेक्षा, पूर्ववर्त्ती घटक्षण का अस्तित्व, विनाशशील होने से ही, घटक्षण का अस्तित्व सिद्ध होता है, जैसे कि—अंतिम घटक्षण का अस्तित्व। इत्यादि कार्यकारण भाव की अनुपपत्ति बतलाते हुये इस मत का पहिले ही निराकरण कर चुके हैं।

किं च प्रत्यक्षगम्या वर्त्तमानस्यावर्त्तमानाद्व्यावृत्तिर्नवर्त्तमानस्य वस्त्वंतरत्वमवगमयति, अपितु वर्त्तमान कालयोगिता मात्रम्। न च तावता वस्त्वंतरत्वं सिध्यति, तस्यैवकालान्तरयोग संभवात्। यत्तु सत्वादर्थ क्रियाकारित्वाच्चेति क्षणिकत्वे हेतुद्वयमुक्तम्, तदभिमतविपरीत साधनत्वाद्विरूद्धम्। सत्वादर्थ क्रियाकारित्वाद् वा घटादि स्थास्नु, तदस्थास्नु, तदसदनर्थ क्रियाकारि च यथा शशविषाणमित्यपि हि वक्तुं शक्यम्, किं च अर्थ क्रियाकरित्वमक्षणिकत्वमेव

साधयेत्। क्षणध्वंसिनो हि व्यापारासंभवादर्थक्रियाकारित्वं च संभवतीत्युक्तम्।

एक बात और भी है कि–वर्त्तमान की जो अवर्त्तमान वस्तु से व्यावृत्ति (भेद) है, वह प्रत्यक्ष होते हुए भी, वस्तुतः उस वस्तु से भिन्नता नहीं बतलाती अपितु उस वस्तु का वर्त्तमान में अस्तित्व ही ज्ञापन करती है, इसलिए उसकी पृथक् वस्तुता नहीं सिद्ध होती और उस वर्त्तमान वस्तु का अतीतकाल के साथ संबंध स्थापित होना सरल हो जाता है। क्षणिकत्व साधन के लिए जो सत्त्व और अर्थ क्रियाकारिता, इन दो कारणों का उल्लेख किया है, वह भी तुम्हारे अभिप्राय का प्रतिपादक न होकर विरूद्ध ही सिद्ध होता है। उससे क्षणिकता सिद्ध नहीं होती। ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि–घट आदि स्थास्नु (स्थिर) हैं, इस लिए सत् और अर्थ क्रियाकारी हैं, जो स्थिर नहीं है, वह असत् और अनर्थ क्रियाकारी हैं, शशविषाणादि उसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। तथा–अर्थ क्रियाकारिता वस्तु की अक्षणिकता का भी साधन करती है, क्षण-ध्वंसी पदार्थों में जब किसी प्रकार की कार्यक्षमता ही नहीं है, तब उसमें अर्थ क्रियाकारिता भी संभव नहीं है, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं।

तथा अन्त्य घट क्षणस्य हेतुतो नाशदर्शनादितरेऽपि घटक्षणा हेत्वपेक्षविनाशाः स्युरित्यामुद्गरादिहेतु उपनिपातात् स्थास्नुत्वमेव। न च वाच्यं, न मुद्गरादयो विनाशहेतवः, अपितु कपालादि विस-दृश संतानोत्पत्ति हेतव इति, कपाल त्वावस्थापत्तिरेव घटादीनां विनाश इत्युपपादित्वात्। कपालोत्पत्तिव्यतिरिक्तत्वाभ्युपगमेऽपि विनाशस्य विनाशहेतुत्वमेव मुद्गरादेरानन्तर्याद्युक्तम्। अतः प्रत्यभि-ज्ञाया स्थिरत्वमवगम्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यम्। पूर्वापरकाल संबंध्यर्थैक्य विषयायाः प्रत्यभिज्ञाया अन्यविषयत्वं ब्रुवन्नीलादिज्ञानानामपि नीलादेरर्थान्तर विषमत्वं ब्रूयात्।

तथा–अंतिम घट क्षण का जब कारणाधीन विनाश देखा जाता है, तब अन्यान्य घटक्षणों का कारणाधीन विनाश भी निश्चित है।

यह भी नहीं कह सकते कि–मुद्गर आदि विनाश के कारण नहीं हैं, केवल कपाल के रूप में परिवर्त्तित घटावयव ही विनाश के कारण हैं; कपाल के रूप में परिवर्त्तित हो जाना ही तो घट का विनाश है, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। विनाश को यदि, कपाल से भिन्न मानते हो तो, मुद्गर के प्रहार के बाद जो घट का विनाश दीखता है, उसे देखकर मुद्-गर आदि ही विनाश के कारण सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा से ज्ञात वस्तु की स्थिरता को, किन्हीं भी प्रमाणों से झुठलाया नहीं जा सकता। और यदि अतीत और वर्त्तमान कालवर्त्ती, एक वस्तु विषयक प्रत्यभिज्ञा के विषय भेद की कल्पना करते हो तो, नीलिमा विषयक ज्ञान को भी, नीलादि भिन्न पदार्थ विषयक मानना पड़ेगा।

किं च प्रमातृप्रमेययोः क्षणिकत्वं वदद्भिर्व्याप्त्यवधारणतत्स्म-रणपूर्वकानुमानाभ्युपगमोऽपि दुःशकः। तथा इदं क्षणिकमित्यादि प्रतिज्ञापूर्वकहेतुपन्यासादिकमपि नोपपद्यते भवताम्। प्रतिज्ञोप-क्रमक्षण एव वक्तुर्विनष्टत्वात् नहि अन्येनोपक्रान्तमजानद्भिरन्यैः समापयितुं शक्यम्।

तथा जो–प्रमाता (ज्ञाता) और प्रमेय (ज्ञेय) इन दोनों के अनुमानो-पयोगी व्याप्ति के अवधारण और उसके स्मरण पूर्वी अनुमान की कल्पना को भी सहज नहीं माना जा सकता, ऐसा मानने से "यह क्षणिक है" इत्यादि प्रतिज्ञा का उल्लेख भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि–आप के मतानुसार तो साध्यनिर्देश के उपक्रम काल तक वक्ता को नष्ट हो जाना चाहिए, दूसरे को वह बता भी कैसे सकेगा तथा दूसरा बिना जाने उस कार्य को पूरा भी कैसे कर सकेगा।

नसतोऽदृष्टत्वात् ।२।२।२५

एव तावद्वैभाषिक सौतांत्रिकयोर्वाह्यास्तित्ववादिनोः साधरणानि दूषणान्युक्तानि, तत्र यदुक्तं–संप्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्ति-कालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानविषयत्वं संभवतीति, तत्र सौतांत्रिक प्रत्यवतिष्ठते–न ज्ञानकालेऽनवस्थानमर्थस्य ज्ञानाविषयत्व

हेतुः ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वमेवहि ज्ञानविषयत्वम्। न चैतावता चक्षुरादेः ज्ञानविषयत्व प्रसंगः, स्वाकार समर्पणेन ज्ञानहेतोरेव ज्ञानविषयत्वाभ्युपगमात्। ज्ञाने स्वाकारं समर्प्यं विनष्टोऽप्यर्थो ज्ञानगतेन नीलाद्याकारेणानुमीयते। न च पूर्वं पूर्वं ज्ञानेनोत्तरोत्तरज्ञानाकारसिद्धिः, नीलज्ञान संततौ पीतज्ञानानुत्पत्ति प्रसंगात्। अतोऽर्थकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यम्।

वाह्य पदार्थ के अस्तित्व मानने वाले, वैभाषिक और सौत्रांतिकों के मत के साधारण दोषों का दिग्दर्शन कराया गया। उनमें जो यह कहा कि–ज्ञानोत्पत्ति के समय इन्द्रिय संयुक्त विषय की स्थिति न होने से, कोई वस्तु ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। इस पर सौत्रांतिक, प्रतिपक्षी के रूप में कहते हैं कि–ज्ञान के समय वस्तु की स्थिति नहीं रहती, इसलिए वस्तु का ज्ञान नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि–ज्ञान का विषय ही ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होता है, दृश्यवस्तु से जब प्रतिदिन ज्ञान होता है तब वह ज्ञान का विषय कैसे न होगा ? चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही ज्ञान का विषय हो जावेगी, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि—जो अपने आकार सहित ज्ञानोत्पादन कराता है, वही ज्ञान का विषय कहा जा सकता है। नील आदि दृश्य पदार्थ अपने आकार से, नीलिमा विषयक ज्ञान कराकर यदि नष्ट भी हो जावें, तो भी नीले आकार को देखकर उनका अनुमान हो सकता है। यह नहीं कह सकते कि पूर्व पूर्व ज्ञान की सहायता से ही उत्तरोत्तर ज्ञान के आकार की सिद्धि होती है, ऐसा मानने से नीलाकार में पीताकार की प्रतीति न हो सकेगी इसलिए मानना होगा कि ज्ञेय विषय ही, ज्ञानगत वैचित्र्य (पार्थक्य) का कारण होता है।

अत्रोच्यते—"नासतोऽदृष्टत्वात्" इति, योऽयं ज्ञाने नीलादिराकार उपलभ्यते, स विनष्टस्यासतोऽर्थस्याकारो भवितुं नार्हति, कुतः ? अदृष्टत्वात्–न खलु धर्मिणि विनष्टे तद्धर्मस्यार्थान्तरे संक्रमणं दृष्टम्। प्रतिबिंबादिकमपि स्थिरस्यैव भवति। तत्रापि न धर्ममात्रस्य। अतोऽर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यमर्थस्य ज्ञानकालेऽवस्थानादेव भवति।

उक्त मत पर सूत्रकार-"नासतोऽदृष्टत्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, वे कहते हैं कि-असत् में कार्य जनन शक्ति कदापि संभव नहीं है, ज्ञान में जो, नीलादि विषयक आकार दीखता है, वह कभी विनष्ट अर्थात् असत् पदार्थ का आकार नहीं हो सकता, ऐसा कहीं भी देखा नहीं जाता धर्म या गुण जिसके आश्रय में रहता है, वह धर्मी यदि नष्ट हो जाय तो, उसका धर्म कहीं अन्यत्र संक्रामित हो जाता है, ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। प्रतिबिंब भी, स्थिर वस्तु में ही संक्रमित होता है। प्रतिबिंब में केवल धर्म का संक्रमण नहीं होता। इसलिए दृश्य पदार्थ की विचित्रता से जन्य जो ज्ञान वैचित्र्य है, वह ज्ञान के समय, ज्ञेय पदार्थ की स्थिति में ही संभव हो सकता है।

पुनरपि साधारणं दूषणमाह—पुनः साधारण दुषण बतलाते है—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः।२।२।२६॥

एवं क्षणिकत्वासदुत्पत्त्यहेतुक विनाशाद्यभ्युपगमे उदासीनानामनुद्युंजानानामपि सर्वार्थ सिद्धिः स्यात्, इष्ट प्राप्तिरनिष्टिनिवृत्तिर्वा प्रयत्नादिभिः साध्यते, क्षणध्वंसे हि सर्वेषां भावानां पूर्व पूर्व वस्तु तद्गतो वा विशेषः संस्कारादिको विद्यादिर्वा उत्तरत्र न कश्चिदनुवर्तत इति प्रयत्नादिसाध्यं न किंचिदस्ति। एवं सत्यहेतुसाध्यत्वात् सर्वसिद्धीनामुदासीनानामप्यैहिकामुष्मिक फलं मोक्षश्च सिध्येत्।

क्षणिकता, असदुत्पत्ति और अहेतुक विनाश स्वीकारने से उदासीन निश्चेष्ट व्यक्तियों की अभिलाषा भी स्वतः सिद्ध हो जायेगी, तथा साधारण प्रयास से अभिष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति हो जायेगी सारे पदार्थ यदि क्षणिक होंगे तो समस्त भाव पदार्थों की, पूर्व पूर्व वस्तु और उनके संस्कार आदि या विद्या आदि विशेषतायें, परवर्त्ती पदार्थो में अनुवृत्त न हो पावेगी, जिसके फलस्वरूप प्रयास करने पर भी कोई कार्य न हो सकेगा। ऐसा मानने से, बिना कारण के फलावाप्ति होगी, जिससे निश्चेष्ट उसीसीन व्यक्ति भी, ऐहिक सुख और पारलौकिक मोक्ष आदि सब कुछ अनायास ही प्राप्त कर लेगे।

४ उपलब्ध्यधिकरणः—

नाभाव उपलब्धेः ।२।२।२७॥

विज्ञानमात्रास्तित्व वादिनो योगाचाराः प्रत्यवतिष्ठंते । यदुक्तमर्थवैचित्र्यकृतं, ज्ञानवैचित्र्यमिति, तन्नोपपद्यते, अर्थवत् ज्ञानानामेव साकाराणां स्वयमेव विचित्रत्वात् । तच्च स्वरूपवैचित्र्यं वासनावशादेवोपपद्यते । वासना च विलक्षण प्रत्यय प्रवाह एव । यद् घटाकारज्ञानं कपालाकार ज्ञानस्योत्पादकं, तस्यतथाविधस्योत्पादकं तत् पूर्व घटज्ञानम् । तस्य च तथा विधस्योत्पादकं ततः पूर्व घट ज्ञानं इत्येवं रूपः, प्रवाह एव वासनेत्युच्यते । कथंवहिष्ठ सर्षपमहीधराकार आन्तरस्य ज्ञानस्येत्युच्यते ? इत्थम् अर्थस्यापि व्यवहार योग्यत्वं ज्ञानप्रकाशायत्तं, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशय प्रसंगात् । प्रकाशमानस्य च ज्ञानस्य साकारत्वमवश्याश्रयणीयम्, निराकारस्य प्रकाशायोगात् । एकश्चायमाकार उपलभ्यमानो ज्ञानस्यैव । तस्य च वहिर्वदवभासोऽपि भ्रमकृतः । ज्ञानार्थयोः सहोपलम्भ नियमाच्च ज्ञानादव्यतिरिक्तोऽर्थः ।

विज्ञान मात्र का अस्तित्व स्वीकारने वाले योगाचार बौद्ध, प्रतिपक्षी रूप में उपस्थित होते हैं, उनका कथन है कि तुम लोग जो वाह्य पदार्थों की विचित्रता से ज्ञान की विचित्रता मानते हो, वह असंगत है, क्योंकि वाह्य पदार्थों की तरह, ज्ञान और ज्ञानी का आकार स्वयं ही विचित्रता पूर्ण होता है। उस स्वाभाविक विचित्रता के वासनात्मक संस्कारवश ही, उस ज्ञाता में, वस्तु के प्रति विचित्रता की भावना होती है। विभिन्न प्रकार के ज्ञान प्रवाह का नाम ही तो वासना है। घटाकार संबंधी जो ज्ञान होता है, वही उस घट के पूर्वरूप, कपाल के आकार का ज्ञान भी, उत्पन्न कर देता है घट संबंधी ज्ञान भी उसी प्रकार होता है। इस प्रकार के ज्ञान प्रवाह का नाम ही वासना है। वाह्य स्थित सरसों पहाड़ आदि का आकार, आंतरिक ज्ञान का विषय है, यह कैसे कहते

हो ? वह इस प्रकार है—वाह्य पदार्थों की जो व्यवहार योग्यता होती है, वह ज्ञान प्रकाशक के अधीन होती है—(अर्थात् कोई ज्ञाता व्यक्ति अपनी स्वानुभूति के अनुसार किसी वस्तु के नाम गुण आदि का निर्देश करता है, तभी वह वस्तु उस नाम गुण आदि से व्यवहृत होती हैं) यदि ऐसा नहीं मानोगे तो, अपने और पराये व्यवहार्य पदार्थ में भेद करना कठिन होगा। प्रकाशमान ज्ञान की साकारता भी स्वीकारनी होगी, निराकार का तो प्रकाश हो नहीं सकता ज्ञेय और ज्ञान में जो समानाकार प्रतीत होती है, वस्तुतः वही ज्ञान का आकार है, उस आकार को वाह्य मानना नितांत भ्रम है। ज्ञान और ज्ञेय की जो एक साथ उपलब्धि होती है, उससे यह स्पष्ट है कि—ज्ञान से ज्ञेय अभिन्न है।

किं च वाह्यमर्थमभ्युपयद्भिरपि घटपटादिविज्ञानेषु ज्ञानस्य तत्तदर्थासाधारण्यं तत्तदर्थसारूप्यमंतरेण नोपपद्यत इत्यवश्यं ज्ञानेऽर्थस्वरूपं रूपमास्थेयम्। तावतैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः तद्व्यतिरिक्तार्थ कल्पना निष्प्रामाणिका। अतोविज्ञान मात्रमेव तत्त्वम्, न वाह्यार्थोऽस्ति इति।

जो लोग ज्ञान के अतिरिक्त वाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, उनके मत में भी, घट पट आदि के जो विशेष गुण रूप आदि हैं, वे ग्राह्य विषय की तरह, किन्ही अन्य में तो हो नहीं सकते। इसलिए ज्ञान विषय के अनुरूप, कोई एक रूप अवश्य स्वीकारना होगा। एक मात्र ज्ञानीय आकार को मान लेने से ही, जब सारे लौकिक व्यवहार संपन्न हो सकते हैं, तब उस ज्ञान से भिन्न विषय की कल्पना करना निष्प्रामाणिक है। एक मात्र विज्ञान ही सत्य पदार्थ है, उससे भिन्न वाह्य कोई वस्तु नहीं है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे "नाभाव उपलब्धेः" इति। ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस्याभावो वक्तुं न शक्यते, कुतः? उपलब्धेः, ज्ञातुरात्मनोऽर्थविशेष व्यवहारयोग्यतापादन रूपेण ज्ञानस्योपलब्धेः। एवमेव हि सर्वे लौकिकाः प्रतियंति—"घटमहं जानामि" इति। एवं रूपेण सकर्मकेण सकर्तृकेन ज्ञाधात्वर्थेन सर्वलोकसाक्षिकमपरोक्षमवभाव-

मानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थं इति साधयन्तः सर्वलोकोपहासोपकरणं भवंतीत वेदवादच्छद्म प्रच्छन्न बौद्ध निराकरणे निपुणतरं प्रपंचितम् ।

उक्त मत पर सूत्रकार "नाभाव उपलब्धेः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उनका कथन है कि - ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य विषयों को अस्तित्व हीन नहीं कह सकते; क्यों कि—ज्ञाता को जो ज्ञान की उपलब्धि होती है वह अपने प्रयोजनानुरूप विशेष व्यवहार निष्पादन के रूप से होती है। सामान्यतः लोग "मैं घट जानता हूँ" ऐसा ही अनुभव करते हैं। सब के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशमान, ऐसे सकर्मक, सकर्तृक, ज्ञा धातु का अर्थ यदि, केवल ज्ञान और पारमार्थिक ही मान लें तो उपाहास्पद होगा। यह बात हम, वेदवाद की आड़ में छिपकर बौद्धमत का प्रचार करने वालों (शंकर) के मत का निराकरण करते समय, विस्तृत रूप से कह चुके हैं।

यत्तु—"सहोपलम्भ नियमादभेदो नीलतद्धियोः" इति, तत्स्ववचन विरुद्धम्, साहित्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात्। तदर्थंव्यवहार योग्यतैकस्वरूपस्य ज्ञानस्यतेन सहोपलम्भ नियमस्तस्मादवैलक्षण्यसाधनमिति च हास्यम्। निरन्वयविनाशिनां ज्ञानानामनुवर्त्तमानस्थिराकारविरहाद्वासना च दुरुपपादा। विनष्टेन पूर्वज्ञानेनानुत्पन्नमुत्तरज्ञानंकथं वास्यंते। अतोज्ञानवैचिश्र्यमप्यर्थवैचिश्र्यकृतमेव। तत्तदर्थं व्यवहारयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसंबंधायत्तं तत्तदसाधारण्यम्। संबंधश्च संयोगलक्षणः। ज्ञानमपि हिद्रव्यमेव। प्रभाद्रव्यस्यप्रदीपगुणभूतस्येव ज्ञानस्याप्यात्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वमविरुद्धमित्युक्त अतो न बाह्यार्थाभावः।

"एक साथ उपलब्धि होने से नील और तद्विषयक ज्ञान का अभेद सिद्ध होता है" यह कथन तो, उनके स्वयं के ही विरुद्ध है, क्योंकि पदार्थगत भेद ही, उक्त प्रकार की प्रतीति कराता है, अर्थात्—यदि पदार्थ भिन्न न हो तो, एक साथ प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता। एक साथ

के व्यवहार में जब, ज्ञान को ही एक मात्र स्वरूप योग्य मानते हो और उस पदार्थ के साथ, एकत्र उपलब्धि के नियम से सहोपलंभन को स्वीकारते हुए, उसके अर्थ के साथ अभेद व्यवस्था का कारण रूप से प्रतिपादन करते हो तब, उपाहास्पद सा प्रतीत होता है।

जिसमें कुछ भी अवशिष्ट न हो ऐसे निरन्वय विनाशशील, ज्ञान समूह के अनुगत स्थिरतर किसी आकार या स्वरूप विशेष के न रह जाने पर ज्ञानीय वासना का अस्तित्व स्थिर करना भी कठिन है। पूर्व ज्ञान के नष्ट हो जाने पर, पूर्व ज्ञान से अनुत्पन्न उत्तर ज्ञान, किस प्रकार वासना का उत्पादन कर सकता है? इत्यादि विचार से निश्चित होता है कि सांसरिक पदार्थों की विचित्रता से ही ज्ञान का भी वैचित्र्य होता है। जिसके फलस्वरूप विशेष विशेष पदार्थों के व्यवहार भेद से, ज्ञानगत वैलक्षण्य संपन्न होता है। वह संबंध, संयोग के अतिरिक्त, कुछ और नहीं है, एवं उक्त ज्ञान भी, निश्चित ही द्रव्य पदार्थगत है। प्रदीप की गुण रूप प्रभा जैसे द्रव्य है, वैसे ही, आत्मा के गुण स्वरूप ज्ञान की भी द्रव्यता है, है, इसमें कोई विरुद्धता नहीं है, ऐसा हम पहिले भी बतला चुके हैं। इसलिए वाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं होता।

यत्परैः स्वप्नज्ञानदृष्टांतेन, जागरित ज्ञानानमि निरालंबनत्व-मुक्तम् तत्राह,

जो स्वप्नगत ज्ञान के द्रष्टांत से, जागरित ज्ञान की निर्विषयता कही, उस पर कहते हैं—

वैधार्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।२।२।२८॥

स्वप्न ज्ञान वैधर्म्याज्जागरितज्ञानानामर्थशून्यत्वं न युज्यते वक्तुम्। स्वप्नज्ञानानिहि निद्रादि दोषदुष्टकरण जन्यानि, बाधितानि च, जागरित ज्ञानानि तु तद्विपरीतानि तेषां न तत्साम्यम्। सर्वेषां च ज्ञानानां अर्थशून्यत्वे भवद्भिः साध्योऽप्यर्थो न सिध्यति। निरालंबनानुमानस्याप्यर्थ शून्यत्वात्। तस्यार्थवत्वे ज्ञानत्वस्यानैकान्त्यात्सुतरामर्थशून्यत्वासिद्धिः।

स्वप्नकालीन ज्ञान से विपरीत, जागरित ज्ञान की समता करते हुए अर्थ शून्यता बतलाना उपयुक्त नहीं है। स्वप्न ज्ञान, निद्राआदि दोषों से कलुषित इन्द्रियों से जन्य होता है, जो कि जगने पर मिथ्या सिद्ध होने पर वाधित हो जाता है। जागरित ज्ञान, इससे एकदम विपरीत होता है, इसलिए उसकी इससे कोई समता नहीं है। सभी ज्ञानों को यदि अर्थशून्य मान लें तो, तुम्हारे अभिप्रेत पदार्थ की भी सिद्धि न हो पावेगी। क्यों कि आधार रहित अनुमान अर्थ शून्य होता है। यदि अनुमान के विषयी भूत पदार्थ का अस्तित्व मानते हो तो, ज्ञान के अनेक हेतु हो जावेंगे, जिससे कि शून्यता की बात ही समाप्त हो जावेगी।

न भावोऽनुपलब्धेः २।२।२९।

न केवलस्यार्थशून्यस्यज्ञानस्य भावः संभवति, कुतः ? क्वाचिदप्यनुपलब्धेः, न हि अकर्तृकस्याकर्मकस्य वा ज्ञानस्य क्वचिदुपलब्धिः। स्वप्नज्ञानादिष्वपिनार्थशून्यत्वमिति ख्याति निरूपणे प्रतिपादितं।

वाह्य पदार्थों का अस्तित्व समाप्त हो जाने पर,केवल ज्ञान का ही अस्तित्व शेष रह जाय ऐसा कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। कर्त्ता और कर्म शून्य ज्ञान कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। स्वप्न कालीन ज्ञान में भी अर्थशून्यता नहीं होती, ऐसा हम ख्यातिवाद निरूपण के प्रसंग में प्रतिपादन कर चुके हैं।

५. सर्वथानुपपत्त्यधिकरणः—

सर्वथानुपपत्तेश्च।२।२।३०

अक सर्वशून्यवादी माध्यमिकः प्रत्यवतिष्ठते। शून्यवाद एव हि सुगतमत काष्ठा। शिष्यबुद्धियोग्यतानुगुण्यनार्थाभ्युपगमादिना क्षणिकत्वादयः, उक्ताः। विज्ञानं वाह्यार्थाश्च सर्वे न संति, शून्यमेव तत्त्वम, अभावापत्तिरेव च मोक्षः, इत्येवबुद्धस्याभिप्रायः। तदेव हि युक्तम् शून्यस्याहेतु साध्यतया स्वतः सिद्धेः, सत एव हि हेतु-

रन्वेषणीयः, तच्च सत् भावादभावाच्च नोत्पद्यते, भावात्तावन्न कस्यचिदुत्पत्तिर्दृष्टा, न हि घटादिरनुपमृदिते पिण्डादिके जायते। नप्यभावादुत्पत्तिः संभवति, नष्टे पिंडादिके हि अभावाद्युत्पद्यमानं घटादिकमभावात्मकमेवस्यात्। तथा स्वतः परतश्चोत्पत्तिर्न संभवति, स्वतः स्वोत्पत्तावात्माश्रयदोष प्रसंगात् प्रयोजनाभावाच्च। परतः परोत्पत्तौ परत्वाविशेषात् सर्वेषां सर्वेभ्य उत्पत्तिप्रसंगः। जन्माभावादेव विनाशस्याप्यभावः। अतः शून्यमेवतत्त्वम्।

अब सर्व शून्यवादी माध्यमिक सामने आते हैं। शून्यवाद ही सुगत बौद्धमत की चरम सीमा है। केवल शिष्यों की बुद्धि की योग्यतानुसार वाह्य पदार्थ स्वीकारते हुए, क्षणिकवाद आदि का उपदेश दिया गया है। विज्ञान और वाह्य पदार्थ सभी अस्तित्व हीन हैं, शून्य ही एक मात्र वास्तविक तत्त्व है अभावापत्ति (शून्यता प्राप्ति) ही मोक्ष है, यही बौद्ध का अंतिम अभिप्राय है। यही उनकी दृष्टि में उपयुक्त सिद्धान्त है, क्यों कि शून्य, किन्ही भी कारणों की अपेक्षा नहीं करता, अतएव स्वतः सिद्ध है। पदार्थ सत् है वह किस कारण से उत्पन्न होता है, इसका अनुसंधान करना आवश्यक है भाव या अभाव से तो उस सत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अधिकृत भाव से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति देखी नहीं जाती, मिट्टी को विना चूर्ण किये घट आदि कभी बनते नहीं। अभाव से भी सत् की उत्पत्ति संभव नहीं है, मिट्टी के ढेले के टूटने पर पदार्थ की अभाव स्थिति होती है, उससे घट आदि भी अभावात्मक हो जाते हैं। स्वतः या किसी अन्य से भी उत्पत्ति संभव नहीं है। अपने से अपनी उत्पत्ति होने से आत्माश्रय दोष और प्रयोजन हीनता सिद्ध होती है। अन्य पदार्थ से उत्पत्ति मानने से, हर पदार्थ से हर पदार्थ की उत्पत्ति संभव हो जावेगी। इस प्रकार जिसकी उत्पत्ति असंभव सिद्ध होती है उसका विनाश भी असंभव ही है। इसलिए शून्य ही तत्त्व है।

अतो जन्मविनाश सदसदादयो भ्रांतिमात्रम्। न च निरधिष्ठानभ्रमासंभावाद् भ्रमाधिष्ठानं किंचित्पारमार्थिकं तत्त्व-

माश्रयितव्यं दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वाद्यपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवद-धिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः । अतः शून्यमेव तत्त्वम् ।

जन्म विनाश सत्‌असत् आदि कार्य भ्रांतिमात्र हैं, वस्तु की सत्ता के ग्राहक नहीं है। किसी एक सत्य पदार्थ के आश्रय के बिना, आधार रहित भ्रम हो नहीं सकता, इसलिए भ्रम के आधार भूत किसी पारमार्थिक (सत्य) तत्त्व को अवश्य स्वीकारना पड़ेगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्यों कि —दोष और दोषाश्रय तथा ज्ञाता की असत्यता जानते हुए भी जैसे, भ्रम हो जाता हैं, वैसे ही निराधार भ्रम भी हो सकता है इसलिए शून्य ही एक मात्र तत्त्व है।

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—सर्वथानुपपत्तेश्च—इति । सर्वथानुपपत्तेः सर्वशून्यत्वं च भवदिप्रेतं न संभवति । किं भवान् सर्वं सदिति वा प्रतिजानीते, असिदिति वा, अन्यथा वा, सर्वथातवाभिप्रेतं तुच्छत्वं न संभवति । लोके भावाभावशब्दयोस्तत्प्रतीत्योश्च विद्यमानस्यैव वस्तुनोऽवस्थाविशेषगोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात् । अतः सर्वं शून्यमिति प्रतिजानता सर्वं सदिति प्रतिजानतेव सर्वस्य विद्यमान-स्यावस्थाविशेष योगितैव प्रतिज्ञाता भवतीति भवदभिमता तुच्छता न कुतश्चिदपि सिध्यति । किं च कुतश्चित्प्रमाणाच्छून्यत्वमुपलभ्य शून्यत्वं सिषाधयिता तस्य प्रमाणस्य सत्यत्वमभ्युपेत्यम्, तस्यासत्यत्वे सर्वं सत्यं स्यादिति सर्वथा सर्वं शून्यत्वं चानुपपन्नम् ।

इस उपस्थित मत पर सूत्रकार—"सर्वथानुपपत्तेश्च" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, जिसका तात्पर्य है कि हर प्रकार की अनुपपत्ति (असामंजस्य) से तुम्हारा अभिप्रेत शून्य तत्त्व संभव नहीं है। आप सब पदार्थों को सत्‌असत् अथवा किसी अन्य प्रकार का मानकर शून्य कहते हैं? इनमें से किसी प्रकार से शून्य तत्त्व हो नहीं सकता। जगत में भाव या अभाव शब्द से एवं तद्‌विषयक प्रतीति से, विद्यमान वस्तु की अवस्था विशेष की प्रतीति होती है। इसलिए तुम्हारा 'सब कुछ शून्य है" यह कथन "सब कुछ सत् है" ऐसी समस्त वस्तुओं की विद्यमान अवस्था विशेष

द्योतक प्रतीत होता है, इस प्रकार आपका अभिमत शून्यवाद किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। यदि किसी प्रमाण की सहायता से शून्यता की उपलब्धि को सिद्ध करने की चेष्टा भी करें तो उस प्रमाण का अस्तित्व स्वीकारना पड़ेगा, यदि प्रमाण को असत्य मानते हैं तो सारे पदार्थ स्वयं ही असत्य सिद्ध हो जायेंगे (अर्थात् शून्य प्रमाण रहित असत्य हो जायेगा इसलिए हर प्रकार से सर्वशून्यता का सिद्धान्त असिद्ध हो जाता है।

६. एकस्मिन्नसंभवाधिकरण:—

नैकस्मिन्नसंभवात् ।२।२।३१।।

निरस्ताः सौगताः। जैना अपि परमाणुकारणत्वादिकं जगतो वदंतीत्यनंतरं जैनपक्षः प्रतिक्षिप्यते। ते किल मन्यते जीवाजीवात्मकं जगदेतन्निरीश्वरं, तच्चषड्द्रव्यात्मकं। तानि च द्रव्याणि जीवधर्माधर्म पुद्गलकालाकाशाख्यानि तत्र जीवाः, बद्धाः योगसिद्धाः, मुक्ताश्चेति त्रिविधाः। धर्मोनाम गतिमतां गतिहेतुभूतो द्रव्यविशेषो-जगद्व्यापी। अधर्मश्च स्थितिहेतुभूतोव्यापी। पुद्गलो नाम वर्ण-गंधरसस्पर्शवद्द्रव्यम्। तच्चद्विविधं-परमाणुरूपं तत्संघातरूपं च पवनज्वलनसलिलधरणीतनुभुवनादिकम्। कालस्तु अभूदस्ति-भविष्यतीति व्यवहारहेतुरणुरूपो द्रव्य विशेषः। अकाशोऽप्येकोऽनंत-प्रदेशश्च। तेषुचाणुव्यतिरिक्त द्रव्याणि पंचास्तिकाया इति च संगृह्यंते—जीवास्तिकायः, धर्म्मास्तिकायः अधर्मास्तिकायः, पुद्गला-स्तिकायः, आकाशास्तिकायः, इति। अनेकदेशवर्त्तिनि द्रव्येऽस्तिकाय-शब्दः प्रयुज्यते।

सौगत बौद्धों का निराकरण कर दिया गया। जैन भी परमाणुओं को जगत का कारण मानते हैं, इसलिए उनके मत का भी निराकरण करते हैं उन लोगों की मान्यता है कि—जीव और अजीवमय यह जगत अनीश्वर है, जो कि जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश, काल आदि छः द्रव्यों वाला हैं। जीव बद्ध, योगसिद्ध और मुक्त तीन प्रकार के हैं।

स्वर्ग, नरक गामी प्राणियों में स्वर्ग के हेतुभूत जगद् व्यापी द्रव्य विशेष का नाम धर्म हैं तथा स्थिरता का हेतुभूत जगद् व्यापी द्रव्य विशेष का नाम अधर्म है। रूप-रस-गंध-स्पर्श विशिष्ट द्रव्य को पुद्गल कहते हैं, जो कि दो प्रकार के हैं, परमाणु और अपरमाणु पुंज। वायु-तेज-जल-पृथ्वी-शरीर-स्वर्ग आदि सभी पुद्गल हैं। भूत-भविष्य और वर्त्तमान व्यवहार का हेतुभूत द्रव्य विशेष ही काल है। आकाश एक और अनंत स्वरूप है। इन द्रव्यों से अणुरहित द्रव्य पांच अस्तिकाय कहलाते हैं जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। अनेक स्थानवर्त्ती द्रव्य को अस्तिकाय शब्द से प्रयोग करते हैं।

जीवानां मोक्षोपयोगिनमपरमपि संग्रहं कुर्वन्ति—जीवाजीवास्रववंधनिर्जरसंवरमोक्षाः, इति। मोक्षसंग्रहेण मोक्षोपायश्च ग्रहीतः। स च सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः। तत्रजीवस्तु-ज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणः। अजीवश्च जीवभोग्यवस्तुजातम्। आस्रवः तद्भोगोपकरणभूतमिन्द्रियादिकं वंधश्चाष्टविधः घातिकर्मचतुष्टयमघातिकर्मचतुष्टयंचेति। तत्राद्यंजीवगुणानांस्वाभाविकानां ज्ञानदर्शवीर्यंसुखानां प्रतिघातकरम्। अपरंशरीरसंस्थानतदभिमानतत्स्थितित्प्रयुक्तसुखदुःखोपेक्षा हेतुभूतम्। निर्जरम् मोक्षसाधन मर्हदुपदेशादवगतंतपः। संवरोनामेन्द्रियनिरोधः समाधि रूपः। मोक्षस्तुनिर्वृत्तरागादिक्लेशस्य स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावः।

वे लोग जीवों के मोक्षोपयोगी साधनों का भी संग्रह करते हैं, जो कि—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, निर्जर, संवर और मोक्ष नामक हैं। इन मोक्ष संग्रहों के साथ मोक्षोपायों को भी ग्रहण करते हैं जो कि—सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र आदि तीन प्रकार के हैं। ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य संपन्न को जीव कहते हैं। जीव भोग्य समस्त वस्तुओं को अजीव कहते हैं। जीव के योग्य उपकरण भूत इन्द्रियों का नाम आस्रव है। वंध आठ प्रकार का है—घातिकर्म चतुष्टय और अघातिकर्म चतुष्टय। जीव के स्वाभाविक, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखा-

त्मकगुण, जिनसे प्रतिहृत हों उन्हे घातिकर्म कहते हैं। जिन कर्मों से शरीर, शरीराभिमान, शरीरस्थित और शरीर संबंधी सुख दुःख आदि में उपेक्षा बुद्धि को अघातिकर्म कहते हैं। मोक्ष के साधन रूप, अर्हत द्वारा उपदिष्ट तप को निर्जर कहते हैं। ज्ञानेन्द्रिय निरोधक समाधि को संवर कहते हैं राग आदि क्लेशों के निवृत्त हो जाने पर, स्वाभाविक आत्म स्वरूप के आविर्भाव को ही मोक्ष मानते हैं।

पृथिव्यादिहेतुभूताश्चाणवो वैशेषिकादीनामिव न चतुर्विधाः। अपित्वेकस्वभावाः। पृथिव्यादिभेदस्तु परिणाम कृतः। सर्वं च वस्तु-जातं सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिरनैकान्तिक-मिच्छंति, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिचनास्ति च—स्यादवक्त-व्यम्, स्यादस्तिचावक्तव्यम् च स्यानास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यं चेति सर्वत्र सप्तभंगीनयावतारात्। सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमिति द्रव्यात्मना सत्त्वैकत्वनित्यत्वाद्युपपादयंति, पर्यायात्मना च तद्विपरोतं, पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्था विशेषाः, तेषां च भावाभावरूपत्वात्सत्वासत्वादिकं सर्वं उपपन्नमिति।

ये लोग वैशेषिकों की तरह पृथिवी आदि के परमाणुओं को चार प्रकार का नहीं मानते, अपितु सबको एक स्वभाव का मानते हैं। केवल परिणाम से ही उनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि भेद मानते हैं। उनके मत से, सारी ही वस्तुएं, सत्य-असत्य नित्य अनित्य भिन्न-अभिन्न तथा अनैकांतिक (अनियत) हैं। अर्थात् स्यात् हैं, स्यात् नहीं हैं, स्यात् हैं भी नहीं भी, स्यात् अव्यक्त हैं, स्यात् हैं और अवक्तव्य हैं, स्यात् नहीं है और अवक्तव्य हैं, स्यात् हैं और नहीं हैं और अवक्तव्य हैं, इत्यादि सप्त भंगी न्याय से प्रस्तुत करते हैं। सभी वस्तुए द्रव्य पर्याय भूत द्रव्यात्मक इसलिए, द्रव्य रूप से वह सत्य, नित्यत्व और एकत्व आदि धर्मों का उप-पादन करती हैं। स्वतः पर्याय रूप से, उससे विपरीत उपपादन करतीं हैं। द्रव्यों की अवस्था विशेष ही पर्याय है, जो कि भाव अभाव वाली अवस्था है इसीलिए सत्व' असत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म, समस्त वस्तुओं में उत्पन्न होते हैं।

अत्राभिधीयते—"नैकस्मिन्न संभवात्" इति। नैतदुपपद्यते, कुतः? एकस्मिन्न संभवात्—एकस्मिन् वस्तुनि अस्तित्वेन अन्नास्तित्वादेर्विरुद्धस्य छायातपवद् युगपदसंभवात्। एतदुक्तं भवति—द्रव्यस्य तद्विशेषणभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च पृथक्-पदार्थत्वात् नैकस्मिन्विरुद्धधर्म समावेशः संभवति इति। तथाहि-एकेनास्ति त्वादिनाऽवस्थाविशेपण विशिष्टस्य तदानीमेव न तद्-विपरीत-नास्तित्वादि विशिष्टत्वं संभवति। उत्पत्ति विनाशाख्य-परिणामविशेषास्यदत्वं च द्रव्यस्यानित्यत्वम्, तद्विपरीत च नित्यत्वं तस्मिन् कथं समवैति, विरोधिधर्माश्रयतत्त्वं च भिन्नत्वम्, तद्-विपरीतंचाभिन्नत्वं कथं वा तस्मिन् समवैति। यथाऽश्वमहिष-त्वयोर्युगपदेकस्मिन् न संभवः।

उक्त जैन मत पर सूत्रकार "नेकस्मिन्" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। उक्त मत असंभव है, एक ही वस्तु में विपरीतता, धूप और छांह की तरह हो नहीं सकती, अस्तित्व और नास्तित्व, ये विरुद्धतायें एक साथ हो नहीं सकती। कथन यह है कि—विशेष द्रव्य की और उसके विशेषण रूप, पर्याय शब्दाभिधेय अवस्था विशेष (अस्तित्व नास्तित्व) की, स्वभावत पृथकता होने से, एक में ही विरुद्ध धर्मों का समावेश होना असंभव है। अस्तित्व आदि किसी एक विशेषण से वस्तु, तत्काल उसके विपरीत, नास्तित्व आदि विशेषण से विशेषित हो जाय, ऐसा संभव नहीं है। उत्पत्ति विनाश नाले परिणाम को प्राप्त द्रव्य की, अनित्य अवस्था में, उसके नितांत विपरीत नित्यता कैसे हो सकती है? विरोधी धर्मों की आश्रयता ही तो भिन्नता है, उससे विपरीत अभिन्नता होती है, दोनों बातें एक में कैसे संभव हैं? जैसे कि एक ही जीव में अश्वत्व और भहिष्यत्व दोनों एक साथ संभव नहीं हैं।

अयमर्थः पूर्वमेव भेदभेदवादि निरसन समये "तत्तुसमन्वयात्" इत्यत्र प्रपंचितः। कालस्य पदार्थ विशेषणतयैव प्रतीतेस्तस्य

पृथगस्तित्वनास्तित्वादयो न वक्तव्याः, न च परिहर्त्तव्याः। कालोऽस्तिनास्तीयि व्यवहारो व्यवहर्त्तृणां जात्याद्यस्तित्वनास्तित्व-व्यवहार तुल्यः। जात्यादयो हि द्रव्यविशेषणतयैव प्रतीयंत इति, पूर्वमेवोक्तम्।

उक्त तत्त्व को हम भेदाभेदवाद के निरसन के समय "तत्तु समन्वयात्" सूत्र में विस्तृत रूप बतला चुके हैं। काल की जब पदार्थ विशेष रूप से ही प्रतीति होती है, तब उसके पृथक् अस्तित्व और नास्तित्व को कहने और उसके खंडन करने का प्रश्न ही नहीं उठना, काल के अस्तित्व नास्तित्व का व्यवहार करना, व्यवहार करने वालों की अपनी जाति आदि के अस्तित्व नास्तित्व के व्यवहार के समान है। जाति आदि धर्मों की प्रतीति भी, द्रव्य के विशेषण रूप से ही होती है, ऐसा पहिले ही बता चुके हैं।

कथं पुनरेकमेव ब्रह्म सर्वात्मकमिति श्रोत्तियैरुच्यते? सर्व चेतनाचेतनशरीरत्वान् सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सत्यसंकल्पस्य पुरुषोत्तमस्येत्युक्तम्। शरीरशरीरिणोः तद्धर्माणां च अत्यंत वैलक्षण्यमप्युक्तम्। किं च जीवादीनांषण्णां द्रव्याणामेकद्रव्य पर्यायत्वाभावात्तेषु द्रव्यैकत्वेन पर्यायात्मना चैकत्वानैकत्वादयो दुरुपपादाः? अथोच्येत्-षडैतानि द्रव्याणि स्वकीयैः पर्यायैः स्वेनत्वेनचात्मना तथा भवंति इति। एवमपि सर्व मेनैकान्तिक-मित्यभ्युपगम विरोधः अन्योन्यतादात्म्याभावात्। अतो न युक्तमिदं जैनमतं। ईश्वरानधिष्ठितपरमाणुकारणवादे पूर्वोक्त दोषास्त थैवावतिष्ठंते।

यदि कहो कि—वेदज्ञ लोग एक ही ब्रह्म में सर्वात्मकता कैसे बतलाते हैं? भाई वह तो उसे समस्त जडचेतन शरीर वाला, सर्वज्ञ सर्वशक्ति संपन्न, सत्यसंकल्प पुरुषोत्तम कहते हैं। शरीर और शरीरी इन दोनों के धर्मों में अत्यंत विलक्षणा होती है, यह हम पहिले ही कह चुके हैं।

जीव आदि छहो द्रव्यों का एक पर्यायत्व न होने से, उसमें एक द्रव्यपर्यायिता मानकर, एकता अनेकता का प्रतिपादन करना कठिन है। यदि कहो कि–ये छहो अपने अपने पर्याय होकर, स्वतन्त्ररूप से अपने अपने स्वरूपानुसार' भिन्न अभिन्नरूप वाले होते हैं। ऐसा मानने पर भी, सारे पदार्थों में जो अनेक रूपता मान रक्खी है,उससे विरुद्धता हो जावेगी, क्यों कि–उनमें परस्पर तादात्म्य तो है नहीं। इसलिए यह जैनमत असंगत है। ईश्वर रहित परमाणु कारणवाद पर जिन दोषों का आरोपण हो चुका है, वे सब, इस मत में भी उसी प्रकार आरोपित होंगे।

एवं चात्माकात्स्न्यम् ।२।२।३२॥

एवं भवदभ्युपगमे सति आत्मनश्चाकात्स्न्यं प्रसज्यते जीवोऽसंख्यात प्रदेशो देह परिभागा इति हि भवतां स्थितिः। तत्रहस्त्यादि-शरीरेऽवस्थितस्यात्मनस्ततो न्यूनपरिमाणे पिपीलकादि शरीरे प्रवेशितोऽल्पदेशव्यापित्वेनाकात्स्न्यं प्रसज्यते- अपरिपूर्णता प्रसज्यत इत्यर्थः।

यदि आपके अभिमत, शरीर परिमित सिद्धान्त को स्वीकारते हैं तो आत्मा की अपूर्णता निश्चित होती है, जीव असंख्य स्थलों में देह परिमाण के अनुसार घटता बढ़ता हुआ स्थित रहता है, यह आपका मत है हाथी के शरीर वर्त्तमान आत्मा का यदि चींटी के शरीर में प्रवेश होगा तो अल्पदेशव्यापी होने से उसमें, अपरिपूर्णता होगी।

अथ संकोच विकास धर्मतया आत्मनः पर्यायशब्दाभिधेयाव-स्थान्तरापत्त्या विरोधः परिह्रियत इत्युच्यते, तत्राह–

यदि, संकोच और विकास को आत्मा का धर्म मानकर,पर्याय शब्द-वाच्य अवस्थान्तर प्राप्ति से उक्त अपूर्णता का परिहार करते हो, तो सुनो

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।२।२।३३॥

न च संकोच विकास रूपावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिहर्तुं शक्यते, विकार तत्प्रयुक्तानित्यत्वादि दोष प्रसक्तेर्घटादितुल्यत्व प्रसंगात्।

संकोच विकास रूप अवस्थान्तर प्राप्ति को मानकर भी विरोध का परिहार नहीं कर सकते, ऐसा मानने से विकार और विकाराधीन अनित्यता आदि दोष संभावित होंगे, जिसके फलस्वरूप आत्मा, घट आदि की तरह विकृत पदार्थ हो जायगा।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।२।२।३४॥

जीवस्य यदन्त्यं परिमाणम् मोक्षावस्थागतं, तस्य पश्चाद्देहान्तर परिग्रहाभावात् अवस्थितत्वादात्मनश्च मोक्षावस्थस्य तत्परिमाणस्य चोभयोर्नित्यत्वात्तदेव आत्मनः स्वाभाविकं परिमाणमिति पूर्वमपि तस्मादविशेषः स्यात्। अतो देह परिमाणत्वात्मनो न स्यादित्यसंगतमेवेदमार्हतमतम्।

जीव का जो मोक्षकालीन अंतिम परिमाण होगा, वह निश्चित ही संकोच विकास रहित स्थिर परिमाण होगा, क्यों कि उसके बाद तो देहान्तर प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा और आत्मा का मोक्षकालीनपरिमाण दोनों ही नित्य हैं, इससे निश्चित होता है कि—वही आत्मा का स्वाभाविक परिमाण होगा, उसके पूर्व के परिमाणों का कोई महत्त्व नहीं है। इस से सिद्ध हो गया कि—आत्मा का परिमाण कभी देहानुसार नहीं होता। यह अर्हत मत नितांत असंगत है।

७ पशुपत्यधिकरणः—

पत्युरसामंजस्यात् ।२।२।३५॥

कपिलकणाद सुगतार्हतमतानामसामंजस्यात् वेदबाह्यत्वाच्च निश्श्रेयसार्थिभिरनादरणीयत्वमुक्तम्, इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधाद सामंजस्याच्च अनादरणीयतोच्यते। तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः, कापालाः कालामुखाः, पाशुपताः, शैवाश्च इति। सर्वेचैते वेदविरुद्धां तत्त्वप्रतिक्रियां ऐहिकामुष्मिकनिश्श्रेयससाधनकल्पनाश्चकल्पयंति। निमित्तोपादान-

योर्भेदं, निमित्तकारणं च पशुपतिमाचक्षते। तथानिश्श्रेयससाधनमपि मुद्रिकाषट्क धारणादिकं-यथाहुः कापालाः "मुद्रिकाषट्क तत्त्वज्ञः परमुद्रा विशारदः भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वानिर्वाणमृच्छति, कठिकारुचकं चैव कुंडलं च शिखामणिः भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते। ग्राभिर्मुद्रित देहस्तु न भूय इति जायते" इत्यादिकम्।

कापिल, कणाद, सुगत, अर्हत् आदि के मत असंगत और वेदबाह्य होने से मुमुक्षुओं के लिए अनादरणीय हैं। अब पशुपति के वेदविरुद्ध असंगत मत की अनादरणीयता बतलाते हैं। इस मत के अनुयायी चार प्रकार के हैं, कापालिक, कालमुख, पाशुपत और शैव। ये सब वेद विरुद्ध तंत्र प्रणाली तथा ऐहिक पारलौकिक मोक्ष साधन की कल्पना करते हैं। निमित्त और उपादान कारणों में भेद तथा पशुपति को निमित्त कारण मानते हैं। तथा मोक्ष की साधनिका छः मुद्राओं को धारण करना मानते हैं, जैसा कि-कापालिक कहते हैं-"छः मुद्रिकाओं को जानने वाले, पर मुद्रा विशारद, अपने को भगासनस्थ रूप में ध्यान करके निर्वाण प्राप्त करते हैं, कंठिका, रुचक, कुंडल और शिखामणि तथा भस्म और यज्ञोपवीत, ये छः मुद्रायें हैं, इन छहों से जिसका देह मुद्रित है, वह पुनः जन्म नहीं लेता।" इत्यादि,

तथा कालामुखा अपि कपालपात्रभोजनशवभस्मस्नान तत्प्राशन लगुडधारणसुराकुंभस्थापनतदाधारदेवपूजादिकमैहिकामुष्मिक सकलफलसाधनमभिदधति। "रुद्राक्षकंकणंहस्ते जटा चैका च मस्तके, कपालं भस्मनास्नानम्" इत्यादि च प्रसिद्धं शैवागमेषु। तथा केनचित्क्रियाविशेषेण विजातीयानामपि ब्राह्मण्यप्राप्तिमुत्तमाश्रमप्राप्ति चाहुः "दीक्षा प्रवेश मात्रेण ब्राह्मणो भवतिक्षणात्, कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवतिमानवः" इति।

तथा कालमुख भी, कपालपात्र में भोजन, शवभस्म स्नान, उसी का भक्षण, लगुडधारण, मद्यकुंभस्थापन, उसी से देवता का पूजन आदि को

ऐहिक आमुष्मिक फल का साधन कहते हैं। "हाथ में रुद्राक्ष का कंकण, मस्तकपर एक जटा, नर कपाल ग्रहण और भस्म स्नान "इत्यादि शैवागमों में प्रसिद्ध आचार हैं तथा किन्ही विशेष क्रियाओं से, विजातीयों की भी ब्राह्मणत्व प्राप्ति और उत्तम आश्रय प्राप्ति बतलाते हैं–"दीक्षा प्रवेश मात्र से तत्काल ब्राह्मण हो जाता है तथा कापालिक व्रत में स्थित होकर मानव, यति हो जाता है। "इत्यादि,

तत्रेदमुच्यते-"पत्युरसामंजस्यात्"इति। "नैकस्मिन्न संभवात्" इत्यतो "न" इत्यनुवर्त्तते। पत्युः, पशुपतेः, मतं नादरणीयम्। कुतः? असामंजस्यात्। असामंजस्यं च अन्योन्यव्याघातात् वेदविरोधाच्च। मुद्रिकाषट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुंभस्थापन तत्स्थदेवतार्चनं गुढाचारः स्मशानभस्मस्नानप्रणवपूर्वाभिध्यानान्यन्योन्य विरुद्धानि वेदविरुद्धं चेदं तत्त्व परिकल्पनमुपासनमाचारश्च।

उक्त मत के निराकरण के लिए "पत्युरंसामजस्यात्" सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, "नैकस्मिन् "इत्यादि पूर्व सूत्र से इस सूत्र में भी "न" शब्द का अनुवर्त्तन होगा। पति अर्थात् पशुपति का मत अनादरणीय है, क्यों कि–वह असंगत है। परस्पर विरुद्धता और वेदविरुद्धता होने से इसका तालमेल नहीं बैठता। छः मुद्राओं का धारण करना, भगासनस्थ होकर ध्यान करना, सुराकुम्भ स्थापन करना, उसी से देवार्चन करना गूढ आचार करना, स्मशान भस्म से स्नान करना तथा प्रणवोच्चारण पूर्वक ध्यान करना इत्यादि विरुद्धतायें हैं। तत्त्व परिकल्पना, उपासना और आचार में यह मत, वेदविरुद्ध है।

वेदाः खलु परब्रह्म नारायणमेव जगत्तिमितमुपादानं च वदंति- "नारायणं परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः, नारायणपरोज्योतिरात्मा नारायणः परः "तदैक्षत वहुस्यां प्रजायेयेति" सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति" तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादयः। परब्रह्मभूत परमपुरुष वेदनमेव च मोक्षसाधनमुपासनं वदंति–"वेदाहमेतं पुरुषं महांतं आदित्यवर्णं तमसस्तुपारे "तमेवविद्वानमृत इह भवति"

नान्यः पन्थाः, अयनाय विद्यते "इत्यादिना एकतां गताः सर्वे वेदांताः, तदितिकर्त्तव्यताभूतं कर्म च वेदविहितवर्णाश्रम संवंधि यज्ञादिकमेव वदंति–"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन "एतमेवलोकमिच्छंतः प्रव्राजिनः प्रव्रजंति "इत्यादयः। केवल परतत्त्व प्रतिपादनपरनारायणानुवाकसिद्धतत्त्वपराः केषुचिदुपासनादि विधिपरेषु वाक्येषु श्रुताः प्रजापतिशिवेन्द्राकाश-प्राणादिशब्दा इति "शास्त्र दृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् "इत्यत्र प्रतिपादितम्। तथा–"एको ह वै नारायण आसीन्नब्रह्मानेशानः" इत्यारभ्य "स एकाकी न रमेत" इति सृष्टिवाक्योदितं स्रष्टारं नारायणमेव समान प्रकरणस्थाः "तदेव सौम्येदमग्रे "इत्यादिषु साधारणाः सद्ब्रह्मादि शब्दाः प्रतिपादयंतीति "जन्माद्यस्ययतः" इति प्रतिपादितम्। अतो वेद विरुद्ध तत्त्वोपासनानुष्ठानाभिधानात् पशुपतिमतमनादरणीयमेव।

वेदों में, परब्रह्म नारायण को ही, जगत का निमित्त और उपादान कारण बतलाया गया है–"नारायण ही परब्रह्म, नारायण ही परं तत्त्व नारायण ही परं ज्योति और नारायण ही परमात्मा हैं "उन्होंने कामना की कि अनेक रूपों में व्यक्त हो जाऊँ" उन्होनें इच्छा की कि–अनेक होकर जन्म लूँ" उन्होने अपनी स्वयं सृष्टि की "इत्यादि। परब्रह्म परमपुरुष के ज्ञान को ही, मोक्ष का साधन, उपासना बतलाया गया है।–"अज्ञान से अतीत, आदित्यवर्ण इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ "साधक पुरुष इस प्रकार जानकर इस लोक में ही अमर हो जाता है" उनको पाने का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इत्यादि रूप से सारे ही वेदांत वाक्य एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। वेदविहित, वर्णाश्रमानुगत यज्ञ आदि को ही, मोक्षोपाय का अंगीभूत कर्म वतलाया गया है "ब्राह्मण, वेदाध्ययन, वेदोक्त यज्ञ दान, तप और भोग निवृत्ति द्वारा, उसको जानने की इच्छा करते हैं" "इसी प्रकार संन्यासी आत्मलोक प्राप्त की कामना से संन्यास ग्रहण करते हैं "इत्यादि। उपासना विधायक किन्हीं किन्हीं वाक्यों में कहे गए, प्रजापति शिव, इन्द्र, आकाश और प्राण आदि शब्दों

को नारायण ही मानना चाहिए तैत्तरीयोपनिषद् के नारायण अनुवाक से ऐसा ही सिद्ध होता है इसका प्रतिपादन हम "शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्" सूत्र में कर चुके हैं। तथा—"सृष्टि के पूर्व एक नारायण ही थे, ब्रह्मा, शंकर आदि कोई न थे "इत्यादि से प्रारंभ करके "वह अकेले रमण नहीं करते "इत्यादि सृष्टि वाक्य में जिन नारायण को स्रष्टा बतलाया गया है, उन्हे ही दूसरे सृष्टि प्रकरण में-" हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह जगत सत् ही था "इत्यादि में साधारण सत् शब्द से बतलाया गया है। "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र में इसका विवेचन हो चुका है वेदविरुद्ध तत्त्व की उपासना का प्रतिपादक पाशुपत सिद्धान्त निश्चिय ही अनादरणीय है।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।२।२।३६॥

वेदवाह्यानामनुमानाद् हि केवल निमित्तेश्वर कल्पना तथा सति दृष्टानुसारेण कुलालादिवदधिष्ठानं कर्त्तव्यम्, न च कुलालादेर्मृदाद्याधिष्ठानवत्पशुपतेर्निमित्तभूतस्य प्रधानाधिष्ठान-मुत्पद्यते, अशरीरत्वात्, सशरीराणामेव हि कुलालादीनामधिष्ठान-शक्तिर्दृष्टा, न चेश्वरस्य सशरीरत्वमभ्युपगंतव्यम्, तच्छरीरस्य सावयवस्य नित्यत्वं अनित्यत्वे च "शास्त्र योनित्वात्" इत्यत्र दोषस्योक्तत्वात्।

वेदविरुद्ध पाशुपतों के अनुमान से यदि ईश्वर को ही निमित्तकारण रूप से कल्पना करेंगे तो, उन्हें निमित्त कारण रूप से दीखने वाले कुम्हार आदि की तरह ही मानना पड़ेगा। कुम्हार आदि जैसे मिट्टी आदि उपादानों से निर्माण करते हैं वैसे ही पशुपति, प्रधान से निर्माण नहीं कर सकते क्यों कि वह शरीरी नहीं है. शरीर वाले कुम्हार आदि में ही निर्माण शक्ति देखी जाती है, ईश्वर को शरीर वाला कभी माना नहीं जा सकता, क्यों कि, उनका सांगोपांग शरीर मानने से, नित्यता और अनित्यता होगी जिसे कि—"शास्त्रयोनित्वात्" में दोष बतला चुके हैं।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।२।२।३७।।

यथा भोक्तुर्जीवस्य करणकलेवराद्यधिष्ठानमशरीरस्यैव दृश्यते, तद्वन्महेश्वरस्याप्यशरीरस्य च प्रधानाधिष्ठानमुपपद्यत इति चेत्-न भोगादिभ्यः पुण्यपापरूपकर्मफलभोगार्थं पुण्यपापरूपादृष्टकारितं हि तदधिष्ठानं तद्वद् पशुपतिरपि पुण्यपापरूपादृष्टवत्तया तत्फलभोगादि सर्वं प्रसज्येत्, अतो नाधिष्ठान संभवः ।

शरीर होते हुए भी भोक्ता जीव को जैसे, देह और इन्द्रिय आदि से निर्माण करते देखा जाता है वैसे ही महेश्वर भी अशरीरी होते हुए प्रधान से सृष्टि करते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा मानने से भोग आदि की संभावना होगी । जीव का जो देह इन्द्रिय आदि में अधिष्ठान है वह पुण्य-पाप कर्मों के फल भोगने के लिए हैं, वैसे ही पशुपति में भी पुण्यपाप कर्म और उसके फल भोगने की स्थिति होगी । इसलिए पशुपति का अधिष्ठान नहीं हो सकता ।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।२।२।३८।।

वाशब्दश्चार्थे, पशुपते पुण्यापुण्यरूपादृष्टवत्त्वे जीववदंतवत्त्वं सृष्टिसंहाराद्यास्पदत्वं असर्वज्ञता च स्यादित्यनादरणीयमेवेदं "विरोधेत्वनपेक्ष्यंस्यात्" इत्यादिना वेदविरूद्धस्यानादरणीयत्वे सिद्धेपि पशुपति मतस्य वेदविरूद्धताख्यापनार्थं "पत्युरसामंजस्यात्" इति पुनरारम्भः । यद्यपि पाशुपतशैवयोर्वेदाविरोधिन इव केचन धर्माः प्रतीयंते, तथापि वेदविरूद्ध निमित्तोपादानभेदकल्पनापरावर तत्त्वव्यत्यय कल्पनामूलत्वात् सर्वमसमंजसमेवेति "असामंजस्यात्" इत्युक्तम् ।

सूत्रस्थ वा शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है । पशुपति का यदि पुण्य अपुण्य रूप अदृष्ट संबंध स्वीकारेंगे तो, जीव की तरह उनकी भी नाशवान, सृष्टि-संहार और सर्वज्ञता हो जावेगी, इसलिए यह मत अनादरणीय

ही है। "वेद विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है" इस वाक्य के अनुसार अनादरणीय सिद्ध होने पर भी, इस मत की वेद विरुद्धता बतलाने के लिए "पत्युरसामंजस्यात्" सूत्र से उसी बात को पुनः आरंभ किया गया है। यद्यपि पाशुपत और शैवमत की कुछ मान्यतायें, वेद से अविरुद्ध भी प्रतीत होती हैं तथापि-वेद विरुद्ध, निमित्त और उपादान कारणों की भेद कल्पना, पर अपर तत्त्व की विपर्यय कल्पना ही जब इस मत के मूल सिद्धान्त हैं तो उसीसे सारा मत असंगत हो जाता है, "असामंजस्यात्" से यही बात कही गई है।

८ उत्पत्यसंभवाधिकरणः-

उत्पत्यसंभवात् ।२।२।३६॥

कपिलादितंत्र सामान्याद् भगवदभिहितपरमनिः श्रेयस साधनावबोधिनि पंचरात्रतंत्रेऽप्यप्रामाण्यमाशंक्य निराक्रियते। तत्रैव माशंकते-"परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते, संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञ मनोजायते, तस्मादनिरुद्ध संज्ञोऽहंकारो जायते" इति हि भागवतप्रक्रिया। अत्र जीवस्योत्पत्तिः श्रुतिविरुद्धा प्रतीयते, श्रुतयो हि जीवस्य अनादित्वं वदंति "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादिना।

कपिल आदि तन्त्रों की समानता होने से, स्वयं भगवान द्वारा उपदिष्ट मोक्ष साधन बोधक पंचरात्र तंत्र की भी अप्रामाणिकता की आशंका करके निराकरण करते है-"परमकारण परब्रह्म स्वरूप वासुदेव से संकर्षण नामक जीव उत्पन्न हुआ, संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन हुआ, उससे अनिरुद्ध नामक अहंकार होता है।" ऐसी भागवतों की प्रकिया है। इस पर आशंका करते हैं कि-इसमें जो जीव की उत्पत्ति बतलाई गई है वह वेद विरुद्ध है, वेदों में तो जीव को अनादि वतलाया गया है- "विपश्चित न उत्पन्न होता है न मरता है" इत्यादि।

न च कर्त्तुः करणम् ।२।२।४०॥

"संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञ मनो जायते" इति कर्त्तुः जोवात् करणस्य मनस उत्पत्तिर्नसंभवति । "एतस्माज्जायते प्राणो मनसः सर्वेन्द्रियाणि च" इति परस्मादेव ब्रह्मणो मनसोऽप्युत्पत्तिश्रुतेः । अतः श्रुतिविरुद्धार्थं प्रतिपादनादस्यापि तंत्रस्य प्रामाण्यं प्रतिसिध्यत इति ।

"संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन होता है" कर्त्ता जीव से इन्द्रिय रूप मन की जो उत्पत्ति बतलाई गई है वह भी संभव नहीं है । "इससे ही प्राण मन आदि इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं" इत्यादि श्रुति में परब्रह्म से ही मन की उत्पत्ति बतलाई गई है । इसलिए श्रुति विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले इस तंत्र की भी प्रामाणिकता, अमान्य है ।

एवं प्राप्त प्रचक्ष्महे—इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।२।२।४१॥

वा शब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते, विज्ञानं चादिचेति परब्रह्म विज्ञानादि । संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धानामपि परब्रह्मभावे सति तत्प्रतिपादन परस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं न प्रतिषिध्यते । एतदुक्तं भवति-भागवत प्रक्रियामजानतामिदं चोद्यं—यज्जीवोत्पत्तिर्विरुद्धाऽभिहिता इति । वासुदेवाख्यं परं ब्रह्मैवाश्रितवत्सलं स्वाश्रित समाश्रयणीयत्वाय स्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठत इति हि तत्प्रक्रिया । यथा पौष्कर संहितायां - "कर्त्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपास्यते, क्रमागतैः स्वसंज्ञाभिः ब्राह्मणैरागमं तु तत्" इत्यादि । तच्च चातुरात्म्योपासनं वासुदेवाख्य परब्रह्मोपासनमिति सात्वत् संहितायामुक्तम्—"ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्म वासुदेवाख्ययाजिनाम् विवेकादपरं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदंमहत्" इति ।

सूत्र वा शब्द पूर्वपक्ष की आपत्ति का निवारक है। विज्ञानादि का तात्पर्य है, सबका कारणीभूत परब्रह्म। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी परब्रह्म के ही स्वरूप हैं, उनके प्रतिपादक शास्त्र की प्रामाणिकता प्रतिषिद्ध नहीं हो सकती। कथन यह है कि—भागवत संप्रदाय की तत्त्व चिंतन प्रणाली को न जानने वाले ही ऐसा कहते हैं कि-जीव की उत्पत्ति शास्त्र विरुद्ध है। भागवतों का मत है कि--वासुदेव नामक परब्रह्म ही शरणागत वत्सल रूप से अपने भक्तों को आश्रय प्रदान करने के लिए स्वेच्छा से चार रूप धारण करते हैं। जैसा कि पौष्कर संहिता में वे कहते हैं—जिससे, गुरु शिष्य भावापन्न ब्राह्मण लोग, कर्त्तव्य बुद्धि से चतुर्व्यूह की उपासना करते हैं वही आगम है" इत्यादि। वह चतुर्व्यूह उपासना, वासुदेव नामक परब्रह्म की ही है, ऐसा सात्वत संहिता में कहा गया है—"वासुदेव नामक सद्ब्रह्म के उपासक ब्राह्मणों को विवेक प्रदान करने वाला यही एक मात्र ब्रह्मोपनिषद् है।"

तद् हि वासुदेवाख्यं परंब्रह्म संपूर्णषाड्गुण्यवपुः सूक्ष्मव्यूहविभव भेदभिन्नं यथाधिकारं भक्तैः ज्ञानपूर्वेण कर्मणा अभ्यर्चितं सम्यक् प्राप्यते। विभवार्चनाद्व्यूहं प्राप्य, व्यूहार्चनात् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सूक्ष्मं प्राप्यत इति वंदति। विभवो हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भावगणः। व्यूहो वासुदेव संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपश्चतुर्व्यूहः। सूक्ष्मं तु केवल षाड्गुण्य विग्रहं वासुदेवाख्यं परब्रह्म। यथा पौष्करे— "यस्मात् सम्यक् परंब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्, अस्मादवाप्यते शास्त्रात् ज्ञानपूर्वेण कर्मणा" इत्यादि।

संपूर्ण छः गुणों वाले सूक्ष्म व्यूह रूप विशिष्ट संपत्तिशाली उन वासुदेव नामक परब्रह्म को, भक्तगण अपने अपने अधिकारानुसार, ज्ञान-युक्त कर्म द्वारा अर्चना करके, अच्छी तरह प्राप्त होते हैं। विभवार्चन से व्यूह की प्राप्ति करके, व्यूहार्चन करते हैं उससे परब्रह्म वासुदेव नामक सूक्ष्म तत्त्व को प्राप्य करते हैं। राम कृष्ण आदि अवतार ही विभव हैं, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चतुर्व्यूह हैं। सूक्ष्म तो केवल छःगुण संपन्न, वासुदेव नामक परब्रह्म ही हैं। जैसा कि –पौष्कर संहिता

में कहा गया है—"वासुदेव नामक सद्ब्रह्म की प्राप्ति, जिस शास्त्रोपादिष्ट ज्ञान पूर्वी कर्म से होती है" इत्यादि।

अतः संकर्षणादीनामपि परस्यैव ब्रह्मणः स्वेच्छाविग्रह रूपत्वात् "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतिसिद्धस्येवाश्रित वात्सल्यनिमित्त स्वेच्छाविग्रह संग्रहरूपजन्मनोऽभिधानात्तदभिधायि शास्त्रप्रामाण्यस्याप्रतिषेधः, इति। तत्र जीवमनोऽहंकार तत्त्वाना-मधिष्ठातारः संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दै-रभिधानमविरूद्धम्, यथा आकाश प्राणादिशब्दैः ब्रह्मणोऽभिधानम्।

संकर्षण आदि तीन, परब्रह्म के स्वेच्छा विग्रह हैं—"जो जन्मरहित-होते हुए भी, अनेक रूपों में आविर्भूत होते हैं" ऐसा श्रुति प्रसिद्ध मत है; शरणागत वात्सल्य से स्वेच्छा विग्रहों के रूप में उनका प्राकट्य बतलाया गया है, जिससे कि उनके प्रतिपादक शास्त्र की प्रामाणिकता अकाट्य सिद्ध होती है। जीव मन अहंकार के अधिठषाता, संकर्षण-प्रद्युम्न और अनिरुद्ध है, उन्हें ही जीव आदि शब्दों से बतलाया गया है, जैसा कि—आकाश आदि शब्दों से परब्रह्म का उल्लेख किया गया है।

विप्रतिषेधाच्च।२।२।४२॥

विप्रतिषिद्धा हि जीवोत्पत्तिस्तस्मिन्नपितंत्रे, यथोक्तं परम संहितायाम् "अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रया, त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृतेरूपमुच्यते। व्याप्तिरूपेण संबंधस्तस्याश्च पुरुषस्य च, स हि अनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः" इति। एवं सर्वाष्विपि संहितासु जीवस्य नित्यत्ववचनाज्जीवस्वरूपोत्पत्तिः पंचरात्रतंत्रे प्रतिषिद्धैव। जन्ममरणादिव्यवहारस्तु लोकवेदयोर्जीवस्य यथोपपद्यते, तथा "नात्मा श्रुतेः" इत्यत्र वक्ष्यते। अतो जीवस्योत्पत्तिस्तत्रापि प्रतिषिद्धैवेति जीवोत्पत्तिवादनिमित्ताप्रामाण्य शंका दूरोत्सारिता।

जीव की उत्पत्ति तो नारद पांचरात्रतंत्र में भी अस्वीकार की गई है जैसा कि परम संहिता में—"अचेतन परार्थ (पुरुष की भोग साधिका) नित्य और निरंतर विकारशील, त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जीवों की कर्म भूमि है, जो कि यथार्थ सा है। व्यापक होने से प्रकृति के साथ पुरुष का दृढ़ संबंध हो गया है, जो कि अनादि अनंत सत्य सा प्रतीत होता है।" ऐसा ही सभी संहिताओं में जीव के नित्यता बोधक वाक्यों से जीव की स्वरूपोत्पत्ति पांचरात्रतंत्र में प्रतिषिद्ध है। जीव के जन्म और मरण आदि का व्यवहार जैसा लोक और वेद में किया जाता है उसे "नात्मा श्रुतेः" में दिखलाया है। जीव की उत्पत्ति तो, पांचरात्रतंत्र में भी प्रतिषिद्ध हैं इसलिए जीवोत्पत्तिवाद निमित्तक प्रामाण्य की शंका निराकृत हो जाती है।

यश्चैष केषांचिद् उद्घोषः "सांगेषु वेदेषु निष्ठामलभमानः शांडिल्यः पंचरात्र शास्त्र मधीतवान् "इति। सोऽप्यनाघ्रातवेदवचसामनाकलिततदुपबृंहणन्यायकलापानां श्रद्धामात्र विजृम्भितः, यथा—"प्रातः प्रातरनृतं ते वदंति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् "इति-अनुदितहोमनिन्दा उदितहोम प्रशंसार्थेत्युक्तम्, यथा च भूमविद्याप्रक्रमे नारदेन "ऋग्वेद् भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमम् "इत्यारभ्य सर्वविद्यास्थानमभिधाय—"सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मवित् "इति भूमविद्याव्यतिरिक्तासु सर्वासु विद्यास्वात्मवेदनालाभवचनं वक्ष्माणभूमविद्या प्रशंसार्थंकृतं अथवाऽस्य नारदस्य सांगेषु वेदेषु यत्परतत्त्वं प्रतिपाद्यते, तदलाभनिमितोऽयंवादः, एवमेव शांडिल्यस्येति। पश्चाद् वेदांत वेद्यवासुदेवाख्य परब्रह्म तत्त्वाभिधानादवगम्यते तथा वेदार्थस्य दुर्ज्ञानतया सुखावबोधार्थः शास्त्रारम्भः परमसंहितायामुच्यते—"अधीता भगवन् वेदाः सांगोपांगाः सविस्तराः, श्रुतानि च मयाऽगानि वाक्यो वाक्ययुतानि च न चैतेष् समस्तेषु संशयेन बिना क्वचित्, श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि

येन सिद्धिर्भविष्यति "इति "वेदांतेषु यथासारं संगृह्य भगवान हरिः, भक्तानुकंपमाविद्वान् संचिक्षेप यथा सुखम् "इति च ।

किसी का जो यह कथन है कि–"शांडिल्य ऋषि ने अङ्गों सहित वेदों में पुरुषार्थ निष्ठा न देखकर पांचरात्र शास्त्र का अध्ययन किया" इस वाक्य में वेद वेदांग में पुरुषार्थ निष्ठा की अनुपलब्धि गई है, इसलिए यह तन्त्र वेद विरुद्ध है। उन कहने वालों ने, वस्तुतः वेदों को सूंघा तक नहीं और न वे वेदानुकूल युक्तियों से ही परिचित हैं, उनमें केवल श्रद्धा का अंकुर मात्र ही है, जिसके आधार पर वे वेद की दुहाई देते हुए प्रायः अनर्गल प्रलाप करते हैं। वेद की युक्ति का एक उदाहरण जैसे—"जो सूर्योदय के पूर्व हवन करते हैं, वे नित्य प्रातः काल झूठ बोलते हैं" ऐसी सूर्योदय पूर्व के हवन की निन्दा का तात्पर्य सूर्योदय के बाद के हवन की प्रशंसा ही है। तथा–भूमाविद्या के प्रकरण में नारद ने कहा कि—भगवन् ! मैंने ऋग् यजु साम अथर्व चारों वेद पढ़ा तथा पांचवें वेद इतिहास पुराण का भी स्मरण किया" इत्यादि से सभी विद्याओं का उल्लेख करके "हे भगवन् ! मैं मन्त्र वेत्ता तो हूँ किन्तु आत्म वेत्ता नहीं हूँ" इत्यादि में, ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त समस्त विद्याओं में आत्म ज्ञान प्राप्ति का अभाव बतला गया, वह एक मात्र भूमाविद्या की प्रशंसा के लिए ही है। अथवा अङ्गों सहित में जो परतत्त्व निहित है, उसको न समझ सकने के कारण नारद ने ऐसा कहा, उसी प्रकार शांडिल्य संबंधी कथन भी है। उक्त शांडिल्य सम्बन्धी कथन के ठीक बाद ही, वेदांत वेद्य वासुदेव नामक पर ब्रह्म तत्त्व का उल्लेख है, उससे यही बात सिद्ध होती है। ऐसे ही वेदार्थ दुर्ज्ञेयता के अनायास बोध के लिए पांचरात्र शास्त्र के प्रारंभ में पर संहिता में कहा गया कि–"भगवन! अंगों सहित वेदों का अध्ययन किया, तथा वाक्ययुक्ति विशिष्ट वेदांगों का भी श्रवण किया, किन्तु उनमें असंशयित ऐसा श्रेयमार्ग नहीं पाया, जिससे कि सिद्धि हो सके "भगवान हरि ने स्वयं वेदों का सारतत्त्व संग्रह करके, भक्तों पर कृपावश, सहज ज्ञान प्राप्ति के लिए संक्षिप्त किया"।

अतः स भगवान् वेदैकवेद्यः परब्रह्माभिधानोवासुदेवो निखिल हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानानंत ज्ञानानंदाद्यपरिमितोदारगुणसागरः सत्यसंकल्पश्चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यव्यवस्थयाऽवस्थितान् धर्मार्थ काम

मोक्षाख्य पुरुषार्थाभिमुखान् भक्तानवलोक्यापारकारुण्यसौशील्य-वात्सल्यौदार्यं महोदधिः स्वस्वरूपस्वविभूति स्वाराधन तत्फल याथात्म्यावबोधिनो वेदान् ऋग्यजुसामाथर्वभेदभिन्नानपरिमितशाखान् विध्यर्थवादमंत्ररूपान् स्वेतर सकलसुरनरदुरवगाहांश्चावधार्य तदर्थ याथात्म्यावबोधि पंचरात्र शास्त्रं स्वयमेव निर्मिमीतेति निरवद्यम्।

सारांश यह है कि–अपार करुणावात्सल्य और सुशीलता के सागर, वेदांत वेद्य, हीनतारहित, महान् गुणों की खान, अनंत ज्ञान आनंद आदि अपरिमितउदार गुणों के सागर सत्यसंकल्प परब्रह्म वासुदेव ने चारों वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था के अनुरूप, अपने भक्तों को, धर्म अर्थ काम मोक्ष पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए उत्सुक देखकर, अपने स्वरूप, विभूति आराधना और आराधना के फल के प्रतिपादक, ऋग् यजु साम अथर्व आदि रूपों में विभक्त असंख्य शाखावाले, विधि, अर्थवाद और मंत्र वाले वेदों को, अपने से भिन्न देव मनुष्य आदि के लिए दुर्विज्ञेय समझकर सुवोध पंचरात्र शास्त्र का स्वयं ही निर्माण किया। इसलिए यह शास्त्र अनवद्य है।

यत्तु परैः सूत्र चतुष्टयं कस्यचिद्विरुद्धांशस्य प्रामाण्य निषेध परं व्याख्यातम्, तत्सूत्राक्षराननुगुणं, सूत्रकाराभिप्रायविरुद्धं च तथाहि–सूत्रकारेण वेदांतन्यायाभिधायीनि सूत्राण्यभिधाय वेदोपवृहणाय च भारतसंहितां शतसाहस्त्रिकां कुर्वता मोक्षधर्मे ज्ञानकांडेऽभिहितं–"ग्रहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः, य इच्छेत् सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत् सः "इत्यारम्भ महता प्रबंधेन पंचरात्र शास्त्र प्रक्रियां प्रतिपाद्य "इदं शतसहस्राद् हि भारताख्यानविस्तरात् आविध्य मति मंथानं दध्नोघृतमिवोद्धृतं, नवनीतं यथा दध्नो, द्विपदां ब्रह्मणो यथा आरण्यकं च वैदभ्यः औषधीभ्योयथाऽमृतम् "इदं महोपनिषदं चतुर्वेद समन्वितं, सांख्य योग कृतांतेन पंचरात्रानुशब्दितम् "इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमं, ऋग्यजुः सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा, भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम् "इति। सांख्ययोगशब्दाभ्यां

ज्ञानयोगकर्मयोगावभिहतौ–यथोक्तं–"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मं योगेन योगिनामिति । भीष्मपर्वण्यापि– 'ब्राह्मणैर्क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः, अर्चनीयश्च, सेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः । "सात्वतं विधिमास्थाय गीतसंकर्षणेन यः "इति। कथमेवं ब्रुवाणो वादरायणो वेदविदग्रेसरो वेदांतवेद्य परब्रह्मभूतवासुदेवोपासनार्चनादि प्रतिपादनपरस्य सात्वतशास्त्रस्याप्रामाण्यं ब्रूयात्?

जिन्होंनें उक्त चारों सूत्रों की, विरुद्धांश प्रामाण्य निषेध परकव्याख्या की है, वह सूत्रार्थ और सूत्रकार के अभिप्राय के विरुद्ध है । सूत्रकार ने, वेदांत व्याख्या के नियम के प्रकाशक ब्रह्मसूत्रों की रचना करके–वेदों की वास्तविक विवेचना करने वाली, महाभारत के एक लाख श्लोकों की संहिता बनाई उसी के मोक्षधर्म के ज्ञान कांड में "ग्रहस्थ,ब्रह्मचारी, वाणप्रस्थी और संन्यासी, जो भी सिद्धि प्राप्ति की इच्छा करते हैं वे किन देवता का अर्चन करें? "इत्यादि से प्रारंभ करके बड़े सुव्यवस्थित ढंग से पंचरात्र शास्त्र का प्रतिपादन इस प्रकार किया है–"दही से निकले नवनीत की तरह, द्विजातियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण की तरह, वेदो में आरण्यक की तरह, समुद्र से निकले अमृत की तरह, अपनी बुद्धि रूपी मथानी की सहायता से, एकलाख श्लोक वाले आख्यायिका प्रधान महाभारतरूपी दही के समुद्र से, नवनीत की तरह यह पांचरात्र शास्त्र निकाला है । चारों वेदों के सार से युक्त यह महोपनिषद्, सांख्य योग और वेदांत में "पंचरात्र" शब्द से वर्णित है । यही परम कल्याण रूप मोक्ष, यही ब्रह्म प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ हित तथा यही ऋग् यजु साम और अथर्व वेद के प्रतिपाद्य तत्त्व का प्रामाणिक अनुशासन करने वाला है । "यहाँ सांख्य और योग शब्द से ज्ञान और कर्म योग समझना चाहिए–जैसा कि–"ज्ञान योग से सांख्य तथा कर्म योग से योग, तात्पर्य है" इस वाक्य से निश्चित होता है । भीष्मपर्व में भी इसी प्रकार कहा गया कि–"ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शुद्रों के लिए, संकर्षण सहित माधव ही, सात्वत विधि के अनुसार पूज्य, सेव्य और अर्च्य कहे गए हैं । "वेदज्ञों के अग्रगण्य भगवान वादरायण ही ऐसा कहें और स्वयं वे ही, वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप भगवान वासुदेव की अर्चना के प्रतिपादन में तत्पर सात्वत शास्त्र को अप्रामाणिक बतलावें ऐसा कैसे संभव है?

ननु च–"सांख्यं योगः पंचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने। इत्यादिना साख्यादीनामप्यादरणीयतोच्यते, शारीरके तु सांख्यादीनि प्रतिषिध्यंते, अत इदमपितंत्रं तत्तुल्यम्, नेत्युच्यते, यतस्त्रपोममेव शारीरकोक्तं न्यायमवतारयति "किमेतान्येकनिष्ठानि प्रथङ्निष्ठानिवा? "इति प्रश्नस्यायमर्थः—किं सांख्ययोगपाशुपतवेद पंचरात्राण्येकतत्त्व-प्रतिपादनपराणि, पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि वा? यदैकतत्त्वप्रतिपादन-पराणि, किं तदेकं तत्वम्? यदा तु पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि तदैषांपरस्परं विरुद्धार्थं प्रतिपादनपरत्वात् वस्तुनि विकल्पासंभवाच्चैकमेव प्रमाणमंगीकरणीयम्, कितदेकम्–इति। अस्योत्तरं ब्रुवन्–"ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै, सांख्यस्य वक्ता कपिलः "इत्यारम्भ सांख्ययोगपाशुपतानां, कपिलहिरण्यगर्भ पशुपति कृतत्वेन पौरुषेयत्वं प्रतिपाद्य "अवांतरतपानामं वेदाचार्यः स उच्यते "इति वेदानामपौरुषेयत्वम-भिधाय–"पंचरात्रस्यकृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् "इति पंचरात्रतंत्रस्य वक्ता नारायणः स्वयेमेवेत्युक्तव्यन्। एवंवदतश्चायमाशयः–पौरुषेयाणां तंत्राणां परस्पर विरुद्ध वस्तु वादितया अपौरुषेयत्वेन निरस्तप्रमादादिनिखिलदोषगंधवेदवेद्यवस्तु-विरुद्धाभिधायित्वाच्च यथावस्थितवस्तुनि प्रामाण्यं दुर्लभम्। वेदवेद्यश्च परब्रह्मभूतो नारायणः, अतस्तत्तंत्राभिहितप्रधानपुरुष पशुपतिप्रभृतितत्त्वस्य वेदांतवेद्यपरब्रह्मभूतनारायणात्मकतयैव वस्तुत्वमभ्युपगमनीयमिति।

कहते हैं कि–"सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद पाशुपत, ये सब क्या, एक ही उद्देश्य साधन में पर्यवसित हैं अथवा भिन्न भिन्न साधनों में ? इत्यादि वाक्यों में सांख्य आदि का तो आदर किया गया है, शारीरक ब्रह्मसूत्र में

इन सांख्य आदि का प्रतिषेध किया गया है, यह पांचरात्र तंत्र भी उसी प्रकार प्रतिषिद्ध है। नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं, शारीरक सूत्रों की युक्तियों की तरह उक्त वाक्य में भी युक्ति पूर्ण प्रस्तावना की गई है। "किमेतान्येक निष्ठानि" इत्यादि प्रश्न का तात्पर्य है कि–सांख्य, योग, पाशुपत, वेद पांचरात्र आदि शास्त्र, क्या एकही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं अथवा भिन्न भिन्न तत्त्वों का? यदि एक का ही प्रतिपादन करते हैं तो वह एक तत्त्व क्या है? यदि भिन्न भिन्न का प्रतिपादन करते हैं तो, उन सब में प्रमाण रूप से किसी एक को ही स्वीकारा जा सकता है, सो वह स्वीकार्य तत्त्व कौन सा है? इस प्रश्न का उत्तर भी नहीं दिया गया कि-ये विभिन्न मतानुयायियों के ज्ञान के फलस्वरूप उद्भूत प्रक्रियायें हैं, उनमें सांख्य के वक्ता कपिल हैं "इत्यादि से प्रारंभ करके–सांख्य योग और पाशुपत मतों की कपिल, हिरण्यगर्भ और पशुपति प्रणीत पौरुषेयता का प्रतिपादन करके–"वे (नारद) ही अपान्तरतपा नामक वेदाचार्य कहलाते हैं "इत्यादि से वेदों की अपौरुषेयता दिखलाकर "संपूर्ण पांचरात्र स्वयं नारायण ने कहा" इत्यादि से स्वयं नारायण को ही पंचरात्र तंत्र का वक्ता बतलाया। इतना कहने का आशाय यह है कि–पौरुषेय मतों के परस्पर विरुद्ध तत्त्व प्रतिपादन के तथा अपौरुषेय होने से, वेद वेद्य तत्त्व, प्रमादादि समस्तदोषों से रहित है, इसलिए जीव की प्रकृति से, विरुद्ध सा प्रतीत होता है, वस्तु की यथार्थता में इनको प्रमाण रूप से स्वीकारना बड़ा कठिन सा है। वेदवेद्य तत्त्व नारायण ही हैं, इसलिए सांख्य आदि शास्त्रोपदिष्ट, प्रकृति पुरुष, पशुपति आदि तत्त्वों को वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप नारायणात्मक रूप से ही स्वीकारा जायेगा।

तदिदमाह च–"सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते, यथागमं यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः "इति। "यथागमं यथान्यायम् "इति न्यायानुगृहीततत्तदागमोक्तं वस्तुपरामृशतो नारायण एव सर्वस्यवस्तुनो निष्ठेति दृश्यते, अब्रह्मात्मकतया तत्तंत्राभिहितानां तत्त्वानां "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "विश्वं नारायणः "इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मात्मकतामनुसंदधानस्यनारायण एव निष्ठेति प्रतीयत इत्यर्थः।

उक्त आशय को स्पष्टतः कहा भी है–"समस्त ज्ञान शास्त्र में, शास्त्र और युक्ति के अनुसार ज्ञात होता है कि–प्रभुनारायण ही निष्ठा (तत्त्व की परमसीमा) हैं।' इसमें "यथागमं यथान्यायम्" का तात्पर्य है कि–न्यायानुमोदित, समस्त वस्तुतत्त्व का विचार करने पर ज्ञात होता है कि सारे शास्त्रों के पदार्थ अब्रह्मात्मक हैं, नारायण ही सब वस्तुओं में निष्ठा हैं। यह सब ब्रह्मस्वरूप है। सारा जगत नारायण स्वरूप है "इत्यादि से निश्चित होता है कि-सारीवस्तुएं ब्रह्मात्मक हैं नारायण ही सबकी निष्ठा हैं।

अतोवेदांत वेद्यः परब्रह्मभूतोनारायणः स्वयमेव पंचरात्रस्य-कृत्नस्य वक्तेति, तत्स्वरूपतदुपासनाभिधायि तत्तंत्रमिति च तस्मिन्नितर तंत्रसामान्यं न केनचिदुद्भावयितुंशक्यम्। अतस्तत्रैवेदमुच्यते–"एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च, परस्परांगान्येतानि पंचरात्रं तु कथ्यते" इति। सांख्यं च योगश्च सांख्ययोगम्, वेदाश्चारण्यकानि च वेदारण्यकम्, परस्परांगान्येतानि एकतत्त्वप्रतिपादनपरतयैकीभूतानि एकं पंचरात्रमिति कथ्यते।

वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप नारायण ही, स्वयं संपूर्ण पंचरात्र के वक्ता हैं, उनका प्रणीत शास्त्र उनका ही स्वरूप है और उनकी उपासना का विधायक है, अन्यान्यशास्त्र उसकी समानता नहीं कर सकते। उस महाभारत में वहीं कहा गया कि–"सांख्य-योग, वेद–आरण्यक सब परस्पर अंगांगीभाव से पांचरात्र शास्त्र में वर्णन किये गए हैं।" सांख्य और योग तथा वेद और आरण्यक, एकही तत्त्व के प्रतिपादक होने से एक हैं, ये शास्त्र ही संगठित होकर पंचरात्र नामक एक शास्त्र कहलाते हैं।

एतदुक्तं भवति–सांख्योक्तानि पंचविंशतितत्त्वानि, योगोक्तं च यमनियमाद्यात्मकं योगं, वेदोदितकर्मस्वरूपाण्यंगीकृत्य तत्त्वानां ब्रह्मात्मकत्वम्। योगस्य च ब्रह्मोपासन प्रकारत्वं कर्मणां च तदाराधनरूपतामभिदधति ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादयंत्यारण्यकानि।

एतदेव परेण ब्रह्मणा नारायणेन स्वयमेव पंचरात्रतंत्रे विशदीकृतम्-इति ।

कथन यह है कि-सांख्योक्त पच्चीस तत्त्व, योगोक्त यमनियमादि साधन आदि वेदोदित कर्मो को, ब्रह्मात्मभाव से स्वीकारा गया है, आरण्यक भी, योग को ब्रह्मोपासना का विषय, तथा कर्मों को ब्रह्म का ही आराधनात्मक बतलाकर, ब्रह्मात्मक बतलाते हैं। इसी बात को परब्रह्म नारायण ने स्वयं, पंचरात्र तंत्र में, विस्तृत रूप से बतलाया है ।

शारीरके च सांख्योक्त तत्त्वानामब्रह्मात्मकतामात्रं निराकृतं न स्वरूपम् । योगपाशुपतयोश्चेश्वरस्य केवलनिमित्तिकारणता, परावरतत्त्व विपरीत कल्पना, वेदवहिष्कृताचारो निराकृतः न योग स्वरूपं पशुपति स्वरूपं च । अतः "सांख्यं योगः पंचरात्रम् वेदाः पाशुपतंतथा, आत्मप्रमाणान्येतानि न हंतव्यानि हेतुभिः । "इत्यपि तत्तदभिहित तत्तत्स्वरूपमात्रमंगीकार्यम, जिनसुगताभिहिततत्त्ववत् सर्वं न बहिष्कार्यमित्युच्यते यथागमम्-"यथान्यायंनिष्ठानारायणः प्रभुः "इत्यनेनैकार्थ्यात् ।

शारीरक शास्त्र में-सांख्योक्त तत्त्वों की अब्रह्मात्मकता मात्र का निराकरण किया गया है, उसके स्वरूप का नहीं । योग और पाशुपत मत की, केवल ईश्वरनिमित्तकारणता, परावर तत्त्व की विपरीत कल्पना, वेद बहिष्कृत आचार प्रणाली का ही निराकरण किया गया है, योग या पाशुपत के स्वरूप का नही । "सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद, पाशुपत ये सब आत्मप्रमाणक शास्त्र हैं, तर्क द्वारा इनका खंडन करना उचित नहीं है" इत्यादि वाक्य भी, उन शास्त्रों के पदार्थो में से, केवल अस्तित्वांश को ही स्वीकारता है, जैन बौद्ध की तरह संपूर्ण को त्याज्य नहीं मनता । "यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभु" इत्यादि वाक्य से इन सबकी समानता परिलक्षित होती है ।

॥ द्वितीय अध्याय द्वितीयपाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[तृतीयपाद]

१ वियदधिकरणः—

न वियद श्रुतेः ।२।३।१॥

सांख्यादिवेदवाह्यतंत्राणां न्यायाभासमूलतया विप्रतिषेधाच्चासमंजस्यमुक्तम्, इदानीं स्वपक्षस्य विप्रतिषेधादिदोषाभावख्यापनाय ब्रह्मकार्यतया अभिमत चिदचिदात्मक प्रपंचस्य कार्यता प्रकारो विशोध्यते।

वेद वाह्य सांख्य आदि तंत्रों में जो युक्तियाँ दिखलाई गई वे सब मुक्तयाभास मात्र हैं, विरुद्धार्थ का ही प्रतिपादन करती हैं इसलिये उनकी असंगति दिखलाई गई। अब अपने मत में, वह सब विरुद्धतायें नहीं हैं, इस बात को बतलाने के लिये, ब्रह्म के कार्यरूप से अभिप्रेत, जडचेतनात्मक जगत की उत्पत्ति प्रणाली की निर्दोषता का प्रतिपादन करेंगे।

तत्र वियदुत्पद्यते न वा ? इति संशय्यते । किं युक्तम् ? न वियदुत्पद्यत इति । कुतः ? अश्रुतेः, संभावितस्य हि श्रवण संभवः, असंभावितस्य तु गगनकुसुम वियदुत्पत्यादेः शब्दाभिधेयत्वं न संभवति । न खलु निरवयवस्य सर्वगतस्याकाशस्य आत्मनः, इवोत्पत्तिर्निरूपयितुं शक्यते, अत एव उत्पत्यसंभवात् छांदोग्ये सृष्टि प्रकरणे तेजः प्रभृतीनामेवोत्पत्तिराम्नायते "तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" इति । तैत्तरीयकाथर्वणादिषु "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च

खंवायुर्ज्योतिराव:" इत्यादिषु श्रूयमाणा वियदुत्पत्तिः, अर्थविरोधाद्-बाध्यते-इति ।

सर्व प्रथम—आकाश की उत्पत्ति हैं या नहीं? ऐसी शंका करते हैं। कहें कि उत्पत्ति नहीं होती, सो कैसे ? श्रुति में उसका उल्लेख नहीं मिलता, जो वस्तु संभावित होती है, श्रुति में उसी का उल्लेख किया जाता है, असंभावित गगन कुसुम और आकाश की उत्पत्ति आदि कभी शब्दोल्लेख के योग्य हो नहीं सकते। आत्मा की तरह निरवयव और सर्व व्यापी आकाश की उत्पत्ति का निरूपण संभव नहीं है, इसीलिए इसकी उत्पत्ति को असंभव मानकर छांदोग्य के सृष्टि प्रकरण में तेज आदि तीन तत्त्वों की ही उत्पत्ति बतलाई गई है—"उन्होंने सोचा अनेक रूपों में जन्म लूं, अतः उन्होंने तेज की उत्पत्ति की।" आथर्वणिक तैत्तरीयोप निषद में—"उस आत्मा से आकाश हुआ" "इन्हीं से प्राण-मन-इन्द्रियाँ, आकाश-वायु तेज और जल हुआ" इत्यादि में आकाश की उत्पत्ति बतलाई भी गई है, जो कि—उक्त मत की बाधक हो रही है।

सिद्धांतः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते-उक्त संशय पर कहते हैं-

अस्तितु ।२।३।२॥

अस्तित्वाकाशस्योत्पत्तिः, अतीन्द्रियार्थविषया हि श्रुतिः प्रमाणान्तराप्रतीतामपि वियदुत्पत्तिं प्रतिपादयितुं समर्थैव । न च श्रुति प्रतिपन्नेऽर्थे तदविरोधिनिरयवत्वादि हेतुकमनुत्परयनुमानमुदेतु-मलम्, आत्मनोऽनुत्पत्तिर्न निरवयवत्व प्रयुक्तेति वक्ष्यते ।

आकाश की उत्पत्ति होती है, अतीन्द्रिय विषय बोधिका श्रुतियाँ, निश्चित ही, अन्य प्रमाणों से अज्ञेय, आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने में समर्थ हैं। अवयव रहित आकाश की उत्पत्ति न होने के विषय में जो अनुमान है, वह भी श्रुतियों से प्रतिपाद्य अर्थ का विरोधी होकर, समक्ष उपस्थित नहीं हो सकता। आत्मा की उत्पत्ति न होने का कारण, एकमात्र निरवयवता ही नहीं है, इसका आगे विवेचन करेंगे।

गौण्यसंभवाच्छब्दाच्च ।२।३।३।।

"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि वियदुत्पत्ति श्रुतिर्गौणीति कल्पयितुं युक्तम् "तत्तेजोऽसृजत्" इति सिसृक्षोः ब्रह्मणः प्रथमं तेज उत्पद्यत इति तेज उत्पत्ति प्राथम्येन वियदुत्पत्ति प्रतिपादनासंभवात्, "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" इति वियतोऽमृतत्व शब्दाच्च ।

"उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इत्यादि श्रुति को गौणार्थ बोधिका मानना ही युक्ति संगत होगा "उन्होंने तेज की सृष्टि की" इत्यादि श्रुति बतलाती है कि—सृष्टि के इच्छुक ब्रह्म ने सर्व प्रथम तेज की उत्पत्ति की, ऐसी तेज उत्पत्ति की प्राथमिकता से, आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करना संभव नहीं है। "वायु और आकाश ये दोनों अमृत (नित्य) हैं" ऐसी आकाश की अमरता भी कही गई है।

कथमेकस्य संभूतशब्दस्य आकाशापेक्षया, गौणत्वम्, अग्न्याद्यपेक्षया मुख्यत्वमिति चेत्—तत्राह—

एक ही संभूत शब्द का आकाश के लिए गौणार्थ तथा अग्नि आदि के लिए मुख्यार्थ होना कैसे संभव है ? इस पर कहते हैं।

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।२।३।४।।

एकस्यैव "तस्माद्वा एकस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्याकाशे मुख्यत्वासंभवात् गौणतया प्रयुक्तस्य संभूतशब्दस्य "वायोरग्निः" इत्यादिष्वनुषक्तस्य मुख्यत्वंस्यादेव, ब्रह्मशब्दवत् यथा ब्रह्म शब्दः "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इत्यत्र प्रधाने गौणतया प्रयुक्तस्तस्मिन्नेव प्रकरणे" तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते., इति ब्रह्मणि मुख्यतया प्रयुज्यते, तद्वत् । अनुषंगे च श्रवणावृत्ताविवाभिधानावृत्तिर्विद्यत एवेत्यर्थः ।

"उस आत्मा से आकाश हुआ" इस वाक्य में प्रयुक्त एक ही संभूत शब्द, आकाश में मुख्यार्थ बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि–उसी वाक्य में गौणरूप से प्रयुक्त संभूत शब्द का "वायु से अग्नि" इत्यादि में संबंध होने से मुख्यार्थ ही होना निश्चित है। ब्रह्म शब्द की तरह इसकी व्यवस्था है। जैसे कि–ब्रह्म शब्द–"इस ब्रह्म से नाम रूप और अन्न उत्पन्न हुए" इस वाक्य में जैसे गौण रूप से प्रयुक्त होते हुए भी उसी प्रकरण में "तप द्वारा ब्रह्म प्राप्त होता है" उसी से अन्न होता है इस वाक्य में उसका मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है, वैसे ही संभूत शब्द की भी व्यवस्था है। अनुषंग में पदानुवृत्ति की तरह, पदार्थ की अनुवृत्ति भी निश्चित होती है।

परिहरति—उक्त तथ्य का परिहार करते हैं—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् ।२।३।५।।

छांदोग्य श्रुत्यनुसारेणान्यासांवियदुत्पत्तिवादिनीनांश्रुतीनांगौणत्वं कल्पयितुं न युज्यते, यतः छांदोग्य श्रुत्यैव वियदुत्पत्तिरंगीकृता, "येनाश्रुतं श्रुतं" इत्यादिना ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानात्। तस्या हि प्रतिज्ञायाः, अहानिराकाशस्यापि ब्रह्मकार्यत्वेन तदव्यतिरेकादेव भवति।

छांदोग्य श्रुति के अनुसार आकाश की उत्पत्ति बतलाने वाली अन्य श्रुतियों की गौणार्थ कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि—छांदोग्य श्रुति ही आकाश की उत्पत्ति स्वीकारती है। "जिससे अश्रुत भी श्रुत होता है" इत्यादि वाक्य से, ब्रह्म के ज्ञान से समस्त के ज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है, इससे निर्णय होता है कि - ब्रह्म से यदि आकाश की उत्पत्ति मानी जावे तो, ब्रह्म का कार्य आकाश, ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध होता है, जिससे कि—उक्त प्रतिज्ञा में हानि नहीं होती।

शब्देभ्यः ।२।३।६।।

इतश्च वियदुत्पत्तिः छांदोग्ये प्रतीयते, "सदेव सोम्येदमग्र आसीदे कमेवाद्वितीयम्" इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणशब्दात् "ऐतदात्म्यमिदंसर्वम्" इत्येवमादि शब्देभ्यश्च कार्यत्वेनब्रह्मणोऽव्यति-

रेकप्रतीतेः। न च "तरोजोऽसृजत्" इति तेजस उत्पत्ति श्रुतिर्वियदुत्पत्तिं वारयति। वियदुत्पत्तिवचनमात्रेण तेजसः प्रतीयमानं प्राथम्यं श्रुत्यंतरप्रतिपन्नां वियदुत्पत्तिं न निवारयितुमलम्।

इसलिए भी आकाश की उत्पत्ति छांदोग्य में प्रतीत होती है कि—"हे सौम्यः सृष्टि से पूर्व यह जगत एक अद्वितीय सत् ही था" इस वाक्य में सृष्टि से पूर्व, एकता को बतलाने वाला शब्द है तथा "यह सब कुछ आत्म्य ही है" इत्यादि में ब्रह्म से अभिन्न सब कुछ कहा गया है, जिससे आकाश की भी अभिन्नता सिद्ध होती है। "उन्होंने तेज की सृष्टि की" तेज की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुति, आकाश की उत्पत्ति का निराकरण नहीं करती। केवल आकाश की ही उत्पत्ति की बात होती तो हम उक्त श्रुति को निवारिका मानते पर अन्य तत्व भी तो हैं इसलिए तेज की उत्पत्ति से यहाँ तेज की सृष्टि की प्राथमिकता दिखलाई गई है। अन्य श्रुतियों में आकाश की उत्पत्ति का भी उल्लेख है यह श्रुति उसका निवारण तो कर नहीं सकती।

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ।२।३।७।।

तु शब्दश्चार्थे "ऐतदम्त्म्यमिदंसर्वम्" इत्यादिभिराकाशस्य विकारत्ववचनेन तस्याकाशस्य ब्रह्मणो विभाग—उत्पत्तिरप्युक्तैव। लोकवत् यथा लोके एते सर्वेदेवदत्त पुत्रा इत्यभिधाय तेषु केषांचित्तत उत्पत्तिवचनेन सर्वेषामुत्पत्तिरुक्तास्यात् तद्वत्। एवं च सति "वायुश्चांतरिक्षंचैतदमृतम्" इति सुराणामिव चिरकाल स्थायित्वाभिप्रायम्।

सूत्र में तु शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। "यह सब कुछ आत्म्य है" इत्यादि वाक्य में, आकाश भी विकृत रूप से सब में सम्मिलित बतलाया है, जिससे कि—ब्रह्म से आकाश की भिन्नता और उत्पत्ति भी कह दी गई। जैसे कि लोक में "ये सब देवदत्त के पुत्र हैं" इतना कहकर किसी एक की उत्पत्ति का उल्लेख कर दिया गया तो, सभी पुत्रों की उत्पत्ति का उल्लेख

हो गया वैसे ही आकाश की बात भी है । "वायु आकाश अमर हैं" इत्यादि तो केवल, देवताओं की तरह, चिरकाल स्थिति का ही द्योतक है ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।२।३।८॥

अनेनैव हेतुना मातरिश्वनो वायोरप्युत्पत्तिर्व्याख्याता । वियन्मातरिश्वनोः पृथग्योगकरणं "तेजोऽतस्तथाह्याह "इति मातरिश्वपरामर्शार्थम् ।

उक्त विवेचन से मातरिश्वा (वायु) की उत्पत्ति की भी व्याख्या हो गई । आकाश और वायु की उत्पत्ति के लिए अलग से निर्देश करने का अभिप्राय यह है कि–"तेजोऽतस्तथा "इत्यादि में एकमात्र मातरिश्वा का ही निर्देश किया गया है ।

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।२।३।६॥

तु शब्दोऽवधारणार्थं, असंभवः–अनुत्पत्तिः । सतः- ब्रह्मण एव, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यनुत्पत्तिर्नसंभवति, अनुत्पत्तेः एतदुक्तं भवति–वियन्मातरिश्वनोरुत्पत्ति प्रतिपादनमुदाहरणार्थंन् उत्पत्यसंभवस्तु सतः परमकारणस्य परस्यैव ब्रह्मणः । तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्याव्यक्तमहदहंकारतन्मात्रेन्द्रियवियत्यवनादि-कस्य प्रगेचस्यैक बिज्ञाने न सर्व विज्ञान प्रतिज्ञादिभिरवगतकार्य-भावस्यानुत्पत्तिनेपिपद्यत इति ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ का बोधक है । असंभव शब्द, उत्पत्ति की असंभावना का बोधक है । सत् ब्रह्म से ही जब उत्पत्ति है तब उनसे अतिरिक्त अन्य किसी की भी अनुत्पत्ति संभव नहीं है, कहने का तात्पर्य यह है, कि–आकाश और वायु की उत्पत्ति का जो प्रतिपादन किया गया है, वह तो उदाहरण मात्र है । जब सत् स्वरूप परमकारण परब्रह्म ही हैं तब उत्पत्ति असंभव है कही एक की जानकारी से समस्त

की जानकारी होती है, इस प्रतिज्ञा से जब यह निर्णय हो गया कि अव्यक्त-महत्तत्व-अहंकार-तन्मात्रा-इंद्रियाँ-आकाश-वायु आदि सब ब्रह्म के ही कार्य रूप हैं. तब इन सब प्रपंचों की अनुत्पत्ति को सिद्ध ही नहीं किया जा सकता।

२ तेजोधिकरणः-

तेजोऽतस्तथाह्याह ।२।३।१०॥

ब्रह्म व्यतिरक्तस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्, इदानी व्यवहित कार्याणां किं केवलात्तत्तदनंतरकारणभूताद्वस्तुन उत्पत्तिः, आहोस्वित् तदरूपाद् ब्रह्मणः? इति चिन्त्यते। किं युक्तम् केवलास्तदवस्तुन इति। कुतः? तेजस्तावत् अतः मातरिश्वन एवोत्पद्यते "वायोरग्निः इतिह्याह।

पिछले अधिकरण में बतलाया गया कि, ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ ब्रह्म का ही कार्य है। अब विचार किया जाता है कि-सृष्टि के बाद में जो कार्य होते हैं वे, कार्यों से उत्पन्न होते हैं अथवा परब्रह्म ही उनके भी कारण हैं? कहते हैं कि-बीते हुए कार्यों से ही अग्रिम कार्य उत्पन्न होते हैं, "वायु से अग्नि हुआ" ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

आपः ।२।३।११॥

आपोऽपि अतः-तेजस एवोत्पद्यंते, "अग्नेरापः" "तदपोऽसृजत "इतिह्याह।

जल भी-तेज से उत्पन्न होता है,"अग्नि से जल हुआ "फिर जल की सृष्टि की "इत्यादि वाक्यों से ऐसा ही ज्ञात होता है।

पृथिवी ।२।३।१२॥

पृथिवी अद्भ्य उत्पद्यते-"अद्भ्यः पृथिवी "ताअन्नमसृजन्त "इतिह्याह।

पृथवी जल से होती है, ऐसा–"जल से पृथिवी हुई "उन जलों ने अन्न की सृष्टि की इत्यादि वाक्यों में कहा गया है।

नन्वन्न शब्देन कथं पृथिव्यभिधीयते? अतआह—

अन्न शब्द से पृथिवी अर्थ कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं—

अधिकार रूपशब्दान्तरेभ्यः ।२।३।१३।।

महाभूतसृष्ट्यधिकारात् पृथिव्येवान्नशब्देनोक्तेति प्रतीयते। अदनीयस्य सर्वस्य पृथिवी विकारत्वात् कारणे कार्यशब्दः। तथा वाक्य शेषे भूतानां रूपसंशब्दने "यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य "इत्यप्तेजसोः सजातीयमेवान्नशब्द-वाच्यं प्रतीयते। शब्दांतरं च समानप्रकरणे–"अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी "इति श्रूयते। अतः पृथिव्यवान्नशब्देनोच्यत इत्यद्भ्यः एव पृथिवी जायते। उदाहृतास्तेजः प्रभृतयः प्रदर्शनार्थाः। महदादयोऽपि स्वानंतर वस्तुन एवोत्पद्यंते यथाश्रुत्यभ्युपगमाविरोधात्। "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च, खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी "तस्मादेतत्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः "तत्तेजोऽसृजत इत्यादयो ब्रह्मणः परम्परया कारणत्वेऽप्युपपद्यंत इति।

महाभूतों की सृष्टि के प्रकरण में "अन्न" शब्द से पृथ्वी का उल्लेख ही प्रतीत होता है। सारे भोज्य पदार्थ, पृथ्वी के ही विकार हैं, इसलिए कारण को ही कार्य शब्द से कह दिया गया प्रतीत होता है। उक्त वाक्य के अंत में रूप शब्द से इसी बात की पुष्टि की गई है–"अग्नि का जो –रोहित रूप है वह तेज का ही है, जो शुक्लता है वह जल की है तथा कृष्णता अन्न (पृथ्वी) की है "इसमें जल और तेज के सजातीय रूप से जो अन्न का उल्लेख किया गया है उससे अन्न का अर्थ पृथ्वी ही प्रतीत होता है। इसी के समान दूसरे प्रकरण में–"अग्नि से जल, जल से पृथिवी हुई इत्यादि में पृथ्वी शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि-अन्न

शब्द पृथ्वी का ही बोधक है। जो जल से अन्न की उत्पत्ति बतलाई गई उसका तात्पर्य पृथिवी की उत्पत्ति से ही है। तेज आदि की उत्पत्ति का जो प्रसंगतः वर्णन किया गया वह केवल उदाहरण मात्र है। श्रुतिसम्मत सिद्धांत के विरोध की निवृत्ति के लिए समझना चाहिए कि–महत् आदि तत्त्व अपनी पूर्ववर्त्ती वस्तुओं से, उत्पन्न होते हैं। "इस ब्रह्म से–प्राण,मन, इंद्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वाधार पृथ्वी हुई"इस ब्रह्म से नाम, रूप और अन्न हुए "इस परमात्मा से आकाश हुआ "उसने तेज की सृष्टि की "इन वाक्यों में कहे गए तत्त्वों के पारस्परिक संबंधानुसार ब्रह्म की कारणता स्वीकारने से, श्रुतियों की संगति हो जाती है।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिंगात सः ।२।३।१४॥

तु शब्दात् पक्षोव्यावृत्तः, महदादिकार्याणामपि तत्तदनंतरवस्तु शरीरकः स एव पुरुषोत्तमः कारणम्। कुतः? तदभिध्यानरूपात् तल्लिंगात्, अभिध्यायनम्, बहुस्यामिति संकल्पः "तत्तेज ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति" ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्यामः प्रजायेमहि" इत्यात्मनो बहुभवन संकल्परूपेक्षणश्रवणान्महदहंकाराकाशादीनामपि कारणानां तथा विधेक्षापूर्विकैव स्वकार्यसृष्टिरिति गम्यते, तथाविधं चेक्षणं तत्तच्छरीकस्य परस्यैव ब्रह्मण उपपद्यते। श्रूयते च सर्व शरीरकत्वेन सर्वात्मकत्वं परस्यब्रह्मणोऽन्तर्यामिब्राह्मणे "य पृथिव्यां तिष्ठन्" योऽप्सुतिष्ठन्" यस्तेजसि तिष्ठन्" यो वायौ तिष्ठन्" य आकाशे तिष्ठन्" इत्यादि। सुबालोपनिषदि च–"यस्य पृथिवी शरीरम् "इत्यारभ्य–"यस्याहंकारः शरीरम्" "यस्य बुद्धिः शरीरम्" यस्याव्यक्तं शरीरम्" इत्यादि।

सूत्रस्थ तु शब्द से पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति होती है। महद् आदि के भी पूर्ववर्त्ती कार्यों के शरीरी, वह पुरुषोत्तम ही, कारण हैं, उनका सृष्टित्व ज्ञापक अभिध्यान इस बात की पुष्टि करता है। "बहुत हो जाऊं" ऐसा संकल्प ही अभिध्यान है। "उस तेज ने संकल्प किया कि

बहुत होकर जन्म लूं" "उन जलों ने संकल्प किया कि—बहुत होकर उत्पन्न हो जावे" इस आत्मबहुभाव प्राप्ति विषयक, संकल्प रूप ईक्षण बोधक श्रुति, से ज्ञात होता है कि—महद् अहंकार और आकाश आदि की जो कार्य रूपा सृष्टि है, वह भी परमात्मा के संकल्प से ही होती है, उन कारण वस्तुओं के शरीरी परमात्मा ही ऐसा संकल्प कर सकते हैं, अचेतन जड, तेज आदि में ईक्षण की शक्ति संभव नहीं है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में—"जो पृथ्वी में स्थित होकर" जो जल में स्थित होकर "जो तेज में स्थित होकर" इत्यादि परब्रह्म का सर्व शरीरी और सर्वान्तिर्यामी होना बतलाया गया है। तथा सुवालोपनिषद् में भी ऐसे ही—'पृथिवी जिनका शरीर है" इत्यादि से प्रारम्भ करके "अहंकार जिनका शरीर है" इत्यादि से वही दिखलाया गया है।

यथोक्तं—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिषु श्रूयमाणा ब्रह्मणः प्राणादि सृष्टिः, परंपरयाप्युपपद्यत इति—अत्रोच्यते—

जो यह कहा कि—"एतस्माज्जायते" इत्यादि में कही गई ब्रह्म की प्राणादि सृष्टि, परस्पर संबद्ध होकर उत्पन्न होती है-उस पर कहते हैं—

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।२।३।१५॥

तु शब्दोऽवधारणार्थः अव्यक्तमहदहंकाराकाशादि क्रमाद् विपर्ययेण यः सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मान्तरंग रूपः क्रमः "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादिषुप्रतीयते स च क्रमस्तत्तादरूपात् ब्रह्मणः तत् तत्कार्योत्पत्तेरेवोपपद्यते। परम्परया कारणत्वे हि आनंतर्य श्रवणमुपरूध्येत्। अतः "एतस्माज्जायते" इत्यादि कमपि सर्वस्य ब्रह्मणः साक्षात्संभवस्योत्तंभनम्।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ का बोधक है। अव्यक्त महत् अहंकार आकाश आदि के उत्पत्ति क्रम से विपरीत भाव से जो "उस से

प्राण" इत्यादि में वर्णित ब्रह्मोत्पत्ति क्रम की, असंगति प्रतीत होती है, उससे ज्ञात होता है कि–उत्पादन भूत वस्तु रूपता को प्राप्त ब्रह्म, से ही, उन पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण सृष्टि ब्रह्मात्मक ही है, इसलिए उत्तरोत्तर जो कार्य होते हैं; वे भी ब्रह्मात्मक हैं, ऐसा सिद्ध होता है। परस्पर कारणता मानने से कारण रूप में वर्णित ब्रह्मानंतर्य (ब्रह्म ही साक्षात् कारण है) बाधित हो जायेगा। इसलिए समझना चाहिए कि– "एतस्माज्जायते" इत्यादि में, सब की, ब्रह्म से ही साक्षात् उत्पत्ति बतलाई गई है।

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिगादिति चेन्नाविशेषात्
।२।३।१६॥

विज्ञान साधनत्वादिन्द्रियाणि विज्ञानमित्युच्यंते; यदुक्तं– "एतस्माज्जायते" इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मणोऽनंतरकार्यत्वं श्राव्यते, अतश्चनेन वाक्येन सर्वस्य साक्षाद् ब्रह्मण उत्पत्तिरभिध्यानलिंगावगतोत्तम्भ्यत इति, तन्नोपपद्यते, क्रमविशेष परत्वादस्य वाक्यस्य, अत्रापि सर्वेषां क्रम प्रतीतेः खादिषु तावत् श्रुत्यंतरसिद्धिः क्रमोऽत्रापि प्रतीयते, तैः सह पाठलिंगात् भूतप्राणयोरन्तराले विज्ञान मनसी अपि क्रमेणोत्पद्येते इति प्रतीयते। अतः सर्वस्य साक्षाद् ब्रह्मण एव संभवस्योत्तंभनमिदंवाक्यं न भवतीति चेत् तन्न, अविशेषात्– "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यनेनाविशेषात्। विज्ञान मनसोः खादीनां च "एतस्माज्जायते" इत्यनेन साक्षात्संभव रूपसंबंधस्याभिधेयस्य सर्वेषां प्राणादिपृथिव्यंतानामविशिष्टत्वात् स एव विधेयः, नः क्रमः। श्रुत्यंतरसिद्धक्रमविरोधाच्च नेदं क्रमपरम्— "पृथिव्यप्सु प्रलीयते" इत्यारभ्य "तमः एकीभवति" इत्यंतेन क्रमांतर प्रतीतेः। अतोऽव्यक्तादिशरीरकात् परस्माद् ब्रह्मण एव सर्वकार्याणामुत्पत्तिः तेजः प्रभृतयश्च शब्दास्तदात्मभूतं ब्रह्मैवाभिदधति।

विज्ञान की साधन होने से इन्द्रियों को विज्ञान शब्द से उल्लेख किया गया है। "एतस्मात्" इत्यादि वाक्य से, सारा जगत्, ब्रह्म के साक्षात कार्य रूप से हुआ, ऐसा ज्ञात होता है, इसलिए अन्यान्य वाक्यों में समस्त वस्तुओं के साक्षात् संबंध से ही, ब्रह्म से उत्पत्ति कही गई हैं, उक्त वाक्य में उसी का समर्थन किया गया हो, सो बात नहीं है। अपितु यह वाक्य उत्पत्ति के क्रम विशेष का बोधक है, तथा अन्य वाक्यों में भी संपूर्ण सृज्य पदार्थो का उत्पत्ति क्रम ही प्रतीत होता है, अर्थात् अन्य श्रुतियों में जो आकाशादि का उत्पत्ति क्रम है, उसी की पुनरुक्ति "एतस्मात्" इत्यादि में की गई है। क्रम से उत्पन्न आकाश आदि के साथ उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि-इन्द्रिय और मन भी, भूतवर्ग और प्राणों के मध्य में क्रमशः उत्पन्न हुए। इसलिए सब की ब्रह्म से ही साक्षात् उत्पत्ति हुई, ऐसा नहीं कह सकते अस्तु। तुम्हारा उक्त तर्क असंगत है-"इसी से प्राण हुआ" इस वाक्य में कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती। अर्थात् "एतस्माज्जायते" वाक्य के प्रतिपाद्य—विज्ञान, मन और आकाशादि की जो साक्षात् संबंध से उत्पत्ति है, वह प्राण से लेकर पृथ्वी तक, सभी के लिए समान रूप से अभिधेय है, क्रमशः ही हो; ऐसी कोई विशेष बात नहीं है। इस वाक्य का क्रम अन्य श्रुतियों के क्रम से अविरूद्ध ही हो ऐसा भी कुछ निश्चित नहीं है, "पृथ्वी जल में लीन होती है" से प्रारम्भ करके" अन्धकार में एकीभूत हो जाते हैं" इस अंतिम वाक्य तक, क्रम में अंतर प्रतीत होता है। इसलिए अव्यक्त आदि शरीरी ब्रह्म से ही समस्त कार्यो की उत्पत्ति हुई है, यह मानना पड़ेगा। तेज आदि शब्द तदात्मक होने से, ब्रह्म अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।

नन्वेदं सर्वंशब्दानां ब्रह्मवाचित्वेसति तैस्तैः शब्दैः तत्तद्वस्तुव्यपदेशो व्युत्पत्ति सिद्धः उपरूध्येत—तत्राह—

सारे ही शब्द यदि ब्रह्मबाचक हैं, तो शब्द शास्त्रानुयामी नियम सिद्ध जो विशेष अर्थ बोधन की प्रक्रिया है, उसमें बाधा होगी? इस पर कहते हैं-

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भाव भावित्वात्

।२।३।१७।।

तु शब्दश्चोदिताशंका निवृत्यर्थः । निखिलजगमस्थावरव्यपाश्रयस्तत्तच्छब्दव्यपदेशः भाक्तः, वाच्यैकदेशेभज्यत इत्यर्थः, समस्तवस्तु प्रकारिणो ब्रह्मणः प्रकारभूतवस्तुग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद् वेदांतश्रवणात् प्राक् प्रकार्यप्रतीतेः, प्रकारिप्रतीतिभावभावित्वाच्च तत्पर्यवसानस्य लोके तत्तद्वस्तु मात्रे वाच्यैक देशे ते ते शब्दाः भंक्त्वाभंक्त्वा व्यपदिश्यंते ।

सूत्रस्थ तु शब्द उठाई गई शंका के समाधान के लिए प्रयुक्त है। स्थावरजंगात्मक संपूर्ण वस्तु विषयक जो विशेष विशेष व्यवहार है वह भाक्त अर्थात् वाच्यार्थ के एक अंश मात्र का ग्राहक है। अभिप्राय यह है कि—समस्त पदार्थ ब्रह्म के प्रकार हैं और ब्रह्म उनके प्रकारी हैं। प्रकारी भूत ब्रह्म अपने प्रकार भूत पदार्थों में, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञेय नहीं हैं, वेदांतो वाक्यों से ही उनकी प्रकार्य प्रतीति होती है। प्रकारी की प्रतीति होने से, उसके प्रकार की प्रतीति की, परिसमाप्ति हो जाती है। लोक में तो अलग-अलग वस्तुओं के लिए, एक-एक विशेष शब्द नियत हैं।

अथवा तेजः प्रभृतिभिः शब्दैः तत्तद्वस्तुमात्र वाचितया व्युत्पन्नैर्ब्रह्मणो व्यपदेशो भाक्तः स्यात्, अमुख्य स्यादित्याशंक्य—"चराचरव्यपाश्रयस्तु" इत्युच्यते । चराचरव्यपाश्रयः तद्व्यपदेशः तद्वाचिशब्दः, चराचरवाचिशब्दो ब्रह्मण्यभाक्तः मुख्य एव, कुतः ? ब्रह्मभाव भावित्वात् सर्वशब्दानां वाचक भावस्य, नामरूपव्याकरण श्रुत्याभ्यागतम् ।

अलग अलग नामों से निर्दिष्ट तेज आदि शब्दों का ब्रह्मनाम से निर्देश करना ही भाक्त अर्थात् गौण है, इस आशंका पर सूत्रकार कहते हैं–"चराचरव्यपाश्रयस्तु" अर्थात् ब्रह्म से जो चराचर का व्यपदेश है अभाक्त अर्थात् मुख्य है, गौण नहीं। क्यों कि–ब्रह्मभाव से भावित होने से ही, समस्त शब्दों की वाचकता है, ऐसा, भगवान की नामरूप में व्याकृत होने वाली श्रुति से ज्ञात होता है।

३ आत्माधिकरणः—

नात्माश्रुतेः नित्यत्वाच्चताभ्यः ।२।३।१८॥

वियदादेः कृत्स्नस्य परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिरुक्ता । इदानीं जीवस्याप्युत्पत्तिरस्तिनेति संशय्यते, किं युक्तम्? अस्तीति, कुतः? एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपत्तेः, प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणाच्च । वियदादेरिव जीवस्याप्युत्पत्तिवादिन्यः श्रुतयश्च संति—"यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम् "प्रजापतिः प्रजा असृजत्"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः यतोवा इमानि भूतानि जायंते" इति, एव सचेतनस्य जगदुत्पत्तिवचनात् जीवस्याप्युत्पत्तिः, प्रतीयते ।

आकाशादि समस्त की उत्पत्ति, ब्रह्म से बतलाई गई । अब, जीव की उत्पत्ति होती है या नहीं? ऐसा संशय करते हैं। कह सकते हैं कि—होती है, क्योंकि—एक के ज्ञान से सब का ज्ञान होता है, इस नियम से सृष्टि के पूर्व सब कुछ अद्वैत था, इस कथन से सिद्ध होता है कि-जीव की भी उत्पत्ति हुई । आकाश आदि की तरह जीव की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियाँ भी हैं । जैसे कि—"जिनसे जगत की प्रसूति हुई एवं जो पृथ्वी में जीवों की सृष्टि करते हैं "प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की" "हे सौम्य! यह सारी प्रजा सत् से ही उत्पन्न, सत् में ही स्थित, सत् आयतन वाली है" ये सारे भूत उन्हीं से उत्पन्न होते हैं । इत्यादि सचेतन जगत् की उत्पत्ति के वर्णन से, जीव की उत्पत्ति भी प्रतीत होती है ।

न च वाच्यं—ब्रह्मणो नित्यत्वात् तत्त्वमस्यादिभिश्च जीवस्य ब्रह्मत्वावगमात् जीवस्य नित्यत्वम्—इति । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "इत्येवमादिभिर्वियदादेऽपि ब्रह्मत्वावगमात्तस्यापि नित्यत्व प्रसक्तेः । अतो जीवोऽपि वियदादिवदुत्पद्यत इति ।

यह नहीं कह सकते कि—ब्रह्म नित्य है, इसलिए—तत्त्वमसि आदि जीव ब्रह्म की एकता बतलाने वाले वाक्यों के अनुसार, जीव भी नित्य है । ऐसे तो "यह सब कुछ ब्रह्मात्मक है "यह सब ब्रह्म हैं इत्यादि के

अनुसार ब्रह्मात्मक आकाशादि भी नित्य हो जावेंगे। इसलिए यही मानना चाहिये कि आकाश आदि की तरह जीव की भी उत्पत्ति होती है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—नात्मा श्रुतेः, इति। नात्मोत्पद्यते कुतः? श्रुतेः "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" ज्ञाज्ञौ द्वावजौ "इत्यादिभिर्जीवस्योत्पत्ति प्रतिषेधो हि श्रूयते। आत्मनो नित्यत्वं च ताभ्यः श्रुतिभ्यः एवावगम्यते "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" "अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे "इत्यादिभ्यः अतश्चनात्मोत्पद्यते।

उक्त संशय पर सिद्धान्त कहते हैं "नात्माश्रुतेः अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती. श्रुति से ऐसा ही निश्चित होता है-"विद्वान का जन्म और मरण नहीं होता "अल्पज्ञ और सर्वज्ञ-दो अजन्मा हैं" इत्यादि से जीव की उत्पत्ति का निषेध ज्ञात होता है। आत्मा की नित्यता भी उन्हीं श्रुतियों से ज्ञात होती है—"जो नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, तथा एक—होकर भी, अनेक कामनाओं की पूर्ति करते हैं "यह आत्मा, अज, नित्य, शाश्वत और पुराण (चिरन्तनर) है जो कि शरीर के मरने पर भी नहीं मरता" इत्यादि। इससे निश्चित हुआ कि—आत्मा अजन्मा है।

कथं तर्हि एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपद्यते? इत्थं उपपद्यते—जीवस्यापि कार्यत्वात् कार्यकारणयोरनन्यत्वाच्च। एवं तर्हि वियदादिवदुत्पत्तिमत्त्वमंगीकृतं स्यात्? नेत्युच्यते—कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिः,? तज्जीविस्याप्यस्त्येव। इयांस्तुविशेषः वियदादेरचेतनस्य यादृशोऽन्यथाभावो, न तादृशो जीवस्य, ज्ञान संकोचविकासलक्षणो जीवस्यान्यथाभावः, वियदादेस्तु स्वरूपान्यथा भावलक्षणः। सेयं स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिः जीवे प्रतिषिध्यते।

फिर, एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कैसे उपपन्न होगी? जीव को भी ब्रह्म का कार्य तथा कार्य कारण की एकता मानने से हो

जावेगी। इसका मतलब तो यह हुआ कि आपने आकाश आदि की तरह जीव की उत्पत्ति स्वीकार ली? ऐसा नहीं कह सकते-एक ही द्रव्य की अवस्थान्तर प्राप्ति ही कार्य कहलाती है, वही स्थिति जीव की भी है। आकाश आदि अचेतन द्रव्य भी, अवस्थान्तर प्राप्त कार्य हैं, पर जीव की अवस्थान्तर प्राप्ति, उनसे भिन्न कुछ विशिष्ट है। जीव का जो अन्यथा भाव है वह ज्ञान संकोचविकास लक्षण वाला है। (अर्थात् ज्ञान के संकोच विकास के कारण ही वह ब्रह्म से भिन्न है तथा आकाश आदि का अन्यथा भाव, स्वरूपान्यथा भाव है (अर्थात् आकाशादि स्वरूप से ही भिन्न हैं) उक्त स्वरूपान्तरित उत्पत्ति को ही जीव में नहीं माना गया है।

एतदुक्तं भवति–भोग्यभोक्तृनियंतृन् विविक्त स्वभावान् प्रतिपाद्य, भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तरि प्रतिषिध्य, तस्यनित्यतां च प्रतिपाद्य, भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तृगतंचापुरुषार्थाश्रयत्वं नियन्तरि प्रतिषिध्य, तस्य नित्यत्वं–निरवद्यत्वं–सर्वदासर्वज्ञत्वं-सत्यसंकल्पत्वं–करणाधिपाधिपत्वं-विश्वस्यपतित्वं च प्रतिपाद्य सर्वावस्थयोश्चिदचिदोस्तं प्रतिशरीत्वं तस्य चात्मत्वम् प्रतिपादितम्।

कथन यह है कि–विभिन्न स्वभाव वाले, भोग्य (जागतिक पदार्थ) भोक्ता (जीव) और नियंता (ब्रह्म) का निरूपण इस प्रकार किया गया है–भोग्यगत उत्पत्ति आदि का भोक्ता में प्रतिषेध करके उसकी नित्यता का प्रतिपादन करके–भोग्यगत उत्पत्ति आदि और भोक्तागत जागतिक आसक्ति का नियन्ता में प्रतिषेध करके उसकी नित्यता निर्दोषता, सर्वज्ञता, सत्यसंकलपता, करणाधिपाधिपता–विश्वाधिपत्यता का प्रतिपादन करके समस्त अवस्था वाले जडचेतन को उनका शरीर तथा उन परमात्मा को सबका अंतर्यामी बतलाया गया है।

अतः सर्वदा चिदचिद्वस्तुतया तत्प्रकारं ब्रह्म, तत्कदाचित् स्वस्माद् विभक्तव्यपदेशानर्हातिसूक्ष्मदशापन्न चिदचिद् वस्तु शरीरे तिष्ठति, तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्तनामरूपस्थूल चिदचिद्वस्तुशरीरम्, तच्च कार्यावस्थम्। तत्र कारणावस्थस्य

कार्यावस्थापत्तावचिदंशस्य कारणावस्थायां शब्दादिविहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिमत्तया स्वरूपान्यथाभावरूपविकारो भवति। चिदंशस्य च कर्मफलविशेष भोक्तृत्वाय तदनुरूपज्ञानविकास रूप विकारो भवति। उभय प्रकार विशिष्टे नियंत्रंशे तदवस्थतदुभय विशिष्टतारूप विकारो भवति कारणावस्थायां अवस्थान्तरापत्तिरूपो विकारः प्रकारद्वये प्रकारिणि च समानः।

इसीलिए—जड़चेतन रूपों में ब्रह्म की निरंतर स्थिति होने से, जागतिक पदार्थों और जीवों को, ब्रह्म का ही प्रकार कहा गया है जब वह ब्रह्म अपने से भिन्न न कहलाने योग्य अति सूक्ष्म दशा को प्राप्त जड़चेतन रूप शरीर में स्थित रहते हैं, उसे कारणावस्थ ब्रह्म कहते हैं। वही ब्रह्म जब, विभक्त नाम रूप वाले जड़चेतनमय शरीर में स्थित रहते हैं, उसे कार्यावस्थ ब्रह्म कहते हैं। कारणावस्था का जड़ भाग, शब्दादि हीन होने से भोग्य नहीं होता; भोग्यता संपादन के लिए ही—उस जड़ भाग की, कार्यावस्था में भोगने योग्य शब्दादि रूपी, अन्यथाभाव विकृति होती है। कारणावस्था के चेतन भाग की, कर्मफल विशेष भुक्ति के लिए, उसी के अनुरूप तारतम्यानुसार, ज्ञान विकास रूपी, विकृति होती है। दोनों प्रकारों से विशिष्ट, नियंत्रंश में, दोनों (कार्य कारण) अवस्थाओं से विशिष्ट, विकार होता है। कारणावस्था में जो अवस्थान्तरापत्ति विकार होता है वह, दोनों प्रकारों और प्रकारी में, समान रूप वाला होता है।

अत एवैकस्यावस्थान्तरापत्तिरूपविकारापेक्षया "येनाश्रुतं श्रुतम्" इत्येक विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायमृदादि दृष्टांतो "यथा सौम्येकेन" इत्यादिना निदर्शितः। ईदृशज्ञानसंकोचविकास-करतत्तदेह संबंध वियोगाभिप्रायाः जीवस्योत्पत्तिमरणवादिन्यः "प्रजापतिः प्रजाअसृजत" इत्याद्याः श्रुतयः। अचिदंशवत् स्वरूपान्यथात्वाभावाभिप्राया उत्पत्ति प्रतिषेधवादिन्यो नित्यत्ववा-दिन्यश्च 'न जायतेम्रियते" इत्याद्याः "नित्योनित्यानां" इत्याद्याश्च श्रुतयः। स्वरूपान्यथात्वज्ञानसंकोचविकास रूपोभयविधानिष्ट

किराभावाभिधायाः "सवाएषमहानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो ब्रह्म 'नित्योनित्यानां" इत्याद्याः परविषयाः श्रुतयः। एवं सर्वदाचिदचिद् वस्तुविशिष्टस्य ब्रह्मणः प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणं च नामरूपविभागा भावादुपपद्यते। "तद् हि इदं तर्हि अव्याकृतमासीतन्नामरूपाभ्याम् व्याक्रियत इति हि नामरूपविभागाभावाभ्यां नानात्वैकत्वे वदति इति।

एक ही की अवस्थान्तरापत्ति रूप विकार स्थिति के विषय में "येनाश्रुतं श्रुतम्" इत्यादि से एक विज्ञान से समस्त विज्ञान की प्रतिज्ञा का सिद्धान्त बतलाकर, मिट्टी आदि के दृष्टान्त को "यथा सौम्यैकेन" इत्यादि श्रुति से दिखालाया गया है। ज्ञान के संकोच विकास के साधक विशेष विशेष देहों के संबंध और वियोग जन्य, जीवों की उत्पत्ति और विनाश के बोधक-"प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की" इत्यादि वाक्य हैं। उत्पत्ति प्रतिषेधक और नित्यता के बोधक-"न जायतेम्रियते"नित्योनित्या-नाम इत्यादि वाक्यों का अभिप्राय यह है कि-अचिदंश की तरह चिदंश की, स्वरूपान्यथाभाव स्थिति नहीं होती। पर-तत्त्व विषयक "सवाएव महानज" नित्याना नित्यो"इत्यादि श्रुतियों का अभिप्राय यह है कि-संकोच विकास रूप चेतन विकाश उसमें (परतत्त्वमें) नहीं होते। सदा जड़चेतन-मय होते हुए, सृष्टि के पूर्व नाम रूपों की विभक्ति से रहित होने से, ब्रह्म का एक त्वावधारण भी उपपन्न हो जाता है। "यह जगत् सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था, सृष्टि के समय नाम रूप वाला हो गया "इत्यादि श्रुति भी, नाम रूप विभाग के सद्भाव और असद्भाव के अनुसार-एकता और अनेकता बतलाती है।

येत्वविद्योपाधिकं जीवत्वं वदंति, ये च पारमार्थिकोपाधिकृतं, ये च सन्मात्रस्वरूपं ब्रह्म स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियंतृरूपेण त्रिधावस्थितं वदंति, सर्वेऽप्येते अविद्याशक्तेरुपाधिशक्तेर्भोक्तृभोग्यनियंतृशक्तीनां च प्रलयकालेऽवस्थानेऽपितदानीमेकत्वावधारणं नामरूपविभागाभावादे-वोपपादयंति।

जो लोग (शांकर) जीव को अविद्योपाधिक कहते हैं, और जो लोग (भास्कर आदि) पारमार्थिक उपाधिकृत मानते हैं, तथा जो लोग (श्री निवास आदि) एकमात्र सत् स्वरूप ब्रह्म को ही, स्वयं भोक्ता–भोग्य -और नियंता रूप तीन अवस्थाओं वाला मानते हैं; वे सब अविद्याशक्ति–उपधिशक्ति–भोक्ता–भोग्य और नियंतृशक्ति संपन्न, नाम रूप विभाग रहित एकत्वावधारण (एकता) का ही, प्रकारान्तर से समर्थन करते हैं।

"वैषम्यनैर्घृण्ये च सापेक्षत्वात्" न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इति सूत्राभ्यां-जीवभेदस्य तत्कर्मप्रवाहस्यचानादित्वाभ्युपगमाच्च। इयान्विशेषः, एकस्यानाद्यविद्यया ब्रह्मस्वयमेव मुह्यति, अन्यस्य पारमार्थिकानाद्युपाधिना ब्रह्म स्वरूपमेव बध्यते, उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावात्। अपरस्य ब्रह्मैव विचित्राकारेण परिणमते, कर्मफलानिचानिष्टानि भुंक्ते, नियंत्रंशस्य भोक्तृत्वाभावेऽपि, सर्वज्ञत्वात्स्वसमादभिन्नं भोक्तारमनु संदधातीति स्वयमेव भुंक्ते।

"वैषम्य नैर्घृण्ये" न कर्माविभागादिति "इत्यादि दोनों सूत्रों से, जीव का भेद और उसका कर्म प्रवाह तथा उन दोनों की अनादिता तो, वे लोग भी स्वीकारते हैं–पर उनके मानने का अपना विशेष ढंग है–एक के मत में,–अनादि अविद्या से ब्रह्म स्वयं ही मोहित होता है। दूसरे के मत में–पारमार्थिक अनादि उपाधि से ब्रह्म का स्वरूप आवद्ध होता है। तीसरे के मत में– ब्रह्म ही स्वयं विचित्र आकारों में परिणत होकर कर्म फल तथा अनिष्टों का भोग करता है, भोक्तृत्व का अभाव होते हुए भी, सर्वज्ञनियंता, भोक्ता को अपने से अभिन्न मानकर–स्वयं ही भोग करते हैं।

अस्माकं तु स्थूल सूक्ष्मावस्थचिदचिद्वस्तु शरीरं ब्रह्म कारणोभयावस्थावस्थितमपि सर्वदा निरस्त निखिल दोषगंधं सत्यसंकल्पत्वाद्यपरिमितोदार गुणसागरभवतिष्ठते। प्रकारभूतचिदचिद्वस्तुगताः, अपुरुषार्थाः, स्वरूपान्यथाभावश्चेति, सर्वं समंजसम्।

हमारी दृष्टि से तो, स्थूल सूक्ष्म अवस्था वाले, जड़चेतनमय शरीरी ब्रह्म, कार्य कारण दोनों अवस्थाओं में स्थित रहते हुए भी, निर्दोषता, सत्य संकल्पना आदि अपरिमित उदार विशेष गुणों सहित विराजते हैं। ऐसा मानने से ही, ब्रह्म की ही प्रकार, जडचेतन वस्तुओं की अपुरुषार्थना और स्वरूपान्यथाभाव आदि की संगति हो जाती है।

४ ज्ञाधिकरण:-

ज्ञोऽत एव ।२।३।१६॥

वियदादिवज्जीवो नोत्पद्यत इत्युक्तम्। तत्प्रसंगेन जीव स्वरूपं निरूप्यते। किं सुगतकपिलाभिमत चिन्मात्रमेव आत्मनः स्वरूपं, उत् कणभुगभिमतपाषाणकल्प स्वरूपमचित् स्वभावमेवागंतुक चैतन्यगुणकम्, अथ ज्ञातृत्व मेवास्य स्वरूपमिति। किं युक्तम्? चिन्मात्रमिति, कुतः? तथा श्रुतेः। अन्तर्यामि ब्राह्मणे हि-"य आत्मनि तिष्ठन्" इति। माध्यंदिनीयपर्यायस्य स्थाने "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इति काण्वाअधीयते। तथा-"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इति कर्त्तुरात्मनो विज्ञानमेव स्वरूपं श्रूयते। स्मृतिषु च-"ज्ञानस्वरूपमत्यंतनिर्मलं परमार्थतः" इत्यादिष्वात्मनो ज्ञानस्वरूपत्वं प्रतीयते। अपरस्तु-जीवात्मनो ज्ञानत्वे—ज्ञातृत्वे च स्वाभाविकेऽभ्युपगम्यमाने तस्य सर्वगतस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धि प्रसंगात्। करणानां च वैयर्थ्यात्, सुषुप्तिमूर्च्छादिषु सतोऽप्यात्मनश्चैतन्यानुपलब्धेः जाग्रतः सामग्रयां सत्यां ज्ञानोत्पत्ति दर्शनादस्य न ज्ञानं स्वरूपं नापि ज्ञातृत्वं, आगंतुकमेव चैतन्यम्, सर्वगतत्वं चात्मनोऽवश्याभ्युपेत्यम् सर्वत्र कार्योपलब्धेः सर्वत्रात्मनः सन्निधानाभ्युपगमाच्छरीरगमनेनैव कार्यं संभवेसति, गति कल्पनायां प्रमाणाभावाच्च। श्रुतिरपि सुषुप्ति बेलायां ज्ञानाभावं दर्शयति-"नाहं खल्वयमेवं संप्रत्या-

तमानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि "इति । तथा मोक्षदशायां ज्ञानाभावं दर्शयति—"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति । "ज्ञानस्वरूपम्" इत्यादि प्रयोगस्तु ज्ञानस्य तदसाधारण गुणत्वेन लाक्षणिक इति ।

आकाशादि की तरह, जीव की उत्पत्ति नहीं होती यह बतला चुके, अब प्रसंग से, जीव के स्वरूप का निरूपण करेगे। जीवात्मा का स्वरुप बुद्ध और कपिल के मतानुसार चिन्मात्र, ही है ? अथवा कणाद का अभिमत, पत्थर सा जड़ स्वभाव, आगंतुक चैतन्यगुण वाला है ? अथवा ज्ञातृत्व ही इसका रुप है ? इन तीनों में कौन सा वेदांत अभिमत है ? कहते हैं कि—चिन्मात्र रूप ही है, श्रुतियों से ऐसा ही ज्ञात होता है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में—"जो आत्मा में स्थित है" इस वाक्य के ही पर्यायरुप "जो विज्ञान में स्थित है" "काण्व वाक्य से भी ऐसा ही ज्ञात होता है। तथा—"विज्ञान ही यज्ञ करता है तथा कर्मों का भी संपादन करता है', इत्यादि में आत्मा को बिज्ञान स्वरुप ही सुना जाता है। स्मृति में— "वस्तुत: आत्मा ज्ञान स्वरुप और अत्यंत निर्मल है" इत्यादि से आत्मा की ज्ञानस्वरुपता प्रतीत होती है। इस पर कणाद का कथन है कि-जीव को यदि ज्ञानस्वरुप और ज्ञातृस्वरुप मानेगे तो सर्वगत उस जीव की, सदा सब जगह उपलब्धि संभव होगी तथा भोग साधिका इन्द्रियों की प्रयोजनीयता भी समाप्त हो जायेगी । विशेष रूप से सुषुप्ति और मुर्छावस्था में आत्मा के रहते हुये भी उसकी चैतन्योपलब्धि न हो पावेगी। जागरित अवस्था में तो, ज्ञान के साधन रहते हैं, इसलिए ज्ञानोत्पत्ति देखी जाती है इन सबसे ज्ञात होता है कि, जीव का वास्तविक स्वरूप न ज्ञान है न ज्ञातृत्व। अपितु चैतन्य ही उसका गुण है, वह भी आगंतुक है। जीव की सर्वव्यापकता अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि सभी जगह उसका कार्य देखा जाता है, इसलिए उसकी सर्वत्र अवस्थिति भी माननी पड़ेगी। शरीर के जाने पर ही, जीव द्वारा सब जगह कार्य होना संभव हो सकता है, बिना शरीर के तो, जीव के जाने का, प्रमाण कहीं मिलता नहीं (इससे सिद्ध होता है कि—जीव चैतन्य रूप ही है जब वह जागरित रहता है तभी शरीर के आश्रय से चल फिर कार्य करता है, यदि ज्ञान स्वरुप होता तो बिना चले फिरे भी सब जगह की बात जान लेता) श्रुति भी सुषुप्ति

अवस्था में ज्ञानाभाव बतलाती है—"निश्चय ही यह सोया हुआ व्यक्ति, मैं अमुक हूं ऐसा ज्ञान नहीं रखता तथा इन सब जागतिक वस्तुओं को भी नहीं जानता।" मोक्षदशा में भी ज्ञानाभाव श्रुति ही से ज्ञान होता है–प्रयाण के बाद संज्ञा ज्ञान नहीं रहती" इत्यादि। जीव के लिए किया गया "ज्ञानस्वरूपम्' प्रयोग तो लाक्षणिक है, जो कि—उसका असाधारण गुण है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-ज्ञोऽत एव ज्ञ एव-अयमात्मा ज्ञातृत्व स्वरूप एव, न ज्ञानमात्रम्, नापि जडस्वरूपः, कुतः ? अतएव श्रुतेरेवेत्यर्थः। "नात्माश्रुतेः" इति प्रकृता श्रुतिः, अत इति शब्देन परामृश्यते। तथा छांदोग्ये प्रजापतिवाक्ये मुक्तामुक्तात्मस्वरूपकथने 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" मनसैवेतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्म लोके "सत्यकामः सत्यसंकल्प." नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् अन्यत्रापि—"न पश्यो मृत्युंपश्यति" तथावाजसनेयके—"कतम आत्मा इति पृष्ट्वा "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यंतर्ज्योतिः पुरूषः" तथा—"एष द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मंता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मापुरूषः" एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः" इति।

उक्त कथन पर "ज्ञोऽत एव" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। यह जीवात्मा ज्ञातृव स्वरूप ही है, ज्ञान स्वरूप या जड़ स्वरूप नहीं है। "नात्माश्रुतेः" सूत्र में जो श्रुति उल्लिखित है, इस सूत्र में, अतः शब्द से उसी का संबंध जानना चाहिए। छांदोग्योपनिषद् के प्रजापति वाक्य में मुक्त और अमुक्त आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—"मैं इसे सूंघता हूं, इस तथ्य को जो जानता है"वही" आत्मा है ' ब्रह्मलोक में जो काम्य विषय हैं, आत्मा, मन की सहायता से उन सबका अनुभव करके प्रसन्न होता है" आत्मा सत्काम और सत्यसंकल्प है ' इत्यादि। और जगह भी जैसे—"आत्म दर्शी कभी मृत्यु को नहीं देखता" वृहदारण्यक में भी जैसे—"आत्मा कौन है? ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया-"हृदय के भीतर प्राणों में स्थित प्रकाशस्वभाव विज्ञानमय पुरुष ही आत्मा है" और भी जैसे-"अरीमैत्रेयी।

इस विज्ञाता को और कैसे जानना चाहती है ? "यह पुरूष ज्ञाता ही है" यह विज्ञानात्मा पुरूष, निश्चित ही दृष्टा-श्रोता-मंता-आघ्राता, आस्वाद कर्त्ता, बोद्धा और कर्त्ता है "इस प्रकार इस द्रष्टा की सोलह कलायें हैं" इत्यादि ।

यतूक्तं ज्ञातृत्वे स्वाभाविके सति सर्वगतस्य तस्य सर्वदा सर्वत्रोपलधिः प्रसज्यत् इति-तत्रोच्यते-

जो यह कहा कि-आत्मा का ज्ञातृत्व मान लेने से, सर्वगत उस आत्मा की, सदा सर्वत्र उपलब्धि होगी—इसका उत्तर देते हैं—

उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ।२।३।२०॥

नायं सर्वगतः, अपित्वणुरेवायमात्मा कुतः ? उत्क्रांतिगत्याग-तीनां श्रुतेः, उत्क्रांतिस्तावच्छ्रूयते-"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नोवाऽन्येभ्योवा शरीरदेशेभ्यः" इति । गतिरपि-"ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयंति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छंति" इति । आगतिरपि-"तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" इति । विभुत्वे हि एता उत्क्रान्त्यादयो नोपपद्येरन् ।

यह आत्मा सर्वगत नहीं है, यह तो अणु है, उत्क्रांति गति औरआगति वाली श्रुतियों से ऐसा ही ज्ञान होता है उत्क्रांति जैसे-"यह विज्ञानात्मा-उस प्रकाशमान रूप से, चक्षु-मूर्धा अथवा किसी अन्य मार्ग से निष्क्रमण करता है । "गति जैसे-"जो इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चंद्रमंडल में ही जाते हैं । "आगति जैसे- "उस लोक से पुनः कर्म करने के लिए इस लोक में आते हैं । "इत्यादि जीव को विभु मानने से, उत्क्रांति आदि का होना संभव नहीं हैं ।

स्वात्मना चोत्तरयोः ।२।३।२१॥

च शब्दोऽवधारणे । यद्यपि शरीर वियोग रूपत्वेनोत्क्रांतिः स्थितस्याप्यात्मनः कंथचिदुपपद्यते, गत्यागती तु न कथंचिद् उपपद्येते । अतस्ते स्वात्मनैव संपाद्ये ।

सूत्रस्थ च शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हैं। विभु स्वरूप जीवात्मा की, शरीर वियोग रूप उत्क्रांति, किसी प्रकार हो भी जावे पर गति और अगति तो किसी प्रकार संभव नहीं है। ये दोनों कार्य तो उसके स्वायत्त हैं। (इसलिए जीवात्मा विभु नहीं हैं)

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।२।३।२२॥

"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इति जीवं प्रस्तुत्य, "स वा एष महानज आत्मा" इति महत्व श्रुतेः, नाणुर्जीवः, इति चेन्न, इतराधिकारात्–जीवादितरस्य प्राज्ञस्य तत्राधिकारात् यद्यप्युपक्रमे जीवः प्रस्तुतः तथापि "यस्यानुवितः प्रतिबुद्धआत्मा" इति मध्येपरः प्रतिपाद्यत इति, तत्संबंधोदं महत्वं न जीवस्य ।

"इद्रियों में जो यह विज्ञानमय है" इत्यादि में जीवको प्रस्तुत करके "वह महान् अज आत्मा है" इत्यादि में उसकी स्वरूपगत महत्ता दिखलाई गई है, इसलिए जीव, अणु नहीं प्रतीत होता। इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिये, इस प्रसंग में तो पर तत्व प्राज्ञ परमात्मा का वर्णन है, यद्यपि जीव का नहीं उपक्रम में जीव को प्रस्तुत किया गया है, परंतु उक्त उपक्रम के बाद, मध्य में "प्रतिबुद्ध आत्मा जिससे ज्ञात होता है" इत्यादि में, परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए उपसंहार के वाक्यांश में जो महान् शब्द का प्रयोग है, वह परमात्मा के लिए ही है, जीव के लिए नहीं।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।२।३।२३॥

साक्षादणुशब्द एव श्रूयते–"एषोऽणुरात्माचेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश" इति। उद्धृत्यमानं उन्मानं, अणुसदृशं वस्तूद्धृत्य तन्मानत्वं जीवस्य श्रूयते–"बालाग्र शतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवस्य विज्ञेयः,, इति। आराग्रमात्रो हि अवरोऽपिदृष्टः" इति च। अतोऽणुरेवायमात्मा।

श्रुति में—साक्षात् अणु शब्द का ही प्रयोग किया गया है—"यह अणु आत्मा चित्त से ही जाना जा सकता है, पांच प्रकार के प्राण जिसमें प्रवेश करते है उदाहरण के द्वारा ही जिसका परिमाण बतलाया जा सके उसे उन्मान कहते हैं। अणु के समान वस्तु का उदाहरण दे कर जीव का स्वरूप निरूपण किया गया है—जैसे—' बाल के अग्रिम भाग के सौवें के भी सौवें हिस्से के बराबर ही जीव स्वरूप हो सकता,है आत्मा महान है, पर इसका दूसरा रूप (जीव) आरा की धार के सामान सूक्ष्म हैं। इत्यादि से जीवात्मा की अणुता ही ज्ञात होती है।

अथस्यात्—आत्मनोऽणुत्वे सकल शरीर व्यापिनी वेदना नोपपद्यत इति, तत्रमतांतरेण परिहारमाह—

शंका करते हैं कि—यदि आत्मा को अणु मानते हैं तो, सारे शरीर में होने वाली वेदना की जो प्रतीति होती है। वह न होनी चाहिए इसका अन्य उदाहरण से परिहार करते हैं—

अविरोधश्चन्दनवत्।२।३।२४॥

यथाहरिचन्दनविंदुर्देहैकदेश वर्त्यपिसकलदेहव्यापिन माह्लादंजनयति, तद्वदात्मापि देहैकदेशवर्त्ती सकल देशवर्तिनीं वेदनामनुभवति।

जैसे की—मलयागिरीचंदन की एक बिन्दु देह के एक स्थान में स्थित होकर सारे शरीर को आह्लादित करती है, वैसे ही आत्मा, देह के एक स्थान में ही ठहरकर सारे शरीर की वेदना की अनुभूति करता है।

अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदिहि।२।३।२५॥

हरिचन्दनविन्द्वादेर्देहदेशविशेषावस्थित विशेषात्तथा भावः आत्मनस्तु तन्न विद्यत इति, चेन्न आत्मनोऽपिदेहदेश विशेषे स्थित्यभुपगमात्, हृदयदेशस्यहि आत्मनः स्थितिः श्रूयते "हृदि हि अयमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम्" इति, तथा "कतम आत्मा" इति प्रकृत्य "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेश्च हृद्यन्तर्ज्योतिः" इति।

आत्मनो देश विशेषस्थिति ख्यापनाय चंदन दृष्टान्तः प्रदर्शितः, नतु चंदनस्य देशविशेषापेक्षा ।

मलयागिरी चंदन तो देह के विशेष स्थान में स्थित होकर, शरीर को आह्लादित करता है, यह तो ठीक है, किन्तु जीवात्मा के लिए तो कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि-वह देह के अमुक स्थान में ही रहता है, ऐसी शंका करना ठीक नहीं ,आत्मा की भी देह के विशेष स्थान में स्थिति बतलाई है गई है । आत्मा की स्थिति हृदय में बतलाई गई है-यह आत्मा हृदय में स्थित रहता है, जहाँकि-एक सौ नाड़िया है' "आत्मा कौन है ? "ऐसा प्रश्न करने पर "जो कि-विज्ञानमय इद्रियों के मध्य में हृदयान्तर्गत ज्योति है "इत्यादि में, आत्मा की स्थिति विशेष बतलाई गई है । इसी स्थिति विशेष को समझने के लिए ही, चंदन का दृष्टान्त दिया गया है । चंदन के लिए यह कोई आवश्यक नहीं है कि-वह देह के अमुक स्थान विशेष में ही स्थित हो, तभी शरीर को आह्लादित करेगा जीवात्मा के तो स्थान विशेष का ही उल्लेख है ।

एक देश वर्त्तिनः सकलदेहव्यापिकार्यकरत्वं प्रकारं स्वमतेनाह-

जीवात्मा की, एक देशवर्त्ती हो कर सर्वदेह व्यापी कार्यक्षमता को अपने मत से, स्पष्ट करते हैं—

गुणाद्वाऽलोकवत् ।२।३।२६॥

वा शब्दो मतान्तरव्यावृत्यर्थः, आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन, सकलदेहं व्याप्यावस्थितः, आलोकवत्-यथा मणिद्युमणि-प्रभृतीनामेकदेशवर्त्तिनामालोकोऽनेकदेशव्यापी दृश्यते तद्वद् हृदयस्थ-स्यात्मनो ज्ञान सकल देह व्याप्यवर्त्तते, ज्ञातुः प्रभास्थानीयस्य ज्ञानस्य स्वाश्रयादन्यत्र वृत्तिर्मणिप्रभावदुपपद्यत इति प्रथम सूत्रे स्थापितम् ।

सूत्र में वा शब्द अन्य मत के परिहार का द्योतक है । जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुण ज्ञान के आश्रय से, संपूर्ण शरीर मे व्याप्त हो कर स्थित है । जैसे कि-एक देशवर्ती सूर्य कान्त आदि मणि का अलोक चारो

ओर देखा जाता है, वैसे ही हृदयस्थ आत्मा का ज्ञान, समस्तशरीर व्यापी होता है। मणि प्रभा की तरह, ज्ञाता आत्मा का जो प्रभास्थानीय ज्ञान है, वह आश्रय (आत्मा) के अलावा भी रहता हैं। ऐसा पहिले सूत्र में बतला चुके है।

ननूक्तं ज्ञानमात्रमेवात्मेति, तत्कथं ज्ञानस्य स्वरूप व्यतिरिक्त-गुणत्वमुच्यते ? तत्राह—

जब यह कहा गया कि-आत्मा ज्ञान मान ही है तब उस ज्ञान को स्वरूप से भिन्न गुणवाला कैसे कहते हो ? इसका उत्तर देते हैं।

व्यतिरेको गंधवत्तथाच दर्शयति।२।३।२७॥

यथा पृथिव्याः गंधस्य गुणत्वेनोपलभ्यमानस्य ततो व्यतिरेकः तथा जानामीति, ज्ञातृगुणत्वेन प्रतीयमानस्य ज्ञानस्यात्मनो व्यतिरेकः सिद्धः, दर्शयति श्रुतिः " जानात्येवायं पुरुषः" इति।

गुण रूप से प्रतीयमान गंध जैसे–पृथ्वी से भिन्न है वैसे ही "मैं जानता हूं ' ऐसा, गुण से प्रतीयमान ज्ञाता का ज्ञान भी, आत्मा से भिन्न है ,श्रुति भी यही कहती है "यह पुरुष निश्चय ही जानता है।

पृथगुपदेशात्।२।३।२८॥

स्वशब्देनैव विज्ञानं, विज्ञातु पृथगुपदिश्यते "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते "इति।

"विज्ञाता (जीव) का विज्ञान कभी विलुप्त नहीं होता" इस श्रुति में विज्ञान और विज्ञाता का स्पष्ट रूप से पृथक् निर्देश किया गया है।

यत्तूक्तं "यो विज्ञानेतिष्ठन्" विज्ञानं यज्ञं तनुते" ज्ञानस्यरुप मत्यंतनिर्मलम्" इत्यादिषु ज्ञानमेवात्मेति व्यपदिश्यत इति-तत्राह-

जो यह कहा कि–जो विज्ञान में अवस्थान करता है "जो विज्ञान और यज्ञ का प्रकाश करता है "जो ज्ञान स्वरूप अत्यंत निर्मल है "इत्यादि में तो आत्मा को ज्ञान स्वरुप ही कहा गया है। इस पर कहते हैं।

तद्गुण सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।२।३।२९।।

तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, तद्गुणसारत्वात् विज्ञान गुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः। विज्ञानमेवास्य सारभूतोगुणः यथा प्राज्ञस्यानंदः सारभूतो गुण इति प्राज्ञ आनंदशब्देन व्यपदिश्यते" यदेष आकाश आनन्दो व स्यात्" आनंदो ब्रह्मेतिव्यजानात्" इति। प्राज्ञस्यहि आनन्दः सारभूतोगुणः "स एको ब्रह्मण आनंदः", आनंदं-ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" इति। यथावा– "सत्यंज्ञान-मनंतं ब्रह्म" इति विपश्चितः प्राज्ञस्य ज्ञान शब्देन व्यपदेशः। "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" यः सर्वज्ञः" इत्यादिषु प्राज्ञस्य ज्ञानं सारभूतो गुण इति विज्ञायते।

सूत्रस्थतु शब्द पुर्वोक्त आशंका का निराकरण करता हैं तद्गुणसा-तत्व का तात्पर्य विज्ञान की गुणसारता से है। आत्मा को ही विज्ञान शब्द से निर्देश किया गया हैं, विज्ञान ही आत्मा का सारभूत गुण है जैसे कि–प्राज्ञ परमात्मा का, सारभूत गुण आनंद है इसी से प्राज्ञ का आनंद-शब्द से निर्देश किया गया है। "यह अकाश आनंद नही,है, आनंद को ही ब्रह्मजनो "इत्यादि। आनंद प्राज्ञका ही सारभूत गुण है, ऐसा–ऐसा–"एक मात्र ब्रह्म ही आनंद है "ब्रह्मानंद को जानकर विज्ञपुरुष किसी से नहीं डरता" इत्यादि से निश्चित होता है। तथा "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म "में विपश्चित प्राज्ञ ज्ञान शब्द से भी उल्लेख किया गया है "सह ब्रह्मणा विपश्चिता" य सर्वज्ञः इत्यादि वाक्यों में, ज्ञान को, प्राज्ञ का सारभूत गुण कहा गया है।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः तद्दर्शनात् ।२।३।३०।।

विज्ञानस्य आत्मभाविधर्मत्वात्तेन तद् व्यपदेशो न दोषः, तथा च-खण्डादयोयावत् स्वरूपभाविगोत्वादि धर्मं शब्देन 'गौरिति" व्यपदिश्यमाना दृश्यंते स्वरूपनिरूपण धर्मत्वादित्यर्थः चकारात् ज्ञानवदा-त्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानमिति व्यपदेशो न दोष इति समुच्चिनोति।

विज्ञान ही, आत्मा का नियत सहभावी धर्म (गुण) है इसलिए विज्ञान शब्द से उसका उल्लेख दोषावह नहीं है। जैसे कि सांड़ आदि, गौ के समान स्वरूप वाले होने से ही गौ कहलाते हैं। अर्थात् स्वरूप निरुपक धर्म होने से ही गौ कहलाते हैं। सूत्रस्थ च शब्द का तात्पर्य है कि ज्ञान जैसे स्व प्रकाश है आत्मा भी वैसे ही स्व प्रकाश है, इस लिए विज्ञान रूप से आत्मा का निर्देश, दोषावह नहीं है

यच्चोक्तं सुषुत्प्यादिषु ज्ञानाभावात् ज्ञानस्य स्वरूपानुवंधिधर्मत्वं इति तत्राह—

जो यह कहा कि सुषुप्ति मूर्छा आदि में, ज्ञान का अभाव होने से, ज्ञान, कभी आत्मा का स्वाभाविक गुण हो हीं नही सकता इसी का उत्तर देते हैं हैं—

पुंस्त्वादिवत्वस्य सतोऽभिव्यक्ति योगात् ।२।३।३१॥

तुशब्दश्चोदिताशंका निवृत्यर्थः। अस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादिष्वपि विद्यमानस्य जागर्यादिष्वभिव्यक्ति संभवात् स्वरूपानुवंधि धर्मत्वोपपत्तिः पुंस्त्वादिवत्—यथा पुंस्त्वाद्यसाधारणस्य धातोर्बाल्यावस्थायां सतोऽप्यनभिव्यक्तस्य युवत्वेऽभिव्यक्तौ पुंसस्तद्वत्ता न कादाचित्कोभवति। सप्तधातुमयत्वं हि शरीरस्य स्वरूपानुवंधि- "तत् सप्तधातु त्रिमलं द्वियोनि चतुर्विधाहारमयं शरीरम्" इति शरीर स्वरूप व्यपदेशात्। सुषुप्त्यादिष्वपि अहमर्थः प्रकाशत इति प्रागेवोक्तम्। तस्य विद्यमानस्य ज्ञानस्य विषय गोचरत्वं जागर्यादावुप्रलभ्यते, एते चात्मनो ज्ञातृत्वादयोधर्माः प्रागेवोपादिताः। अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम्। सचायमात्माऽणुपरिमाणः।

सूत्र का तु शब्द, की गई शंका का निवारक है। यह ज्ञान सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी रहता है, जागरित अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। इससे उसकी स्वाभाविक धर्मता सिद्ध होती है, जैसे कि-मनुष्य पुंसत्व रूप से, यौवन में ही प्रस्फुरित होता हैं, बाल अवस्था में वह अनभिव्यक्त रहता है, एकाएक ही उसका विकास नहीं होता। सप्त-

धातुमय शरीर का वर्णन इस प्रकार मिलता है–"सात धातु—तीन मल–दो योनि और चार प्रकार के आहारों के विकार वाला यह शरीर है। "सुषुप्ति आदि में भी "अहं" की स्थिति रहती है, उस ज्ञान की विद्यमानता से ही, जागरित अवस्था में वह ज्ञान देखा जाता है। आत्मा के ज्ञातृत्व आदि गुणों का प्रतिपादन तो हो ही चुका। इसलिये यही मानना चाहिए कि–ज्ञातृत्व ही जीवात्मा का स्वरूप है, और अणु ही आत्मा का परिमाण हैं।

"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्यपि न मुक्तस्यज्ञानाभावउच्यते, अपितु "एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थायतान्येवानुविनश्यति" इति संसारादशायां यद्भूतानुविधायित्वप्रयुक्तं जन्मनाशादि दर्शनम्, तन्मुक्तस्य न विद्यते, "न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्, सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वदाः। "नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं" "मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते "इत्यादि श्रुत्यैकार्थ्यात्।

"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" वाक्य में भी, मुक्त जीव का ज्ञानाभाव नहीं दिखलाया गया है, अपितु-"जीव इन समस्त भूतों से उठकर, उनके अनुसार ही नष्ट माना जाता है" ऐसा जो संसार दशा में, जीव का जन्म मरण दृष्टि गोचर होता है' वह मुक्त जीव का नहीं होता, यही उक्त वाक्यांश का तात्पर्य है। "मुक्त जीव मृत्यु नहीं देखता, न रोग और दुःख ही देखता है, वाकी सब कुछ देखता और सब कुछ प्राप्त करता" है उसे अतिनिकटस्थ इस शरीर का भी स्मरण नहीं रहता है मन से ही समस्त है 'इत्यादि श्रुतियाँ एक स्वर से उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है।

संप्रति ज्ञानात्मवादे तस्य सर्वगतत्वेदूषणमाहा–

अब, ज्ञानात्मवादे की दृष्टि से जीव की विभुता का दूषण-बतलाते हैं।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतर नियमोवाऽन्यथा।२।३।३२॥

अन्यथा सर्वगतत्वपक्षे, तस्य ज्ञानमात्रत्व पक्षे च नित्यनुपलब्ध्यनुपलब्धी सहैव प्रसज्येयाताम्; अन्यतरनियमो वा नित्यं स्यात्, अनुपलब्धिरेव वा।

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त नहीं मानोगे तो, जीव की विभुता और ज्ञानमात्र स्वरूपता की एक साथ सदा, उपलब्धि और अपलब्धि और अनुपलब्धि होगी अथवा दोनों में से एक ही बात होगी अथवा नित्य उपलब्धि होगी या नित्य अनुपलब्धि होगी।

एतदुक्तं भवति-लोकेतावद्वर्त्तमानयोरात्मोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरयं ज्ञानात्मा सर्वगतो हेतुः स्यात् उपलब्धेरेव वा, अनुपलब्धेरेव वा, उभय हेतुत्वे, सर्वदा सर्वत्रोभयं प्रसज्येत्, यद्यप्युपलब्धेरेव, सर्वस्य सर्वदासर्वत्रानुपलम्भो न स्यात्। अथानुपलब्धेरेव, सर्वदा, सर्वत्रोपलब्धिर्न स्यात् इति। अस्माकं शरीरस्यांतरेवावस्थितत्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्था सिद्धिः करणायत्तोपलब्धेरपि सर्वेषामात्मनां सर्वतत्वेन सर्दैः करणैः सर्वदाः संयुक्तत्वाददृष्टादेरप्यनियमादुक्त दोषः समानः।

कथन यह कि—व्यवहार क्षेत्र में साधारण रूप से ज्ञानात्मा, जब स्वयं ही, उपलब्धि और अनुपलब्धि का कारण हो जावेगा तो, या तो उसकी उपलब्धि होगी, अथवा अनुपलब्धि ही होगी। यदि दोनों का ही कारण होगा, तो दोनों ही सदा सर्वत्र साथ साथ रहेंगी। पर जहाँ उपलब्धि रहेगी, वहाँ सबकी, सदा, सर्वत्र अनुपलब्धि नहीं हो सकती, तथा अनुपलब्धि की स्थिति में, सबकी, सदा, सर्वत्र उपलब्धि नहीं हो सकती। हमारे मत से आत्मा जब तक शरीर में रहेगा, तब तक, उसकी शरीर रूप से उपलब्धि होती रहेगी, कोई अड़चन न पड़ेगी सारी बात बन जायगी। विषयोपलब्धि को इंद्रियाधीन मानने से भी, सब आत्मायें जब विभु और इंद्रियों से सदा संयुक्त हैं, उनका व्यवस्थापक कोई है नहीं, तब फिर वही बात उपस्थित होगी जो कि सर्वथा दोष ही है।

५ कर्त्ताऽधिकरणः—

कर्त्ताशास्त्रार्थवत्वात्।२।३।३३॥

अयमात्मा ज्ञाता, सचाणुपरिमाण इत्युक्तम्। इदानीं किं स एव कर्त्ता, उत स्वयमकर्त्तैव सन्नचेतनानां गुणानां

कर्त्तृत्वमात्मन्यध्यस्य तीति चिन्त्यते। किं युक्तम्? अकर्त्तैवात्मेति, कुतः? आत्मनो ह्यकर्त्तृत्वं गुणानामेव च कर्त्तृत्वमध्यात्म शास्त्रेषु श्रुयते। तथाहि कठवल्लीषु जीवस्य "न जायते म्रियते" इत्यादिना जरामरणादिकं सर्वं प्रकृतिधर्मं प्रतिषिध्य हननादिषु क्रियासु कर्त्तृत्वमपि प्रतिषिध्यते-"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते"इति। हंतार आत्मानं जानन्न जानात्यात्मानमित्यर्थः। तथा च भगवता स्वयमेव जीवस्य अकर्त्तृत्वं स्वरूपम्, कर्त्तृत्वाभिमानस्तु व्यामोह इत्युच्यत—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते 'नान्यगुणेभ्यः कर्त्तारं यदाद्रष्टाऽनुपश्यति" कार्यं कारण कर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते "इति च अतः पुरुषस्य भोक्तृत्वमेव, प्रकृतेरेव तु कर्त्तृत्वम् इति।

यह आत्मा ज्ञात और अणु परिमाण वाला है यह बतला चुके अब क्या वह कर्ता भी है? अथवा स्वयं अकर्त्ता होकर अचेतन गुणों के कर्त्तृत्व की (बुद्धि) से अपने में अध्यास (आरोपित) कर लेता है? इस पर विचार करते हैं, कह सकते हैं कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, अध्यात्म शास्त्र में आत्मा का अकर्त्तृत्व और गुणों का कर्त्तृत्व बतलाया गया है। जैसे कि– कठबल्ली में जीव के जन्ममरण आदि समस्त धर्मों का–"न जायते म्रियते" इत्यादि से निषेध करके, हनन आदि क्रियाओं का भी निषेध करते है–"मारने वाला यह समझे कि मैंने मारा' तथा मरने वाला समझे कि–मैं मारा गया, ये दोनों ही तथ्य को नहीं जानते' क्योंकि–न वह मारता है, न यह मरता है "अर्थात् जो, अपने को मारने वाला समझते हैं वे, वस्तुतः आत्मा को नहीं जानते। स्वयं भगवान भी जीव का अकर्त्तृत्व तथा कर्त्तृत्वाभिमान को व्यामोह बतलाते हैं–" प्राकृतिक गुणो द्वारा क्रियमाण संपूर्ण कर्मों को अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति " मैं करता हूं" ऐसा अभिमान करता है, बुद्धिमान सूक्ष्म दृष्टि वाला, गुणों के अतिरिक्त किसी को कर्त्ता नहीं मानता। कार्य और कारण के कर्त्तृत्व का हेतु, प्रकृति कहा गया है तथा-सुख दुःख आदि भोक्तृत्व पुरुष का बतलाया गया है। इस प्रकार पुरुष की भोक्तृता और प्रकृति की कर्त्तृता बतलाई गई है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्" इति आत्मैव कर्त्ता न गुणाः, कस्मात्? शास्त्रार्थवत्वात्। शास्त्राणि हि "यजेत स्वर्गकामः" "मुमुक्षुब्रह्मोपासीत्" इत्येवमादीनि स्वर्गमोक्षादिफलस्य भोक्तारेमेव कर्त्तृत्वे नियुंजते, नहि अचेतनस्य कर्त्तृत्वेऽन्यो नियुज्यते। शासनाच्च शास्त्रं शासनं च प्रवर्त्तनम्, शास्त्रस्य च प्रवर्त्तकत्वं बोधजननद्वारेण, अचेतनं च प्रधानं न बोधयितुं शक्यम्। अतः शास्त्राणामर्थवत्त्वं भोक्तुश्चेतनस्यैव कर्त्तृत्वे भवेत्। तदुक्तं—"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" इति।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से—"कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् आत्मा ही कर्त्ता है गुण नहीं है' शास्त्र से ऐसा ही निश्चित होता है। शास्त्रों में "स्वर्णाभिलाषी यज्ञ करता है" मुमुक्षु ब्रह्म की उपासना करता है, इत्यादि में, स्वर्गमोक्ष आदि फल के भोक्ता को ही कर्त्ता कहा गया है, अवेतन प्रकृति को कर्त्ता नहीं कहा गया है। शासन करने ही से शास्त्र कहलाता है·कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्त रहना ही शासन का प्रयोजन है शास्त्र, बोधजनक वाक्यो से जीवों को सत्कर्म में प्रवृत्त कराते हैं; अचेतन प्रकृति को कर्म प्रवृत्त कराया नहीं जा सकता। शास्त्रों की सार्थकता, चेतन भोक्ता के लिए ही है। ऐसा ही कहा भी गया है—"कार्य कर्त्ता को ही शास्त्रोक्त क्रिया का फल मिलता है"

यदुक्तं—"हन्ताचेन्मन्यते" इत्यादिना हननक्रियायामकर्त्तृत्वमात्मनः श्रूयत इति, तदात्मनो नित्यत्वेन हन्तव्यत्वाभावादुच्यते यच्च "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादिना गुणानामेव कर्त्तृत्वं स्मर्यत इति, तत्सांसारिक प्रवृत्तिष्वस्य कर्त्तृता सत्त्वरजस्तमोगुण संसर्गकृता, न स्वरूपप्रयुक्तेति प्राप्ताप्राप्ताविवेकेनगुणानामेवकर्त्तृतेत्युच्यते। तथा च तत्रैवोच्यते—"कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु इति। तथा तत्रैवात्मनश्च कर्त्तृत्वमभ्युपेत्पोच्यते—"तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः, पश्यत्यकृत् बुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः" इति। "अधिष्ठानं तथा कर्त्ताकरणं च पृथग्विधम्,

विविधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्" इत्यधिष्ठानादि दैवपर्यन्त सापेक्षे सत्यात्मनः कर्त्तृत्वे य आत्मानमेव केवलंकर्त्तारं मन्यते न स पश्यतीत्यर्थः।

जो यह कहा कि-"हंताचेन्मन्यते" इत्यादि में आत्मा की अकर्त्तृता बतलाई गई है; सो बात नहीं है, वहाँ पर आत्मा की नित्यता बतलाते हुए, उसकी हंतव्यता का निषेध किया गया है। और जो यह कहा कि— "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादि से, गुणों की कर्त्तृता कही गई है, सो बात भी नहीं है-वहाँ एक मात्र सांसारिक प्रवृत्तियों में ही, सत्त्वरजतम संसर्ग कृता कर्त्तव्यता बतलाई गई है वास्तविक कर्त्तृता नहीं बतलाई गयी है। भोक्ता, जीवात्मा की उच्चावच. भाव को बतलाने वाली, गुणों की कर्त्तृता कही गई है, जैसा कि-उक्त प्रसंग में ही गीता में कहा गया है—"सत् असत् योनियों में, जन्म का कारण गुणों की आसक्ति ही हैं।" उसी प्रसंग में आत्मा की कर्त्तृता का भी उल्लेख है- "जो केवल आत्मा को ही कर्त्ता मानता है, वह दुर्मति अकृत बुद्धि होने के कारण, यथार्थता को नहीं समझ पाता "अधिष्ठान (शरीर) कर्त्ता (जीव) पृथक् पृथक् करण (इन्द्रियाँ) विभिन्न प्रकार की चेष्टायें और दैव, ये पांच कारण हैं।" इस प्रकार आत्मा का कर्त्तृत्व, अधिष्ठान से लेकर दैव तक, पाँचो से सापेक्ष माना गया है, इसलिए जो लोग, एकमात्र आत्मा को कर्त्ता मानते हैं, वे निश्चित ही आत्मा को नहीं जानते। यही उक्त कथन का तात्पर्य है।

उपादानाद विहारोपदेशाच्च ।२।३।३४॥

"स यथा महाराजः" इति प्रकृत्य "एवमेवैष एतान् गृहीत्वा स्वेशरीरे यथाकामं परिवर्त्तते" इति प्राणानामुपादाने विहारे च कर्त्तृत्वमुपदिश्यते।

"जैसे कि वह महाराज" ऐसा कहकर "यह आत्मा भी उसी प्रकार, समस्त प्राणों (इन्द्रियों) को ग्रहण करके, अपने शरीर में यथेच्छ विहार करता है" इत्यादि में प्राणों के ग्रहण और विचरण में आत्मा की कर्त्तृता का उपदेश दिया गया है।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।२।३।३५॥

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि च" इति लौकिक वैदिक क्रियासु कर्त्तृत्व व्यपदेशाच्च कर्त्ता । विज्ञानशब्देन नात्मनो व्यपदेशः, अपित्वंतः करणस्य बुद्धेरिति चेत् एवं सति निर्देश विपर्ययः स्यात् बुद्धेः करणत्वाद् विज्ञानेनेति करणविभक्तिनिर्देशः स्यात् ।

"विज्ञान यज्ञ और कर्मों का संपादन करता है" इत्यादि में लौकिक वैदिक क्रियाओं में जीवात्मा का कर्त्तृत्व स्पष्ट बतलाया गया है, इसलिए उसी का कर्त्तृत्व निश्चित होता है । यदि कहो कि—विज्ञान शब्द से आत्मा का व्यपदेश नहीं है अपितु अंतःकरण की अंग रूप बुद्धि का व्यपदेश है । यदि इन्द्रियों का व्यपदेश मान लेगे तो कथन का तात्पर्य ही विपरीत हो जायेगा । यदि विज्ञान शब्द से बुद्धि अर्थ सापेक्ष होता तो "विज्ञानं" के स्थान पर "विज्ञानेन" ऐसा करण विभक्ति, का निर्देश किया गया होता ।

उपलब्धिवदनियमः ।२।३।३६॥

आत्मनोऽकर्त्तृत्वे दोष उच्यते । यथाऽत्मनोविभुत्वे नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंग इत्यादिनोपलब्धेरनियम उक्तः, तद्वदात्मनोऽकर्त्तृत्वे प्रकृतेश्चकर्त्तृत्वे तस्याः सर्व पुरूषसाधारणत्वात् सर्वाणि कर्माणि सर्वेषां भोगाय स्युः, नैव वा कस्यचित् । आत्मनां विभुत्वाभ्युपगमात् सन्निधानमपि, सर्वेषामविशिष्टम् । अत एव चान्तःकरणादीनामपि नियमो नोपपद्यते, यदायत्ताव्यवस्था स्यात् ।

आत्मा को कर्त्ता न मानने से दोष बतलाते हैं । जैसे कि—आत्मा की विभुता मानने से "नित्य उपलब्धि और अनुपलब्धि की समस्या उपस्थित होती है" इत्यादि वाक्य से उपलब्धि की अनियमितता कही गई, वैसे ही—आत्मा का अकर्त्तृत्व और प्रकृति का कर्त्तृत्व मानने से, सर्व सुलभ प्रकृति के सारे कर्म, सभी के लिए, भोग के साधन हो जावेगे भोग की विषमता का कोई नियम ही न रह जायेगा । आत्माओं को

विभु मानने से, आत्माओं का प्रकृति सानिध्य भी, समान हो जायेगा, इस प्रकार अंत: करणों के नियमों की भी कोई विशेषता न रह जायेगी, जिससे कि—कर्म भोग की विलक्षणता घटित होती है।

शक्तिविपर्ययात् ।२।३।३७।।

बुद्धेः कर्त्तृत्वे कर्त्तुरन्यस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेर्भोक्तृत्वशक्तिरपि तस्या एव स्यादित्यात्मनो भोक्तृत्वशक्तिर्हीयते । भोक्तृत्वं च बुद्धेरेव संपद्यत इति आत्म सद्भावे प्रमाणाभावश्च स्यात् । "पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात्" इति हितेषामभ्युपगमः।

बुद्धि का कर्त्तृत्व मानने से; कर्त्ता से भोक्तृता को भिन्न नहीं किया जा सकता, इसलिए भोक्तृता भी, बुद्धि की ही माननी पड़ेगी इस प्रकार आत्मा की भोक्तृत्व शक्ति समाप्त हो जायेगी तथा बुद्धि की भोक्तृता निश्चित होने से, आत्मा के अस्तित्व के प्रमाणों का ही अभाव हो जायेगा। "भोक्तृभाव से ही वह पुरुष है" यह वाक्य भी फिर बुद्धि परक ही माना जायेगा।

समाध्यभावाच्च ।२।३।३८।।

बुद्धेः कर्त्तृत्वे,मोक्षसाधनभूत समाधावपि सैव कर्त्री स्यात् । स च समाधिः "प्रकृतेरन्योऽस्मि" इत्येवं रूपः, न च प्रकृतेरन्योऽस्मीति प्रकृतिः समाधातुमलम् । अतोऽप्यात्मैव कर्त्ता ।

बुद्धि की कर्त्तृता होने से, मोक्ष की साधननिका समाधि क्रिया भी बुद्धि की ही होगी। समाधि अवस्था क्रिया में "मैं प्रकृति से भिन्न हूं" ऐसी अनुभूति होती है। यदि समाधि को बुद्धिकृत मानते हैं तो "प्रकृति से अन्य हूँ" ऐसा समाधान नहीं हो सकेगा, क्योंकि बुद्धि तो प्रकृति का ही स्वरुप है, वह स्वयं तो अपने को निवृत्त कर नहीं सकती इसलिए, आत्मा को ही, कर्त्ता मानना पड़ेगा।

नन्वात्मनः कर्त्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वदा कर्त्तृत्वान्नोपरमेतेत्यत्राह—

आत्मा का कर्त्तृत्व स्वीकारने से, आत्मा की कर्त्तृता कभी समाप्त ही न होगी? इस शंका का समाधान करते हैं—

यथा च तक्षोभयधा ।२।३।३९॥

वागाधिकरण संपन्नोऽप्यात्मा यदेच्छति, तदा करोति, यदा तुनेच्छति, तदा न करोति, यथा तक्षा वाश्याधिकरण सन्निधानेऽपि इच्छाऽनुगुण्ये न करोति, न करोति च । बुद्धेस्त्वचेतनायाः कर्त्तृत्वे तस्याः भोगवांच्छदिनियमकारणाभावात् सर्वदा कर्त्तृत्व-मेव स्यात् ।

वागादि इंद्रियों वाला जीवात्मा, जब इच्छा होती है, तभी कार्य करता है, जब नहीं होती तब नहीं करता, जैसे कि-बढ़ई, वसूला हथौड़े आदि साधनों से अपनी इच्छानुसार ही कार्य करता है और अनिच्छा होने पर नहीं करता । बुद्धि तो अचेतन है, उसमें भोग आदि की इच्छा तो होती नहीं, यदि उसे कर्त्ता मानेंगे तो सदा कार्य चालू ही रहेगा (जैसे कि मशीन चालू कर दी जाय तो सदा चलती ही रहेगी) ।

६ परायत्ताधिकरणः—

परात्तु तच्छ्रुतेः ।२।३।४०॥

इदं जीवस्य कर्त्तृत्वं किं स्वातंत्र्येण? उतपरमात्माऽयत्तमिति? किं प्राप्तम्? स्वातंत्र्येणेति । परमात्माऽयतत्वे हि विधि निषेध शास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येत् । यो हि स्वबुद्धया प्रवृत्ति निवृत्यारंभ शक्तः, स एव नियोज्यो भवति । अतः स्वातंत्र्येणास्य कर्त्तृत्वम् ।

अब विचार होता है कि-जीव का कर्त्तृत्व स्वायत्त है अथवा परमात्मायत्त? कह सकते हैं कि-स्वायत्त है । परमात्मायत्त मानने से तो, विधि निषेध के विधायक शास्त्रीय वाक्यों का कोई अर्थ ही न रह जायगा । परमात्मा सब समर्थ हैं, अपनी बुद्धि के अनुसार प्रवृत्ति निवृत्ति करने की शक्ति रखते हैं, वही नियोजक भी हो सकते हैं, इसलिए कर्त्तृत्व में उनका अधिपत्य संभव नहीं है । इसलिए जीव का तो, स्वतंत्र ही कर्त्तृत्व है [अर्थात्-यदि परमात्मायत्त कर्त्तृत्व होता तो शास्त्रों के

उपदेश की क्या आवश्यकता थी, सर्व समर्थ परमात्मा जैसा चाहते वैसा करते, शास्त्र में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश दिया गया है इसलिए जीवात्मा का कर्त्तृत्व सिद्ध होता है] ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—"परात्तुतच्छ्रुतेः" इति । तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, तत्—कर्त्तृत्वं अस्य—जीवस्य—परात् परमात्मन एव हेतोर्भवति, कुत.? श्रुतेः 'अंतः प्रवृष्टिः शास्ता जनानां सर्वात्मा" "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्माशरीरम् य आत्मानमंतरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति । स्मृतिरपि—"सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानिमायया "इति ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "परात्तुतच्छ्रुतेः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सूत्रस्थ तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है । इस जीव का कर्त्तृत्व परायत्त अर्थात् परमात्मायत्त ही है, ऐसा श्रुति से ज्ञात होता है "जो कि-जीवों का सर्वान्तिर्यामी शासक है" जो आत्मा में अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर, सयंमन करता है, आत्मा उसे नहीं जानता, आत्मा ही जिसका शरीर है, वह संर्वान्तिर्यामी अमृत है । "इत्यादि-स्मृति में भी जैसे-"मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही, स्मृति, ज्ञान और अपोहन (वितर्क) होता है"ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है और अपनी माया से यंत्र की तरह सभी प्राणियों को घुमाता रहता है । "

नन्वेवं विधिनिषेध शास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येतेत्युक्तम्—तत्राह—

ऐसा मानने से-विधिनिषेधात्मक शास्त्र व्यर्थ हो जावेंगे, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं। इसका उत्तर देते हैं—

कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः २।३।४१॥

सर्वासु क्रियासु पूरुषेण कृतं प्रयत्नं उद्योगमपेक्ष्यांतर्यामी परमात्मा तदनुमति दानेन प्रवर्त्तयति । परमात्मानुमति मंतरेणास्य

प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। कुत एतत्? विहित प्रतिसिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः आदिशब्देनानुग्रहनिग्रहादयो गृह्यंते। यथा द्वयोः साधारणे धने परस्वत्वापादनमन्यतरानुमतिमंतरेण नोपपद्यते, अथापीतरानुमतेः स्वेनैव कृतमिति तत्फलं स्वस्यैव भवति। पापकर्मसु निवर्त्तनशक्तस्याप्यनुमंतृत्वं न निर्दयत्वमावहतीति सांख्य समय निरूपणे प्रतिपादितम्।

सभी क्रियाओं में पुरुषकृत प्रयत्न ही होता है, मनुष्य के उद्योगानुसार, अन्तर्यामी परमात्मा, उसे तद्विषयक बुद्धि प्रदान करके उसमें संलग्न करते हैं। अर्थात् परमात्मा की अनुमति के बिना इस जीवात्मा की कार्यक्षमता और प्रवृत्ति हो नहीं सकती। ऐसा कैसे समझा? विधि और निषेध की अनिवार्यता से ही यह बात प्रतीत होती है। प्रभु का निग्रह अनुग्रह आदि भी उसके प्रमाण हैं। जैसे कि–दो व्यक्तियों के साझे के धन में, व्यय आदि कार्यों में परस्पर अनुमति आवश्यक है पर यदि कोई व्यक्ति, दूसरे की अनुमति बिना, स्वतः ही दान आदि करे तो, उसके, पाप पुण्य आदि का फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ेगा, वैसे ही जीवात्मा संसार के कार्यों में, परमात्मा की साझेदारी भूलकर स्वयं ही अपने को कर्त्ता मान बैठता है, उसी के फलस्वरूप उसे भोग भोगने पड़ते हैं, अनुमति दाता परमात्मा चुपचाप, उसकी करतूतों को देखते रहते हैं। पाप कर्मों से वह जीवों को बचा सकते हैं, फिर उसके पाप कर्म की अनुमति क्यों देते है, यह तो उनकी निर्दयता है, इसका उत्तर हम सांख्यमत के निरूपण के समय दे चुके हैं।

नन्वेवम् "एष हि एव साधु कर्मकारयति तं यमधोनिनीषति" इत्युन्निनीषयाऽधोनिनीषया च स्वयमेव साध्वसाधुनी कर्मणी कारयतीत्येतन्नोपपद्यते। उच्यते–एतन्नसर्वसाधारणम्, यस्त्ववतिमात्र परमपुरुषानुकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्त्तते, तमनुगृह्णन भगवान् स्वयमेव स्वप्राप्त्युपायेष्वतिकल्याणेषु कर्मस्वेव रुचिं जनयति। पश्चातिमात्रप्रातिकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्त्तते, तं निगृह्णन्

स्वप्राप्तिविरोधिष्वधोगतिसाधनेषु कर्मसुरुचिं जनयति। यथोक्तं भगवता स्वयमेव—"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते, इति मत्वा भजंते मां बुधाभाव समन्विताः" इत्यारभ्य "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्, ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांतिते "तेषामेवानुकंपार्थं अहमज्ञानजंतमः नाशयाम्यात्म भावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" इति। तथा—"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् "इत्यादि "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्य सूयकाः "इत्यन्तमुक्त्वा "तानहंद्विषतः क्रूरान् संसारेषुनराधमान्, क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु "इत्युक्तम्।

"परमात्मा उसी से उत्तम कर्म कराते हैं, जिसे उठाना चाहते हैं तथा जिसे गिराना चाहते हैं, उससे नीच कर्म कराते है "इत्यादि से भगवान द्वारा ही उत्तम निकृष्ट कर्म कराने की बात सिद्ध होती है, जिससे कि उपर्युक्त मत का सामंजस्य नहीं बैठता। इसका उत्तार देते हैं यह बात सर्वसाधारण के लिए नहीं है, अपितु जो लोग एकमात्र परमपुरुष परमात्मा के आश्रित होकर उन्ही की अनुमति के अनुसार कार्य करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं, परमात्मा, उन पर कृपा करके अपनी प्राप्ति के उपायभूत कल्याणमय कर्मों में उसकी रुचि प्रकट करते हैं, तथा जो लोग भगवत् प्राप्ति से विपरीत कर्मों में संलग्न रहते हैं, उन पर वे परमात्मा अकृपा करते हुए अपनी प्राप्ति के प्रतिकूल, अधोगति के उपायभूत कर्मों में आसक्त कर देते हैं। जैसा कि—भगवान ने स्वयं कहा है—"मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं "ऐसा समझ कर भाव समन्वित ज्ञानी भक्त मुझको भजते हैं" उन, निरन्तर मुझमें लगे हुए भजन करने वाले भक्तों को मैं, प्रीतिपूर्वक ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे, मुझे प्राप्त कर सकें, "उन्ही पर अनुग्रह करके मैं, उनमें आत्मभाव से स्थित होकर, अज्ञान से उत्पन्न उनके अंधकार को, प्रज्वलित ज्ञान दीप के द्वारा नाश कर देता हूँ "इत्यादि। तथा "जो यह कहते हैं कि-जगत असत्य, अप्रतिष्ठ और ईश्वर रहित है" मेरी निन्दा करने वाले, अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ ईश्वर की निंदा करते हैं "इत्यादि से सर्वसाधारण व्यक्तियों का रूप बतलाकर

"उन द्वेष करने वाले, क्रूर अशुभ नराधमों को मैं, संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता हूँ "इत्यादि विशिष्ट गति कही है।

७—अंशाधिकरणः—

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथापि दाश कितवादित्वमधीयतएके २।३।४२॥

जीवस्य कर्त्तृत्वं परमपुरुषायत्तमित्युक्तम्। इदानीं किमयं जीवः परस्मादत्यंतभिन्नः, उत परमेव ब्रह्म भ्रांतम्, उत ब्रह्मैवोपाध्यवच्छिन्नम्, अथ ब्रह्मांश? इति संशय्यते, श्रुति विप्रतिपत्तेः संशयः

जीव का कर्त्तृत्व, परमपुरुषायत्त है, यह बतलाया गया अब विचार करते हैं कि-जीव परमात्मा से अत्यंत भिन्न है,अथवा अज्ञानाच्छन्न भ्रांत ब्रह्म ही है, अथवा उपाधिपरिच्छिन्न ब्रह्म है, अथवा ब्रह्म का अंश है? ऐसा संशय परस्पर भिन्न श्रुतियों के आधार पर होता है।

ननु "तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः "अधिकं तु भेदनिर्देशात् इत्यत्रैवायमर्थो निर्णीतिः। सत्यम्, स एव नानात्वैकत्वश्रुति विप्रतिपत्त्या आक्षिप्य जीवस्य ब्रह्मांशत्वोपपादनेन विशेषतो निर्णीयते, यावद् हि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णीतम्, तावज्जीवस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं ब्रह्मणः—तस्मादधिकत्वं च न प्रतितिष्ठति।

"तदन्यत्वमारंभण" अधिकं भेद "इत्यादि दोनों सूत्रों में ही इस विषय का निर्णय हो चुका था। ठीक है अब परस्पर भिन्न श्रुति वाक्यों के अनुसार संशय उपस्थित करके, जीव की ब्रह्मांशता का समर्थन करके विशेष निर्णय करते हैं। जब तक जीव की ब्रह्मांशता का, निर्णय नहीं किया जाता, तब तक उसकी ब्रह्म की ब्रह्म से अनन्यता या उससे श्रेष्ठता, सिद्ध नहीं हो सकती।

किं तावत् प्राप्तम्? अत्यंतभिन्न, इति, कुतः? "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ "इत्यादिभेदनिर्देशात्। ज्ञाज्ञयोरभेदश्रुतयस्तु "अग्निना सिंचेत् "इति वद् विरुद्धार्थ प्रतिपादनादौपचारिक्यः।

उक्त प्रकार में से जीव का कौन सा रूप हो सकता है? कहते हैं कि जीव अत्यंत भिन्न है, क्योंकि-"ज्ञाज्ञो द्वावजावीशनीशो" इत्यादि में स्पष्ट भेद निर्देश किया गया है। ज्ञाता और अज्ञाता की अभिन्नता को बतलाने वाले वाक्य तो "अग्नि से सींचता है" के समान विरुद्धार्थ प्रतिपादक औपचारिक मात्र हैं।

ब्रह्मणोंऽशो जीव इत्यपि न साधीयः, एकवस्तु एकदेशवाचीहि अंश शब्दः, जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वे, तद्गता दोषा ब्रह्मणि भवेयुः। न च ब्रह्म खंडो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः, खंडनानार्हत्वात् ब्रह्मणः प्रागुक्तदोष प्रसंगाच्च। तस्मादन्यंत भिन्नस्य च तदंशत्वं दुरुपपादम्। यद्वा भ्रांतं ब्रह्मैव जीवः, कुतः "तत्त्वमसि" अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। नानात्ववादिन्यस्तु प्रत्यक्षादि सिद्धार्थानुवादित्वादनन्यथा। सिद्धाद्वैतोपदेशपराभिः श्रुतिभिः प्रत्यक्षादय इवाविद्यान्तर्गताः ख्याप्यन्ते। अथवा ब्रह्मैवानाद्युपाध्यवच्छिन्नं जीवः। कुतः तत एव ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। न चायमुपाधिभ्रांतिपरिकल्पित इति वक्तुं शक्यम्, बंधमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तेः, इति।

जीव, ब्रह्म का अंश है, यह बात भी सहज साध्य नहीं है एक वस्तु की, एक स्थानीय वस्तु को ही अंश शब्द से निर्देश किया जाता है इस प्रकार जीव की ब्रह्मैकदेशता सिद्ध होती है, जिससे कि एक देशस्थानीय जीव के दोष, ब्रह्म में भी हो सकते हैं। जीव, ब्रह्म के खंड के रूप में अंश माना गया हो सो बात नहीं है, ब्रह्म का खंड तो किया ही नहीं जा सकता वह तो अखंड है। खंड मानने से तो निश्चित ही उक्त दोष का प्रसंग होगा ही। ब्रह्म से अत्यंत भिन्न मानकर जीव की अंशता का समर्थन भी सहज नहीं है। "तत्वमसि" "अयमात्मा" इत्यादि ब्रह्मात्मभाव को बतलाने वाले वाक्यों से, भ्रांतब्रह्म ही जीव है, ऐसी धारणा वाले द्वैतपरक श्रुति वाक्यों को मानने से यह भ्रांति होती है कि-निश्चित ही विरूद्धता होगी और वे "तत्त्वमसि" आदि अद्वैत परक वाक्य व्यर्थ हो जावेगे। इसलिए ये प्रत्यक्ष में दीखने वाली विभिन्नता और इसके प्रतिपादक श्रुति वाक्य

मिथ्या हैं। अथवा– ब्रह्मात्मभाव के उपदेश के आधार पर जो "ब्रह्म ही अनादि उपाधियों से अवच्छिन्न जीव है" ऐसा मानने वाले हैं, वे उपाधि को भ्रांति कल्पित तो कह नहीं सकते, क्योंकि बंध मोक्ष आदि की व्यवस्था न हो पावेगी।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते ब्रह्मांश इति, कुतः? नानाव्यपदेशात् अन्यथा च- एकत्वेन व्यपदेशात्। उभयथा हि व्यपदेशो दृश्यते। नानात्वव्यपदेशः तावत्स्रष्टृत्वसृज्यत्वनियंतृत्वनियाम्यत्वसर्वज्ञत्वाज्ञत्व स्वाधीनत्वपराधीनत्व शुद्धत्वकल्याणगुणाकरत्वतद्विपरीतपतित्वशेष त्वादिभिर्दृश्यते। अन्यथा च अभेदेन व्यपदेशोऽपि "तत्वमसि" अयमात्माब्रह्म इत्यादिभिर्दृश्यते। अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके" ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मे मे कितवाः" इत्याथर्वणिका ब्रह्मणो दाशाकितवादित्वमप्यधीयते। ततश्च सर्वजीवव्यापित्वेनाभेदोव्यपदिश्यत इत्यर्थः। एवमुभय व्यपदेशमुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपगंतव्यः।

इस पर स्वमत प्रकट करते हैं कि—जीव, ब्रह्म का अंश ही है, ऐसा उन दोनों की एकता बतलाने वाले वाक्यों से ही ज्ञात होता है। द्वैत और अद्वैत दोनों का ही वर्णन मिलता है। भेद के वर्णन में, सृष्टि कर्त्तृत्व—सृज्यत्व, नियंतृत्व—नियाम्यत्व, सर्वज्ञत्व-अज्ञत्व, स्वाधीनत्व-पराधीनत्व, शुद्धत्व-अशुद्धत्व, कल्याण गुणाकरत्व-पतित्व और शेषत्व आदि विपरीत भावनायें पाई जाती हैं। "तत्वमसि" अयमात्मा 'ब्रह्म इत्यादि में अभेद का वर्णन मिलता है। वेद की एक शाखा में-" ब्रह्म ही दाश है, ब्रह्म ही दास है, ब्रह्म ही कितब है" इत्यादि से ब्रह्म का दास कितब आदि भाव भी मिलता है। वह सब जीवों में व्यापक होने से अभिन्न हैं, यह बात इससे ज्ञात होती है।

न च भेदव्यपदेशानां प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थत्वेनान्यथासिद्धत्वम्, ब्रह्मसृज्यत्वतन्नियाम्यत्वतच्छरीरत्वतच्छेषत्वतदाधारत्वतत्पाल्यत्व-तत्संहार्यत्व तदुपासकत्वतत्प्रसादलभ्यधर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थ-

भात्त्वादय स्ततत्कृतश्च जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनान्यथा-सिद्धः। अतोन जगत्सृष्ट्यादिवादिनीनां प्रमाणान्तरसिद्धभेदानु-वादेन मिथ्यार्थोपदेशपरत्वम् ।

यह नहीं कह सकते कि-प्रत्यक्ष में दीखने वाले भेद अकारण हैं-क्यों कि-ब्रह्म की सृज्यता, ब्रह्म की नियामकता, ब्रह्म की देहता ब्रह्मांगता, ब्रह्म की पाल्यता, ब्रह्म की संहारकता, तथा ब्रह्मोपासना और ब्रह्मानुग्रह से प्राप्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ औरउससे होने वाला जीव ब्रह्म का भेद तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, इसलिए अकारण नहीं है। जगत् की सृष्टि आदि को बतलाने वाली श्रुतियाँ, अभेद परक श्रुतियों के समक्ष, केवल कथन मात्र हैं, यह बात उक्त वर्णन से सिद्ध नहीं होती।

न चा खंडैकरसचिन्मात्रस्वरूपेण ब्रह्मणाऽत्मनोऽतद्भावानु-संधानं, वहुभवन संकल्पपूर्वकवियदादिसृष्टि, जीवभावेन तत् प्रवेशं, विचित्रनामरूपव्याकरणं, तत्कृतानंतविषयानुभवाः मिस्र सुखदुःख भागित्वम्, अभोक्तृत्वेन तत्र स्थित्वा तन्नियमनेनान्तर्यामित्व, जीव भूतस्य स्वस्य कारणब्रह्मात्मभावानुसधानं, ससारमोक्षं, तदुपदेश शास्त्रं च कुर्वाणेन भ्रमितथ्यमित्युपदिश्यते, तथा सत्युन्मत्तप्रलपित त्वापातात् ।

और न अखंड एक रस चिन्मात्र, स्वरूप ब्रह्म के साथ, जीवात्मा की अतिसूक्ष्म भिन्नता, अनेक रूपों में अविर्भूत होने के लिए संकल्प-पूर्विका आकाश आदि की सृष्टि, जीवभाव से उनमें प्रवेश, विचित्र नाम रूपों की अभिव्यक्ति, उस अभिव्यक्ति के फलस्वरूप होने वाली विषयानु-भवजनित सुख दुःख आदि द्विविधायें, अभोक्तारूप से जीव में स्थिति और संर्वान्तिर्यामी रूप से उनकी नियामकता, जीव का अपने में कारण रूपी ब्रह्मात्मभाव का अनुसंधान, संसार का मोक्ष, आदि के उपदेश देने वाले शास्त्रों के कर्त्ता को भ्रामक उपदेश देने वाला नहीं कह सकते, ऐसा कहना तो पागल का प्रलाप मात्र है।

उपाध्यवच्छिन्नंब्रह्म, जीव इत्यपि न साधीयः, पूर्वंनिर्दिष्ट नियंतृत्व, नियाम्यत्वादिव्यपदेशबाधादेव । नहि देवदत्तादेरेकस्यैव गृहाद्युपाधिभेदान्नियंतृनियाम्यभावादिसिद्धिः । अत उभय व्यपदेशोपपत्तये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपेत्यम् ।

ब्रह्म ही अनादि उपाधियों से अवच्छिन्न जीव है, इसको सिद्ध करना भी कठिन है । जो नियंतृत्व नियाम्यत्व आदि द्विविधायें बतलाई गई वह ऐसा मानने में बाधक होगी । एक ही देवदत्त, घर आदि नाम वाला लेकर, नियंता और नियम्य दोनों नहीं हो सकता । इसलिए भेदाभेद की व्यवहारिकता की सिद्धि के लिए, इस जीव को ब्रह्म का अंश मानना पड़ेगा ।

मंत्रवर्णात् ।२।३।४३।।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इतिमंत्रवर्णाच्च ब्रह्मणोंशो जीवः । अंशवाची हि पादशब्दः । "विश्वाभूतानि" इति जीवानां बहुत्वाद बहुवचन मंत्रे, सूत्रेऽपिअंश इत्येक वचनं जात्यभिप्रायम् । "नात्माश्रुतेः" इत्यत्राप्येक वचनं जात्यभिप्रायम् "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" इत्यादि श्रुतिभ्य ईश्वराद्भेदस्यात्मनां बहुत्वे प्रामाणिके सति ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वेषामेकरूपत्वेऽपि भेदकाकारः आत्ममाथात्म्यवेदनक्षमैरवगम्यते "अजंततेश्चा व्यतिकरः इत्यनंतरमेववचात् बहुत्वं वक्ष्यति ।

"साराभूत समुदाय इनके एक चरण में हैं, इनके तीन चरण अविकृत रूप से प्रकाशमय अमृत हैं" इस वैदिक मंत्र से भी, जीव, ब्रह्म का अंश सिद्ध होता है । मंत्र में वर्णित पाद शब्द, अंशवाची ही है । "विश्वाभूतानि" शब्द जीवों की बहुलता का बोधक बहुवचन है । सूत्र में प्रयुक्त "अंश" शब्द का एक वचन प्रयोग, जीव की जातिगत एकता का बोधक है। "नात्माश्रुतेः" सूत्र में किया गया एक वचन का प्रयोग भी, जातिगत एकता के अभिप्राय से ही है । "जो नित्यों का नित्य, चेतनों का

चेतन, अकेला ही अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करता है" इत्यादि में ईश्वर जीव का भेद, अभेद और नित्यता की विज्ञप्ति से भी, जीव की अंशता सिद्ध होती है। इस प्रकार जब नित्य आत्माओं की बहुलता सिद्ध हो जाती है, तब समस्त आत्माओं की ज्ञानस्वरूप एक रूपता होते हुए भी जो परस्पर आकार भेद है, उससे आत्मगत यथार्थ वेदन क्षमता ज्ञात होती है [अर्थात् अपने अपने शुभाशुभकर्मानुसार सबकी अपनी अपनी विभिन्न अनुभूतियाँ और भोग होते हैं, ऐसा ज्ञात होता है] "अंशन:" आदि सूत्र में आत्मा बाहुल्य का वर्णन करेंगे।

अपिस्मर्यते ।२।३।४४।।

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्यते, अतश्चायमंशः ।

"जीवों में मेरा ही सनातन अंश, जीव रूप से रहता है" ऐसी जीव की पुरुषोत्तममांशता स्मरण भी की गई है। इसलिए जीव अंश रूप ही है।

अंशत्वेऽपि जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवगता दोषा ब्रह्मण ऐवेत्याशंक्याह–

अंश होते हुए भी, ब्रह्मैकदेशीय जीव के दोष, ब्रह्म के माने जावेंगे यह आशंका करते हुए उत्तर देते हैं –

प्रकाशादिवत्तु नैवंपरः ।२।३।४५।।

तुशब्दाश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोंऽशः यथा अग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशांऽशोभवति, यथा-गवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः, यथा वा देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोंऽशः, तद्वत्। एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम्, विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव। तथा च विवेचकाः विशिष्टे वस्तुनि विशेषणां-

शोऽयम् विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशंति । विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाव वैलक्षण्यं दृश्यते । एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं, स्वाभावभेदश्चोपपद्यते । तदिदमुच्यते नैवं परइति । यथा भूतो जीवः, न तथाभूतः परः । यथैवहिप्रभायाः प्रभावानन्यथा भूतः तथा प्रभास्थानीयात् स्वांशाज्जीवादंशी परोऽप्यर्थान्तरभूत इत्यर्थः एवं जीवपरयोर्विशेषण विशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेद निर्देशाः प्रवर्त्तन्ते, अभेदनिर्देशास्तु प्रथक्सिद्ध्यनर्हविशेषणानांविशेषपर्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते । "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि जीवशरीरक ब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वादित्ययमर्थः प्रागेव प्रपंचितः ।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त शंका का निवारक है । प्रकाशादि की तरह, जीव, परमात्मा का अंश है, जैसे कि-अग्नि आदित्य आदि का उद्दीप्त प्रकाश, उनका ही अंश होता है । विशेषणीभूत गोत्व आदि जाति धर्म, विशिष्ट गो अश्व जैसे शुक्ल कृष्ण आदि वस्तु के अंश हैं, वैसे ही जीव भी ब्रह्म का अंश है, तथा देह जैसे, देहधारी मनुष्य देवता आदि का अंश है, वैसे ही, जीव भी ब्रह्म का अंश है । एक वस्तु का एकदेशीय, अंश होता है, अतः, एक विशिष्ट वस्तु का विशेषण, उसका अंश ही कहलायेगा । विवेचक लोग भी, विशेषण युक्त पदार्थ का ऐसा ही विवेचन करते हैं कि- "यह अंश विशेषण है, यह अंश विशेष्य है" । विशेषण विशेष्य का अंशांशी संबंध होते हुए भी, स्वाभाविक भेद भी होता है । इसीलिए सूत्रकार ने कहा "नैवं परः" अर्थात् जैसा जीव है, वैसा ही परमात्मा नहीं हैं । जैसे कि प्रभा सेप्रभावान् की भिन्नता होती है, वैसे ही अपने अंश जीव से परमात्मा भिन्न है । इसी प्रकार-जीव की विशेषण-विशेष्य कृत स्वाभाविकी भिन्नता के आधार पर, भेद का निर्देश किया गया है । अभेद का निर्देश तो, स्वतंत्ररूप से स्थित होने में असमर्थ विशेषणों की, विशेष्य पर्यन्तता का द्योतक है, मुख्य रूप से अभेद नहीं हो सकता । "तत्वमसि" अयमात्माब्रह्म" इत्यादि में तत् शब्द के पर्याय-

वाची ब्रह्म शब्द की तरह, त्वम-अयं-आत्मा आदि शब्द भी जीव शरीरी ब्रह्मवाची अनेकार्थ बोधक हैं, ऐसा पहिले भी विवेचन कर चुके हैं।

स्मरंति च ।२।३।४६।।

एवं प्रभा प्रभावद्रूपेण शक्तिशक्तिमद् रूपेण शरीरात्मभावेन चांशांशि भावं जगद्ब्रह्मणोः पराशरादयः स्मरंति-"एकदेशस्थित-स्याग्नेर्ज्योत्स्नाविस्तारिणी यथा, परस्यब्रह्मणः शक्तिः तथेदमखिलं जगत" यत्किंचित् सृज्यते येन सत्वजातेन वै द्विज, तस्य सृज्यस्य संभूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः इत्यादिना । चकाराच्छ्रुतयोऽपि-"यस्यात्माशरीरम्" इत्यादिना आत्म-शरीरभावेनंशांशित्वं वदंतीत्युच्यते ।

पराशर आदि ऋषि भीप्रभा और प्रभावान्, शक्ति और शक्तिमान शरीर और शरीरी की तरह जगत् और ब्रह्म का अंशांशी भाव मानते हैं जैसेकि" एक स्थान में स्थित अग्नि की ज्योत्स्ना जैसे चारो ओर फैलती है, पर ब्रह्म की शक्ति भी वैसे ही, निखिल जगत के रूप में विस्तृत है। "प्राणियों द्वारा जो कुछ भी निर्माण कार्य होता है, वह सब हरि का ही शरीर है।" इत्यादि सूत्रस्थ च शब्द, श्रुति का भी ऐसा ही कथन है, यह द्योतन करता है। श्रुति भी-"यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादि से, शरीर शरीरी भाव से, अंशांशी भाव, बतलाती है।

एवं ब्रह्मणोंऽशत्वे ब्रह्म प्रवर्त्यत्वे, ज्ञत्वे च सर्वेषां समाने केषांचिद् वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारः, केषांचिद्दर्शनस्पर्श नाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारश्च शास्त्रेषु-कथमुपपद्यत इत्याशंक्याह —

ऐसे ब्रह्मांशत्व ब्रह्मनियामत्व, एवं ज्ञातृत्वादिधर्म यदि जीवमात्र के समान होगे तो, शास्त्रों में किसीको वेदाध्ययन और वैदिक कर्मों की अनुमति दी गई हैं और किसी को नहीं दी गई किसी को मूर्त्ति के दर्शन स्पर्श की आज्ञा दी गई है किसी को नहीं दी गई यह बात कैसे बनेगी ? ऐसी शंका कर के उत्तर देते हैं—

अनुज्ञा परिहारौ देह संबंधात् ज्योतिरादिवत्।२।३।४७।।

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य शूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेह संबंधनिवंधनानुज्ञापरिहारावुपपद्यते ज्योतिरादिवत् यथाग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निराह्नियते स्मशानादेस्तु परिह्नियते, यथा चान्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते अभिशस्तादेस्तुपरिह्नियेत।

सभी जीव ब्रह्म के अंश और ज्ञातृत्व धर्म वाले हैं यह बात सही हैं, उनमें जो भेद हैं वह, ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि शरीर संबंध से शुचि अशुचि माना गाया है इसी आधार पर शास्त्रों में आज्ञा और निषेध का विधान किया गया है जैसे कि–अग्नि स्वरूपतः एक है पर, पवित्र याज्ञिक की अग्नि लाने की आज्ञा तथा स्मशान आदि अपवित्र स्थानों की अग्नि का निषेध किया गया है। तथा जैसे –याज्ञिक के यहाँ के अन्न लेने की आज्ञा तथा निंदित व्यक्ति के अन्न का निषेध किया गया है।

असंततेश्चाव्यतिकरः।२।३।४८।।

ब्रह्मांशत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि जीवानामन्योन्यभेदादणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वाच्च भोगव्यतिकिरोऽपि न भवति। भ्रांतब्रह्म जीववादे चोपहित ब्रह्म जीववादेच, जीवपरयोर्जीवानां च भोगव्यतिकरादयः सर्वदोषाः संतीत्यभिप्रायेण स्वपक्षे भोगव्यतिकाराभावः उक्तः।

ब्रह्मांशता आदि कारणों से जीवों की एकता होते हुए भी, जीवों के पारस्परिक भेद तथा अणुरूप से प्रतिशरीर में भिन्नता होने से भोग व्यतिकर अर्थात् एक दूसरे के भोग में, मिलावट नहीं हो पाती। भ्रांतब्रह्म जीववाद तथा उपहित ब्रह्म जीववाद में तो जीव और परमात्मा एवं जीवों में परस्पर–भोग व्यतिकर की संभावना है, इसीलिए अपने मतानुसार भोग व्यतिकराभाव दिखलाया गया है।

ननु भ्रांतब्रह्म जीववादेऽपि अविद्याकृतोपाधिभेदाद्भोग्य व्यवस्थादयः उपपद्यंते-अत आह–

यदि कहें कि-भ्रांतब्रह्मवाद में भी, अविधा कृत उपाधि मान कर, भेद स्वीकारने से, भोग्यव्यवस्था हो सकेगी-उसका उत्तर देते हैं-

आभास एव च ।२।३।४९।।

अखंडैकरस प्रकाशमात्र स्वरूपस्य स्वरूपतिरोधानपूर्वकोपाधि-भेदोपपादन हेतुराभास एव । प्रकाशैकस्वरूपस्य, प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एवेति प्रागेवोपपादितम् । " आभासा एव" इतिवापाठः तथा सति हेत व आभासाः । चकारात्" पृथगात्मानं प्रेरितारम् च मत्वा" "ज्ञाज्ञौ द्वौ" तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्ति" इत्यादि श्रुतिविरोधश्च । अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदेऽपि सर्वोपाधिभिरु-पहितस्वरूपस्यैकत्वाभ्युपगमात् भोगव्यतिकरस्तदवस्थ एव ।

अखंड एक रस, एक मात्र प्रकाश स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाले उपाधि भेद के समर्थन में जो हेतु उपस्थित किया जाता है, वह हेत्वाभास मात्र है । प्रकाशवान् के प्रकाश का तिरोधान होना तो प्रकाश नाश ही है, ऐसा बतला चुके हैं ।

सूत्र में " आभासा एव" ऐसा पाठान्तर भी मिलता है, जिसके अनुसार अर्थ किया जाता है कि-जितने भी हेतु उपस्थित किए जाते हैं, वे सब आभास हैं । पर सूत्र में, च के विशेष योग मानने से "पृथगात्मानं प्रेरितारं" ज्ञाज्ञौ" तयोरन्यः पिप्पलं" इत्यादि भेद निर्देशक श्रुतियों से विरोध उपस्थिति की बात भी निश्चित होती है । अविद्या परिकल्पित उपाधि भेदवाद में भी, उपाधियों से ब्रह्म के स्वरूप के उपहित होने पर भी, एकत्व स्वीकारने में जो भोग का व्यतिकर होता है वह भी रहता ही है, यही चकार के प्रयोग का तात्पर्य है ।

परमार्थिको पाध्युपहितब्रह्म जीववादेऽप्युपाधिभेद हेतु भूता-नाद्यदृष्टवशाद्व्यवस्था भविष्यतीत्याशंक्याह—

पारमार्थिक उपाधि उपहित ब्रह्म जीववाद में भी उपाधि भेद के कारणभूत, अनादि अदृष्ट कर्म ही व्यवस्थापक होंगे । इसका उत्तर-

अदृष्टानियमात् ।२।३।५०॥

उपाधिपरस्पराहेतुभूतस्यादृष्टस्यापि ब्रह्मस्वरूपाश्रयत्वेन नियमहेत्वभादव्यवस्थैव उपाधिभिरदृष्टैश्च स्वसंबंधेन ब्रह्मस्वरूपच्छेदा संभवात् ।

उपाधि उपहितब्रह्म के अंशगत भेद को मानने पर भी, ब्रह्म का जो अंश और उपाधि के साथ संबंध होने के नाते, उपाधिकृत भोग, केवल उस अंश में ही होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि-सारी उपाधियों का अदृष्ट परमात्मा से आत्मीय संबंध है, इसलिए ब्रह्म के स्वरूप में भी उनका होना संभव है ।

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ।२।३।५१॥

अदृष्ट हेतुभूताभिसंध्यादिष्वप्युक्तादेव हेतोरनियमएव ।

इसी प्रकार अदृष्ट हेतुभूत अभिषन्धि आदि में भी अनियम ही होगा (अर्थात् "एकोऽहं वहुस्या" इत्यादि ब्रह्माभिषंधि, जीव से संबंधित हो जायगी)

प्रदेशभेदादितिचेन्नान्तभावात् ।२।३।५२॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपम्, तच्छेदानर्ह नानाविधोपाधिभिः संबंध्यते-तथाप्युपाधिसंबंधिब्रह्मप्रदेशभेदादुपपद्यत एव भोगव्यवस्थेति चेत्-तन्न-उपाधीनां तत्र तत्र गमनात् सर्व प्रदेशानां सर्वोपाध्यन्तर्भावात् व्यतिकरस्तदवस्थ एव । प्रदेशभेदेन संबंधेऽपि सर्वस्यब्रह्मप्रदेशत्वात्तत्तत्प्रदेशसंबंधि दुःखं ब्रह्मण एव स्यात् । पूर्वत्र "नित्योपलब्धिअनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतरनियमोवाऽन्यथा" "उपलब्धिवदनियमः" इत्याभ्यां सूत्राभ्यां भेदवादिनां सर्वगत जीववादिनां दोष उक्तः, अत्र तु "आभास एव च" इत्यादिभिः सूत्रैः भेदावलंबिनामात्मैकत्ववादिनां दोष उच्यते ।

यद्यपि ब्रह्म स्वरूपत: एक तथा उपाधि संबंध होते हुए भी अविभक्त ही है, फिर भी उपाधियों के साथ, ब्रम्ह के विभिन्नांशों का संबंध होने से भोग व्यवस्था अवश्य ही होगी। ऐसा नहीं है—कि जो जो उपाधियाँ हैं वे सव परमात्मा की अंश होने से एक ही हैं ठीक है; ब्रह्मांश के दोषों का, इसी नाते ब्रह्म में भी संश्लेष हो ही जायगा अंशों के दुःख ब्रह्म के ही दुःख माने जावेंगे। "नित्योपलब्ध्युपलब्धि" "उपलब्धिवदनियम:" इत्यादि दोनों सूत्रों से वेदवाह्य सर्वगत जीव वादी कपिल आदि मतों का दोष बतला चुके हैं। यहाँ "आभास एव च "इत्यादि सूत्रों से वेदावलंबी अद्वैत वादियों का दोष बतलाया गया।

॥ द्वितीय अध्याय तृतीयपाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[चतुर्थ-पाद]

१ प्राणोत्पत्त्यधिकरणः—

तथा प्राणाः ।२।४।१॥

ब्रह्म व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यत्वेनोत्पत्तावुक्तायां जीवस्य कार्यत्वेऽपि स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिरपोदिता, तत्प्रसंगेन जीव स्वरूपंशोधितम् । संप्रति जीवोपकरणानामिन्द्रियाणां प्राणस्य चोत्पत्त्यादि प्रकारो विशोध्यते । तत्र किमिन्द्रियाणां कार्यत्वं जीववत् उत वियदादिवदिति चिन्त्यते । किं युक्तम् ?

ब्रह्म से भिन्न समस्त आकाशादि पदार्थों की कार्यरूप से उत्पत्ति बतलाते हुए, जीव की कार्यरूप होते हुए भी, अन्यथा भाव उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया । प्रसंग से ही जीव के स्वरूप का भी विश्लेषण किया गया । अब जीव की उपकरणरूप इंद्रियों तथा प्राण की उत्पत्ति के प्रकार का विश्लेषण करते हैं । विचार करते हैं कि-इंद्रियों की कार्यता जीव की तरह है अथवा आकाश आदि की तरह है?

जीववदेवेत्याह पूर्वपक्षी "तथा प्राणाः" इति । प्राणा इंद्रियाणि यथा जीवो नोत्पद्यते तथा इन्द्रियाण्यपि नोत्पद्यंते । कुतः? श्रुतेः यथा जीवस्यानुत्पत्तिः श्रुतेरवगम्यते तथा प्राणानामप्यनुत्पत्तिः श्रुतेरेव अवगम्यते । तथा प्राणा इति प्रमाणमप्यतिदिश्यते ।

उक्त विचार पर पूर्वपक्ष वाले, "तथा प्राणाः" सूत्र से जीव के समान कार्यता का समर्थन करते हैं । प्राणाः अर्थात् इन्द्रियां, जैसे कि-जीव की अनुत्पत्ति है वैसे ही इन्द्रियों की भी है । श्रुतियों से ही इसका ज्ञान

होता है, जैसे कि–जीव की अनुत्पत्ति श्रुति से ज्ञात होती है, वैसे ही प्राणों की अनुत्पत्ति भी श्रुतियों से ही ज्ञात होती है। तथा प्राणा: से, शास्त्रीय प्रमाणों की ओर ही अतिदेश (इशारा) किया गया है।

का पुनरत्र श्रुतिः? 'असद् वा इदमग्रआसीत्तदाहुः किं तदासीदिति ऋषयो वावते अग्रे सदासीत् तदाहुः के ते ऋषयः इति प्राणावाव ऋषयः "इति जगदुत्पत्तेः प्रागिन्द्रियाणां सद्भावः श्रूयते। प्राणशब्दे बहुवचनादिंद्रियाण्येवेति निश्चीयते। न चेयं श्रुतिः वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" सैषाऽनस्तमिता देवतायद्वायु "इतिवच्चिरकालावस्थायित्वेन परिणेतुंशक्या" असद् वा इदमग्र आसीत्" इति कृत्स्नप्रपंचप्रलयवेलायामप्यवस्थिततत्व श्रवणात्। उत्पत्तिवादिन्यस्तु जीवोत्पत्तिवादिन्य इव नेतव्या इति।

इस विषय की कौन सी श्रुति है? सो बतलाते हैं–कि–"सृष्टि के पूर्व यह जगत् अव्यक्त था, जिज्ञासा हुई कि-उस समय था क्या? ये सारे ऋषि थे, वे ऋषि कौन हैं? प्राण ही ऋषि हैं। "इस श्रुति में जगत् उत्पत्ति के पूर्व, इंद्रियों का अस्तित्व सुना जाता है। प्राण शब्द के बहुवचन के प्रयोग से, इंद्रियों का अर्थ निश्चित होता है। "वायु और अंतरिक्ष दोनों अमृत हैं "ज्ञात होता है कि वायु अविनाशी देवता है "इत्यादि श्रुतियों की तरह उक्त श्रुति का चिरस्थायित्व अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि–"सृष्टि के पूर्व यह सब अव्यक्त था इत्यादि से समस्त जगत के प्रलय काल में भी, प्राणों की उपस्थिति इसमें बतलाई गई है। प्राणों की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों को, जीवोत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों के अनुसार ही मानना चाहिए।

सिद्धान्ता-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-वियदादिवदेव प्राणाश्चोत्पद्यंते, कुतः? "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" आत्मा वा इदमेक एवाग्रासीत् "इत्यादिषु प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणात्" एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इतीन्द्रियाणामुत्पत्ति श्रवणाच्च प्रागवस्थानासंभवात्।

नचात्मोत्पत्तिवादवदिन्द्रयोत्पत्तिवादाः परिणेतुं शक्याः, आत्मवदुत्पत्ति प्रतिषेधश्रुतीनां नित्यत्वे श्रुतीनां चादर्शनात्।

उक्त पक्ष के उत्तर में सिद्धान्त उपस्थित करते हैं कि–आकाश आदि की तरह प्राणों की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा "हे सौम्य। सृष्टि के पूर्व एकमात्र सत् ही का! आत्मा ही एकमात्र का! इत्यादि सृष्टि के पूर्व एक ही वस्तु की सत्ता के वर्णन से ही, निश्चित होता है। तथा "इसी से प्राण, मन और इंद्रियाँ हुई" इत्यादि में स्पष्ट रूप से बतलाई गई श्रुतियों की उत्पत्ति के वर्णन से भी, ऐसा ही निश्चित होता है कि–इंद्रियाँ सृष्टि के पूर्व नहीं थीं। जीवोत्पत्ति की प्रतिपादक श्रुतियों की तरह, इंद्रियों की उत्पत्ति प्रतिपादिका श्रुतियों का तात्पर्य हो, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि–आत्मा की तरह इन्द्रियों की उत्पत्ति और नित्यता को बतलाने वाली, एक भी श्रुति नहीं मिलती।

"असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्येऽपि प्राणशब्देन परमात्मैव निर्दिश्यते। "सर्वाणि हवा इमानिभूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते" इति प्राणशब्दस्य परमात्न्यपि प्रसिद्धेः। "प्राणा वा ऋषयः" इति ऋषि शब्दश्च सर्वज्ञे तस्मिन्नेव युज्यते। न त्वचेतनेष्विद्रियेषु।

"असत् वा" इत्यादि उपर्युक्त वाक्य में भी प्राण शब्द से परमात्मा का ही निर्देश किया गया है। "ये सारे भूत समुदाय प्राण में ही प्रवेश करते हैं तथा प्राणों से ही निर्गमन करते हैं "इत्यादि वाक्य में प्राण शब्द का, परमात्मा अर्थ ही प्रसिद्ध है। "प्राणा वा ऋषयः" में कहे ऋषि शब्द से भी, सर्वज्ञ उसपरमात्मा का अर्थ करना ही युक्ति संगत होगा। अचेतन इन्द्रिय परक अर्थ करना युक्ति संगत नहीं है।

ऋषयः प्राणाः, इति बहुवचन श्रुतिः कथमुपपद्यत इति चेत् तत्राह—

ऋषयः प्राणाः इस बहुवचनांत श्रुति की संगति कैसे होगी? इस संशय का उत्तर देते हैं—

गौण्य संभवात्तत्प्राक् छुतेश्च ।२।४।२॥

वहुवचन श्रुतिर्गौणी, वह्वर्थासंभवात् तस्यैवपरमात्मनः सृष्टेः प्रागवस्थानुश्रुतेरेव ।

ब्रह्म के लिऐ वहुवचन का प्रयोग असंभव है, इसलिए वहुवचन का प्रयोग गौण मानना चाहिए, परमात्मा की सृष्टि-पूर्विका स्थिति को बतलाने वाली ' सोम्येदमग्र" इत्यादि श्रुति से ही ऐसा निश्चित होता है। वही प्रधान श्रुति है ।

तत्पूवकत्वाद्वाचः ।२।४।३॥

इतश्च प्राणशव्दः परमात्मावचनः, वाचः परमात्मव्यतिरिक्त विषयस्य नामधेयस्य वाग्विषय भूतवियदादिसृष्टि पूर्वकत्वात् । "तद् हि इदं तर्हि अव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नामरूपभाजामभावात्तदानीं वागादीन्द्रिय कार्याभावाच्चतानि न संतीत्यर्थः ।

इसलिए भी प्राण शब्द परमात्मा वाची है कि—परमात्मा से भिन्न आकाश आदि की सृष्टि के बाद ही, उनका नाम करण हुआ है (इससे यह सिद्ध होता है कि-प्राण शव्द का इंद्रिय परक नाम भी बाद में ही पड़ा है) "यह जगत् सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था, वही, नामरूप वाला हुआ "इत्यादि वर्णन से ज्ञात होता है कि-सृष्टि के पूर्व नाम रूप वाला कुछ नहीं था, वागादि इंद्रियों के कार्य का भी अभाव था, इसलिए वो नहीं थीं ।

२. सप्तगत्याधिकरणः—

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।२।४।४॥

तानि इंद्रियाणि किं सप्तैव स्युः, उत एकादशेति ? चिन्त्यते । श्रुति विप्रतिपत्तेः संशयः । किं प्राप्तम् ? सप्तेति । कुतः ? गतेर्विशेषितत्वाच्च । गतिस्तावज्जायमानेन म्रियमाणेन न जीवेनं

सह लोकेषु संचरण रूपा सप्तानामेवश्रूयते "सप्त इमे लोका येषु चरंति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त इति"। वीप्सा पुरुष भेदाभिप्राया विशेषिताश्चते गतिमंतः प्राणाः स्वरुपतः" यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह, बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्" इति। शरीरान्तः संचरणं विहाय मोक्षार्थं-गमनं परमा गति। एवं जीवेन सह जन्म मरणयोः सप्तानामेव गति श्रवणात् योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च जीवस्य करणानि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणबुद्धिर्मनांसि सप्तैवेति गम्यते। यानि त्वितराणि विषयाणां ग्राहकत्वेन "अष्टौ ग्रहाः" सप्तवै शीर्षंण्याः प्राणाः द्वाववांचौ" इत्यादिषु चतुर्दश पर्यन्तानि प्राण प्रतिपादक वाक्येषु वाक्पाणिपादपायूपस्थाहंकारचित्ताख्यानि इन्द्रियाणि प्रतीयंते, तेषां जीवेन सह गतिश्रवणाभावज्जीवस्थाल्पापकारकत्व-मात्रेणौपचारिकः प्राणव्यपदेशः।

इन्द्रियाँ सात हैं या ग्यारह ? इस पर विचार करते हैं-श्रुतियों में दोनों मतों का उल्लेख है इसलिए संशय होता है। गति और विशेषोक्ति से तो सात ही प्रतीत होती हैं। जायमान और म्रियमाण जीव के साथ लोकों में भ्रमण करने वाली सात का ही वर्णन मिलता है- जैसे कि-"ये सात लोक (इन्द्रियों के सात द्वार उसी से उत्पन्न होते हैं) जिनमें प्राण विचरते हैं, हृदय की गुहा में शयन करने वाले ये, सात सात के समुदाय सभी में स्थित हैं। भिन्न भिन्न अर्थ के द्योतन के लिए, सप्त पद की वीप्सा की गई है। जब, ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर होकर बुद्धि को भी स्थिर करती हैं, उसे ही योगी लोग, परमगति कहते हैं। इस प्रकार गति शील प्राणों का स्वरूप, विशेष रुप से बतलाया गया है। परम गति का अर्थ है, शरीर के अंदर संचरण का परित्याग करते हुए, मोक्ष की ओर अभिमुख होना। ऐसे मुमुक्षु जीव के साथ सातों की गति सुनी जाती है। "ज्ञानानि" विशेषण होने से कर्ण' त्वक्, चक्षु- जिह्वा, घ्राण, बुद्धि, मन आदि सात की ही, योग दशा में स्थिति रहती है ऐसा

प्रतीत होता है, अर्थात् ये सात ही जीव की क्रिया साधिका हैं। "इसके अतिरिक्त और जो प्राण प्रतिपादक आठ ग्रह हैं, उनमें सात शीर्ष स्थानीय, दो अधो स्थानीय हैं" इत्यादि वाक्यों में चौदह इन्द्रियों का वर्णन मिलता है, जिससे. वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, अहंकार और चित्त इत्यादि सात का भी इन्द्रियत्व ज्ञात होता है, किन्तु इन सब की जीव के साथगति का उल्लेख नहीं मिलता। जीव की, बहुत अल्प परिमाण में साधिका होने से, इन सबका भी गौण रूप से, प्राणशब्द से व्यवहार किया गया है।

सिद्धान्तः— इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।२।४।५।।

न सप्तैवेन्द्रियाणि, अपित्वेकादश, हस्तादीनामपि शरीरे स्थिते जीवे, तस्यभोगोपकरत्वात्, कार्यभेदाच्च। दृश्यते हिश्रोत्रादीनामिव हस्तादीनामपि कार्य भेद आदानादिः, अतस्तेऽपि संत्येव। अतो नैवम्-अतो हस्तादयो न संतीत्येवं न मंतव्यामित्यर्थः। अध्यवसायाभिमान चिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्धयहंकार चित्तशब्दैर्व्यपदिश्यत, इत्येकादशेन्द्रियाणि। अतः "दशेमे पुरुषे प्राणाः, आत्मैकादशः "इति आत्मशब्देन मनोऽभिधीयते। इन्द्रियाणिशैकं च पंच चेन्द्रिय गोचराः" तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवावैकारिका दश, एकादशंमनश्चात्र "इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धेन्द्रिय संख्या स्थिता। अधिक संख्यावादाः, मनोवृत्तिभेदाभिप्रायाः न्यूनव्यपदेशास्तु तत्र तत्र विवक्षितगमनादिकार्य विशेष प्रयुक्ताः।

सात ही इन्द्रिया नहीं हैं, अपितु ग्यारह हैं हस्त आदि इन्द्रियां भी शरीर में स्थित जीव के भोग का कार्य संपादन करती हैं. ज्ञान इन्द्रियों से इनके कार्य में भी भेद रहता है। कान आदि इन्द्रियों की तरह हाथ आदि इन्द्रियाँ भी, पकड़ना आदि कोई न कोई उपयोगी कार्य करती हैं। हाथ आदि नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। अध्यवसाय (निश्चय)

अभिमान और चिन्तन आदि वृत्तियों के भेद से, मन ही- बुद्धि, अहंकार और चित्त नाम से व्यवहृत होता है। इसलिए इन्द्रियाँ ग्यारह ही हैं। "जीव में दश प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा है "इस वाक्य में आत्मा शब्द मन के लिये प्रयोग किया गया है। "इन्द्रियाँ दस और एक ग्यारह हैं, और इन्द्रियों के पांच विषय हैं" इन्द्रियों को तैजस (राजस) कहा गया है, उनके अधिष्ठाता दस देवताओं को वैकारिक (सात्विक) कहा गया है, मन ग्यारहवाँ है" इत्यादि श्रुतिस्मति वाक्यों से इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही निश्चित होती है अधिक संख्या बतलाने वाले वाक्य, मनोवृत्ति के बोधक हैं तथा कम संख्या बतलाने वाले वाक्य, गमन आदि कार्य भेद के बोधक हैं।

३. प्राणाऽणुत्वाधिकरण—

अणवश्च ।२।४।६।।

"त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनंताः" इत्यानंत्य श्रवणाद्-विभुत्वं प्राणानाम्। एवं प्राप्तेऽभिधीयते" प्राणमनूत्क्रांतं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामति "इत्युत्क्रांत्यादि श्रवणात् परिमितत्वे सिद्धे सत्युत् क्रान्त्यादिषु पार्श्वस्थैरनुपलभ्यमानत्वादणवश्च प्राणाः। आनंत्ये श्रुतिस्तु" अथ यो हैतानंतानुपास्ते" इत्युपासन श्रवणादुपास्य प्राण विशेषण भूत कार्यं बाहुल्याभिप्रायाः।

"ये इन्द्रियाँ सभी समान और अनंत हैं" इत्यादि में इन्द्रियों की अनंतता बतलाई गई है, इसलिए, ये इन्द्रियाँ विभु हैं। इस संशय पर अपना मत बतलाते हैं कि-" प्राण पर अनुगमन करने पर सारे ही प्राण अनुगमन करते हैं "ऐसे उत्क्रांति के वर्णन से इनकी परिमिति सिद्ध होती है, निकट में उपस्थित व्यक्ति भी इनकी उत्क्रांति आदि को नहीं जान पाते इसलिये ये अणु ही हैं अनंतता को बतलाने वाली श्रुति "जो इन अनंत प्राणों की उपासना करते हैं" इत्यादि से उपासना विधान बतलाया है, इसीलिए उपास्य प्राण में श्रेष्ठता सूचक बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

श्रेष्ठश्च ।२।४।७॥

प्राण संवादे शरीरस्थिति हेतुत्वेन श्रेष्ठतया निर्णीतो मुख्य प्राणः "आनीदवातं स्वधया तदेकं "इति महाप्रलय समयेस्वकार्यभूत प्राणन सद्भाव श्रवणात् "एतस्माज्जायते" इति जन्मश्रवणस्य जीवजन्मश्रवणवदुपपत्तेर्नोत्पद्यत इत्याशंक्य प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणादि विरोधात् "एतस्माज्जायते प्राणः "इति पृथिव्यादितुल्योत्तपति श्रवणात्, उत्पत्ति निषेधाभावाच्च, जायत एवश्रेष्ठश्च प्राण इत्युच्यते। "आनीदवातम्" इति तु न जैवं श्रेष्ठम् प्राणमभिप्रेत्योच्यते, अपितु परस्य ब्रह्मण एकस्यैव विद्यमानत्वमुच्यते। "अवातम्" इति तत्रैव श्रवणात्। पुर्वेणैवतुल्यन्यायत्वेऽपि पृथग् योगिकरणमुत्तरचिन्तार्थम्।

छांदोग्य में प्राण संवाद के प्रस्ताव में, पंचवृत्ति विशिष्ट मुख्य प्राण ही, शरीर स्थिति के श्रेष्ठ कारण बतलाये गए हैं। "वायुहीन स्वधा सहित एक प्राण ही था" इस वाक्य में महा प्रलय के समय भी मुख्य प्राण का अस्तितत्व माना गया है। अतः "एतस्माज्जायते" इत्यादि प्राणोत्पत्ति बोधक श्रुति को भी जीवोत्पत्ति श्रुति की तरह गौणार्थ कह सकते हैं-इस पर कहते हैं कि-श्रेष्ठ प्राण निश्चित ही उत्पन्न होता है-ऐसा न मानने से सृष्टि पूर्व की अद्वैतस्थिति से विरोध होता है।"एतस्माज्जायते" इत्यादि श्रुति पृथ्वी आदि द्रव्यों की तरह, प्राण की उत्पत्ति का भी कथन करती है, उत्पत्ति के निषेधपरक वाक्यों का कहीं अभाव नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि–श्रेष्ठ प्राण की उत्पत्ति होती है। "आनीतवातम्" वाक्य श्रेष्ठ जीववाची प्राण का बोधक नहीं है, अपितु-एकमात्र परब्रह्म की विद्यमानता का द्योतक है। इसमें जो "अवातम्" विशेषण दिया गया है, वही उक्त बात की पुष्टि करता है। [क्योंकि–प्राण तो वायुरूप ही है]।

४ वायुक्रियाधिकरणः—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।२।४।८॥

सोऽयं श्रेष्ठः प्राणः किं महाभूतद्वितीयवायुमात्रम्, तस्य

वा स्पंदनरूपक्रिया, अथवा वायुरेव कंचन विशेषमापन्नः, इति विशये वायुरेवेति प्राप्तम् "यः प्राणः स वायुः" इति व्यपदेशात्। यद् वा वायुमात्रे प्राणत्व प्रसिद्ध य भावादुच्छ्वासनिश्वासादि वायुक्रियायां प्राणशब्द प्रसिद्धेश्च तत् क्रियैव।

वह श्रेष्ठ प्राण, पंचभूतों में द्वितीय स्थानीय वायुमात्र है, अथवा वायु की स्पंदनात्मक क्रियामात्र है, अथवा अन्य किसी प्रकार की वायु की अवस्था विशेष है? इस संशय पर-वायु ही है ऐसा "जो वायु है वही प्राण है" इत्यादि से निश्चित होता है। अथवा-केवल वायु को ही, प्राण कहा नहीं गया है अपितुश्वास–प्रश्वास रूप क्रिया को प्राण कहा गया है, इसलिए प्राण शब्द उक्त क्रिया विशेष का ही वाचक है।

सिद्धान्तः–इति प्रासेन–वायुमात्रम्, न च तत्क्रियेत्युच्यते, कुतः? पृथगुपदेशात्–"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुः" इति तत् एव पृथगुपदेशात् वायुक्रियापि न भवति प्राणः, न हि तेजः प्रभृतीनां क्रिया तैः सहप्रथग् द्रव्यतयापदिश्यते "यः प्राणः सः वायुः" इति तु वायूरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः न तेजः प्रभृतिवत्तत्वान्तरमितिज्ञापनार्थम्। उच्छ्वासविश्वासादावपि प्राणः स्पन्दत इति क्रियावति द्रव्य एव प्राण शब्द प्रसिद्धिः, एव न क्रियामात्रे।

इस पर कहते हैं कि–न वायुमात्र ही है, उसकी न क्रिया ही है, क्योंकि–प्राण और वायु दोनों का पृथक् उल्लेख किया गया है–"इससे प्राण, मन, इन्द्रियां ख और आकाश होते हैं "इत्यादि में प्राण और वायु का पृथक् पृथक् स्पष्ट उल्लेख है, इसलिए वायु या वायु की क्रिया रूप प्राण नहीं है। तेज आदि की क्रियाओं का कहीं पृथक् उल्लेख मिलता भी नहीं। "जो प्राण है, वही वायु है" इत्यादि में दिखलाया गया है कि-वायु ही भिन्न अवस्था को प्राप्त प्राण है, तेज आदि की तरह, प्राण कोई भिन्न तत्त्व नहीं है, इसी बात के ज्ञापन के लिए ही ऐसा कहा गया है। उच्छ्वास प्रश्वास में भी "प्राण स्पंदन करते हैं "ऐसे क्रियावान् द्रव्य की ही, प्राण शब्द से प्रसिद्धि बतलाई गई है, क्रियामात्र की नहीं।

किमयं प्राणो वायोर्विकारः सन्नग्निवद्भूतान्तरम्? नेत्याह–

यह प्राण, वायु का विकार रूप से अग्नि की तरह एक स्वतंत्र भूत नहीं हो सकता इसको बतलाते हैं—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहसृष्ट्यादिभ्यः ।२।४।६।।

नायं भूतविशेषः, अपितु चक्षुरादिवज्जीवोपकरणविशेषः। तच्चोपकरणत्वमुपकरणभूतैरिन्द्रियैः सह शिष्ट्यादिभ्योऽवगम्यते। चक्षुरादिभिस्सहायं प्राणः शिष्यते, प्राणसंवादादिषु तत् सजातीयत्वे हि तैः सहशासनं युज्यते। प्राणशब्द परिगृहीतेषु करणेष्वस्य विशिष्याभिधानमादिशब्दे गृह्यते "अथह य एवायं मुख्य प्राणः" योऽयंमध्यमः प्राणः इत्यादिषु विशिष्याभिधानात्।

यह प्राण, भूत-विशेष वायु नहीं है। अपितु नेत्र आदि की तरह जीव का उपकरण विशेष है। उपकरण भूत इन्द्रियों के साथ इसकी भी उपकरणता, शास्त्रोपदेशों से ही ज्ञात होती है। प्राण संवाद आदि प्रकरण में, नेत्र आदि के साथ ही, इस प्राण का भी एक साथ उल्लेख किया गया है, इन्द्रियों का सजातीय होने से, इसका एक साथ उल्लेख होना उपयुक्त भी है। प्राण शब्द से कही जाने वाली इन्द्रियों में इसका विशिष्ट स्थान है, यही सूत्रस्थ आदि शब्द का तात्पर्य है। "यही मुख्य प्राण है" यही मध्यम प्राण है" इत्यादि वाक्यों में, विशिष्ट रूप से इसका उल्लेख मिलता है।

चक्षुरादिवदस्यापिकरणत्वे तद्वदस्यापि जीवं प्रत्युपकार विशेषरूप क्रियाया भवितव्यम्। सातु न दृश्यते, अतो नायं चक्षुरादिवद् भवितुमर्हतीति चेत्–तत्राह–

यदि कहो कि– नेत्र आदि की तरह, इसे भी कारण नहीं मान सकते, क्यों कि–जीव के लिए, नेत्र आदि से जो विशेष विशेष उपकार रूप क्रियायें होती हैं, वो प्राण में तो पाई नहीं जातीं, इसलिए प्राण कभी नेत्र आदि की तरह, उपकरण नहीं हो सकता। इस पर कहते हैं

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।२।४।१०।।

अकरणत्वात्–करणं क्रिया, अक्रियत्वात् अस्य प्राणस्य जीवं प्रत्युपकार विशेषरूपक्रिया रहितत्वाच्च यो दोष उद्भाव्यते, स नास्ति, यत् उपकारविशेषरूपां शरीरेन्द्रियधारणादिरूपां क्रियां दर्शयति श्रुतिः "यस्मिनुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते सवः श्रेष्ठः" इत्युक्त्वा वागाद्युत्क्रमणेऽपि शरीरस्येन्द्रियाणां च स्थितिं दर्शयित्वा प्राणोत्क्रमणे शरीरेन्द्रियशैथिल्याभिधानात् । अतः प्राणापानव्यानोदानसमानाकारेण पंचधाऽवस्थितोऽयं प्राणः शरीरेन्द्रियधारणादिना जीवस्योपकरोतीति चक्षुरादिवत्वकरणत्वम् ।

कारण का अर्थ क्रिया हैं, क्रिया राहित्य ही इसका हेतु है, अर्थात् जीव के प्रति, इस मुख्य प्राण की, किसी प्रकार की उपकरण साधन रूप क्रिया नहीं होती, जो यह दोषारोपण किया जाता है, यह आरोप ठीक नहीं, क्यों कि–श्रुति ही शरीर और इन्द्रियों को धारण करना आदि, प्राणकृत, उपकार विशेषों का उल्लेख करती है –" जिसके निकल जाने पर यह शरीर अतिपापी की तरह दीखने लगता है, वह श्रेष्ठ प्राण ही है "ऐसा कह कर वाक् आदि इन्द्रियों के उत्क्रमण करने पर भी शरीर की अवस्थिति बतलाकर, प्राणोत्क्रमण करने पर ही शरीर और इन्द्रियों की शिथिलता बतलाई गई है । इसलिए, प्राण अपान-उदान-व्यान समान आदि पांच रूपों में विभक्त यह प्राण, शरीर इन्द्रिय आदि को धारण पोषण करने वाला, नेत्र आदि की तरह ही उपकारी साधन है ।

नन्वेवं नामभेदात् कार्यभेदाच्च प्राणापानादयः तत्त्वान्तराणि स्युः, तत्राह–

नामगत एवं कार्यगत भेद होने से, प्राण आदि पांचों पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं ? इस संयश पर कहते हैं–

पंचवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।२।४।११।।

यथा कामादि वृत्ति भेदे तत्कार्यभेदेऽपि न कामादिकं मनसः तत्त्वान्तरं "कामःसंकल्पोविचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-

रित्येतत्सर्वं मन एव' इति वचनात् । एवं "प्राणापानोदान-व्यानसमाना. इत्येतत सर्वं प्राण एव" इति वचनात् अपानादयोऽपि प्राणस्येव वृत्ति विशेषाः न तत्वांतरमित्यवगम्यते ।

जैसे कि–कामादिवृत्तियों के भेद होने से, काम आदि, मन से पृथक् नहीं माने जाते "काम–संकल्प–विचिकित्सा–श्रद्धा–अश्रद्धा–धृति–अधृति ह्री–धी–भी–आदि सभी मन हैं" इत्यादि से ऐसा ज्ञान होता है । वैसे ही—"प्राण–अपान–उदान–व्यान–समान आदि सब प्राण ही हैं" इत्यादि से अपान आदि सभी, प्राण की ही वृत्ति सिद्ध होते हैं, भिन्न नहीं ज्ञात होते ।

अणुश्च ।२।४।१२।।

अणुश्चायम् पूर्ववदुत्क्रांत्यादि श्रवणात् "तमुत्क्रामंते प्राणोऽनूत्क्रामति" इत्यादिषु । अधिकाशंका तु "समएभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" सर्वं हीदं प्राणेनावृतम् इत्यादि श्रवणात् महापरिमाण इति ।

ये प्राण भी अणु परिमाण वाला है, पूर्व की तरह इसके भी उत्क्रमण का वर्णन मिलता है " उस जीवात्मा के उत्क्रमण करने पर प्राण भी उत्क्रमण करते हैं" इत्यादि । विशेष शंका ये होती है कि " प्राण, इस त्रिलोकी के समान हैं, और सबके समान हैं ' "प्राणों में ही सब स्थिति" है ये सब कुछ प्राण से ही आवृत है, इत्यादि श्रुतियों से तो, प्राण, महा परिमाण का प्रतीत होता है ।

(सिद्धांत) परिहारस्तु- उत्क्रांत्यादिश्रवणात् परिच्छिन्नत्वे निश्चिते सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणायत्तस्थितित्वेन वैभववादोपपत्तिः इति

उक्त शंका का परिहार करते हैं कि-उत्क्रमण आदि से प्राण की परिमिति निश्चित हो जाती है, प्राणिमात्र की स्थिति प्राणाधीन है, इस तथ्य को बतलाने के लिए ही प्राण की प्रभुता बतलाई गई है ।

६ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरण :—

ज्योतिराद्यधिष्ठानंतु तदामननात्प्राणवता शब्दात् ।२।४।१३।।

सर्वश्रेष्ठानां प्राणानां ब्रह्मउत्पत्ति इयत्ता परिमाणं चोक्तम् । तेषां प्राणानामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं च पूर्वमेव । "अभिमानव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" इत्यनेन सूत्रेण प्रसंगादुपपादितम्, जोवस्य च स्वभोगसाधनानामेषामधिष्ठातृत्वं लोकसिद्धम् "एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वेशरीरे यथाकामपरिवर्तते" इत्यादि श्रुति सिद्धञ्च । तदिदं जीवस्य अग्न्यादिदेवतानां च प्राणविषयमधिष्ठानं किं स्वायत्तं उत परमात्मवत्वमिति? विशये नैरपेक्ष्यात्-स्वायत्तम् ।

मुख्य प्राण सहित समस्त प्राणों की उत्पत्ति ब्रह्म से बतला कर उनका परिमाण निश्चित किया गया । उन प्राणों की अग्निआदि देवताओं से अधिष्ठातृता भी "अभिमान व्यपदेशस्तु" सूत्र से प्रसंगतः बतलाई गई । इन प्राणों की, जीवाधिष्ठातृता तो, भोग साधन रूप से लोक व्यवहार में प्रसिद्ध ही है तथा "यह जीव इन प्राणों के आश्रय से अपने शरीर में यथेष्ट भोगों की अनुभूति करता है" इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध है । इस जीव का अग्निआदि देवताओं का जो प्राणविषयक अधिष्ठान हैं, वह स्वायत्त है अथवा परमात्मायत्त? इस विषय में कहते हैं कि—जीव को अपने यथेष्ट भोगों में परमात्मा की अपेक्षा दृष्टिगत नहीं होती, इसलिए स्वायत्त ही है ।

सिद्धान्तः—इति—प्राप्ते—उच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति । प्राणवता जीवेन सह, ज्योतिरादीनामग्न्यादिदेवतानां प्राणविषयमधिष्ठानं, तदामननात् तस्य परमात्मनः, आमननाद् भवति । आमननं आभिमुख्येन मननं, परमात्मनः संकल्पादेव भवतीत्यर्थः । कुतएतत्? शब्दात—इंद्रियाणां साभिमानदेवतानां जीवात्मनश्च स्वकार्येषु परम पुरुषमननायत्तत्व शास्त्रात् ।

यथान्तर्यामिब्राह्मणादिषु "योऽग्नौ तिष्ठन् अग्नेरन्तरो यमग्निर्नवेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमंतरो यमयति सत आत्मान्तर्याम्यमृत." "यो वायौ तिष्ठन्" यो आदित्येतिष्ठन्" यो आत्मनितिष्ठन्" यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादि । यथा च–"भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पंचमः "इति । तथा- "एतस्यवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि । सूर्याचंद्रमसी विधृतौः तिष्ठतः" "इत्यादि ।

उक्त संशय पर कहते कि– प्राणवान जीव के साथ, ज्योति आदि देवताओं का जो प्राण विषयक अधिष्ठान है, वह परमात्मा के आमनन से होता है । अभिमुख्य मनन को आमनन कहते हैं, अर्थात् परमात्मा के संकल्प से होता है, ऐसा शास्त्र से ही ज्ञात होता है । इंद्रिय और इंद्रियाभिमानी देवताओं तथा जीवात्मा के अपने अपने कार्यो में परमपुरुष परमात्मा की, इच्छा शक्ति की ही प्रेरणा रहती है, ऐसा शास्त्र का मत है । जैसा कि–अन्तर्यामी ब्राह्मणादि का वचन है–"जो अग्नि में स्थित होकर भी अग्नि से भिन्न हैं, अग्नि उन्हे नहीं जानता, अग्नि ही उसका शरीर है, वे अग्नि का अंतर्यामी रूप से शासन करते हैं वे अंतर्यामी परमात्मा अमृत है" जो वायु में स्थित "जो सूर्य में स्थित "जो आत्मा में स्थित" जो नेत्रों में स्थित" इत्यादि । और भी जैसे–"इनके भय से वायु चलता है, इनके भय से सूर्य उदय होता है, इनके भय से अग्नि, चंद्र और पांचवा मृत्यु भी दौड़ता है" तथा–"हे गार्गी ! इसके प्रशासन में सूर्य और चंद्र स्थिर हैं । इत्यादि ।

तस्य च नित्यत्वात् ।२।४।१४॥

सर्वेषां परमात्माऽधिष्ठितत्त्वस्य नित्यत्वात् स्वरूपानुबंधित्वेन नियतत्वाच्च तत्संकल्पादेवैषामधिष्ठितृत्वमवर्जनीयम् । "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्" इत्यादिना परमपुरुषस्य नियंतृत्वेन सर्वंचिदचिद्वस्तुअनुप्रवेशः स्वरूपानुबंधी

श्रूयते, स्मर्यते च—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति।

सभी का परमात्मा के साथ जो अधिष्ठान है, वह नित्य है, अर्थात् परमात्मा जीवात्मा आदि के अंतःकरण में निश्चित स्थित हैं, तथा उन्हीं के संकल्प से सारा कार्य जीवादि कर पाते हैं, इससे परमात्मा का अधिष्ठान अनिवार्य सिद्ध होता है। "उसकी रचना कर उसी में प्रविष्ट हो गए, उसमें प्रवेश करके सत् और त्यत् हुए" इत्यादि वाक्यों में, परम पुरुष से नियंतृत समस्त जड़चेतन में अनुप्रवेश स्वरूपानुबंधी (वास्तविक रूप से अभिन्न रूपवाला) कहा गया है। जैसा कि- स्मृति में भी-"मैं एकांश से सारे जगत में परिव्याप्त हूँ। इत्यादि,

७ इन्द्रियाधिकरणः—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्।२।४।१५॥

किं सर्वे प्राण शब्दनिर्दिष्टा इद्रियाणि, उत श्रेष्ठ प्राणव्यतिरिक्ता एवेति विशये प्राणशब्दवाच्यत्वात्, करणत्वाच्च सर्वं एवेन्द्रियाणि।

एवं प्राप्ते उच्यते-श्रेष्ठ व्यतिरिक्ता एव प्राणा इन्द्रियाणि कुतः? श्रेष्ठादन्येष्वेव प्राणेषु तद्व्यपदेशात्—"इंद्रियाणि दशैकं च पंचचेंद्रिय गोचराः" इत्यादिभिर्हि चक्षुरादिषु समनस्केष्वेव इंद्रियशब्दो व्यपदिश्यते।

शंका की जाती है कि-सारे ही प्राण इन्द्रियवाची हैं अथवा श्रेष्ठ प्राण के अतिरिक्त अन्य प्राण इन्द्रिय वाची हैं? इस पर कहते हैं कि—सभी प्राण इंद्रियवाची हैं भोग के साधन होने से ये इन्द्रियवाची हैं।

इसका समाधान करते हैं कि—श्रेष्ठ प्राण से अतिरिक्त प्राण ही इंद्रियवाची हैं, श्रेष्ठ से अन्य प्राणों के लिए ही, इन्द्रियरूप से उल्लेख मिलता है-"इन्द्रियाँ ग्यारह हैं तथा पांच उनके विषय हैं" इत्यादि वाक्यों में चक्षु आदि दस और मन को ही इंद्रिय कहा गया है।

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ।२।४।१६॥

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिषु इन्द्रियेभ्यः प्राणस्य पृथक् श्रवणात् प्राणव्यतिरिक्तानामेवेन्द्रियत्वमवगम्यते । मनसः पृथक् श्रवणेऽपि तस्यान्यत्रेन्द्रियान्तर्भाव उक्तः "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" इत्यादौ । वैलक्षण्यं च चक्षुरादिभ्यः श्रेष्ठ प्राणस्योपलभ्यते, सुषुप्तौ हि प्राणस्य वृत्तिरुपलभ्यते, चक्षुरादीनां तु वृत्तिर्नोपलभ्यते । कार्यं च चक्षुर्वागादीनां समनस्कानां ज्ञानकर्म साधनत्वम्, प्राणस्य तु शरीरेन्द्रियधारणम्, प्राणाधीनधारणत्वात् इन्द्रियेषु प्राणशब्दव्यपदेशः तथा च श्रुतिः-"त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् तस्मादेत एतेनाख्यायंते" इति । रूपमभवन्-शरीरमभवन्-तदधीन प्रवृत्तयोऽभवन्नित्यर्थः ।

"इस परमात्मा से, प्राण-मन और इंद्रियाँ हुईं," इत्यादि में इन्द्रियों और प्राण का पृथक् उल्लेख है, जिससे कि-प्राण भिन्न इन्द्रियता की प्रतीति होती है। उक्त वाक्य में मन का भी पृथक् रूप से उल्लेख है पर "मनः षष्ठेन्द्रियाणि" इत्यादि वाक्य में मन की इन्द्रियों में ही गणना कर दी गई है इससे वह पृथक् नहीं सिद्ध होता । इन्द्रियों से प्राण की विलक्षणता भी पाई जाती है, सुषुप्तावस्था में श्वास प्रश्वास के रूप में प्राण की वृत्ति पाई जाती है पर इन्द्रियों की वृत्ति नहीं पाई जाती, तथा -नेत्रादि मन सहित इन्द्रियाँ, ज्ञान कर्म का साधन करती और प्राण शरीर इंद्रियों को धारण करता है । प्राणाधीन धारकता होने से ही, इन्द्रियों में प्राण शब्द का प्रयोग होता है, ऐसा ही श्रुति का वचन है-"वे इन्द्रियाँ, प्राण स्वरूप हैं, इसीलिए इनमें प्राण शब्द का प्रयोग होता है ।" रूप होने का तात्पर्य है-शरीरस्थानीय होना, अर्थात् मुख्य प्राण के अधीन ही इन सबकी प्रवृत्ति होती है ।

८ संज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरण—

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत् कुर्वत् उपदेशात् ।२।४।१७॥

भूतेन्द्रियादीनां समष्टिसृष्टिः, जीवानां कर्त्तृत्वं च परस्मादे

ब्रह्मणः, इत्युक्तं पुरस्तात् । जीवानांस्वेन्द्रियाधिष्ठानं च परायत्तमितिचानंतरं स्थिरीकरणाय स्मारितम् । यात्वियं नामरूपव्याकरणात्मिकाप्रपंचव्यष्टिसृष्टिः, सा किं समष्टि जीवरूपस्य हिरण्यगर्भस्यैव कर्म, उत्तेजः प्रभृतिशरीरकस्य परस्याबादिसृष्टिवद् हिरण्यगर्भशरीकस्य परस्य ब्रह्मणः? इदानीं चिन्त्यते ।

भूतों और इंद्रियों की समष्टि सृष्टि तथा जीवों का कर्त्तृत्व परमात्मा के अधीन है, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं। जीवों की अपनी इन्द्रियों की अधिष्ठातृता भी परमात्मायत्त है, इसे बतलाते हुए पुनः उक्त मत को ही दृढ़ किया गया। अब विचार किया जाता है कि–जो यह नामरूपवाली प्रपंच व्यष्टि सृष्टि हैं, वह समष्टि रूप हिरण्यगर्भ की कृति है, अथवा हिरण्यगर्भ के शरीरी परमात्मा की सृष्टि है?

कि युक्तम्? समष्टि जीवस्येति, कुतः? "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि" इति जीवकर्त्तृत्वश्रवणात्, न हि परादेवता स्वेनरूपेण नामरूपे व्याकरवाणीत्यैक्षत, अपितुस्वांशभूतेन जीवरूपेण "अनेन जीवेनाऽत्मना" इति वचनात् ।

उक्त संशय पर, समष्टि जीव का ही कर्त्तृत्व समझ में आता है, क्योंकि–"जीव रूप से प्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँगा" इस श्रुति में जीव कर्त्तृत्व ही प्रतीत होता है। परमात्मा स्वयं ही नामरूप में व्यक्त होने की इच्छा नहीं कर सकते, अपितु अपने अंश रूप जीव से ही, इच्छा करते हैं, ऐसा "अनेन जीवेनात्मना" पद से परिलक्षित हो रहा है।

नन्वेवं चारेणानुप्रविश्य परबलं संकलयानीतिवत् "व्याकरवाणि"इत्युत्तमपुरुषः कर्त्तृस्थ क्रियश्च प्रविशति लाक्षणिकः स्यात् । नैवम्–तत्रराजचारयोः स्वरूपभेदालाक्षणिकत्वं, इह तु जीवस्यापि स्वांशत्वेन स्वरूपस्वात्तेन रूपेण प्रवेशो व्याकरणं चात्मन एवेति न लाक्षणिकत्वप्रसंगः । न च सहयोगलक्षणेयं तृतीया,

कारकविभक्तौ संभवन्त्यामुपपदविभक्तेरन्याय्यत्वात्। न च करणे तृतीया, ब्रह्मकर्तृकयोः प्रवेशव्याकरणयोर्जीवस्य साधकतमत्वाभावात्। न च जीवस्य कर्तृत्वं प्रवेशमात्रे पर्यवस्यति। नामरूपव्याकरणं तु ब्रह्मण एवेति शक्यवक्तुम्, क्त्वाप्रत्ययेन समानकर्तृकत्व प्रतीतेः। जीवस्व स्वांश वेन स्वरूपत्वेऽपि परस्वरूपव्यावृत्यर्थः "परेण जीवेन" इति परात्वेन परामर्शः। अतो हिरण्यगर्भं कर्तृकेयं नामरूपव्यक्रिया। अतएव च स्मृतिषु चतुर्मुखकर्तृक सृष्टिप्रकरणे नामरूपव्याकरणं सकीर्त्यते—"नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपंच न वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इत्यादौ।

तर्क करते हैं कि—यदि ऐसा है तो—"गुप्तचर के रूप से घुसकर शत्रुओं की सेना की संख्या का संकलन करूँगा" इत्यादि लाक्षणिक वाक्य की तरह उक्त वाक्यगत "व्याकरवाणि" में जो, उत्तम पुरुष (अहं) का एवं कर्तृनिष्ठ "प्रविश" धातु का प्रयोग है वह भी लाक्षणिक हो जायेगा? ऐसा नहीं होगा, क्योंकि राजा और गुप्तचर में स्वरूप भेद होने से लाक्षणिकता है, पर उक्त वाक्य में तो, जीव के, अपने अंश स्वरूप होने से, उसके रूप से प्रवेश और व्यक्तीकरण अपना ही कहलावेगा। इसलिए इसमें लाक्षणिकता का प्रसंग ही नहीं है। यहाँ सहयोग लक्षण वाली तृतीया विभक्ति भी नहीं है जिससे कि—जीव के साथ ऐसा अर्थ किया जा सके। कारक विभक्ति (अभेद में तृतीया) के संभव होने पर उपपद विभक्ति (सहार्थ में तृतीया) की कल्पना करना व्याकरण नियम से अनुचित भी है। यहाँ करण निमित्तक तृतीया भी नहीं है, जिससे कि—"जीव के द्वारा" ऐसा अर्थ संभव हो। ब्रह्म कर्तृक प्रवेश और अभिव्यक्ति में, जीव में साधकता का अभाव है, इसलिए करण निमित्तक विभक्ति नहीं है। जीव का कर्तृत्व प्रवेश मात्र से ही पर्यवसित नहीं हो सकता, नामरूप की अभिव्यक्ति में ब्रह्म का ही कर्तृत्व हो सकता है। नामरूप की अभिव्यक्ति की शक्ति जीव में तो देखी नहीं जाती क्योंकि-"क्त्वा" प्रत्यय से दोनों कार्य एक के ही द्वारा संपन्न होते हैं, ऐसा निश्चित होता है। ब्रह्म का अंश होने से, जीव को ब्रह्म का अंश मान भी लिया जाय तो भी उसकी, परब्रह्मभाव निवृत्ति के लिए "अनेन जीवेन" से

भिन्नता बतलाई गई है, इसलिए हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) कर्तृक ही यह नाम-रूप विक्रिया है ऐसा निश्चित होता है। जैसा कि-स्मृति में-चतुर्मुख कर्तृक सृष्टि प्रकरण में-नामरूप के व्याकरण का उल्लेख भी है-"हिरण्य-गर्भ ने सृष्टि के प्रथम वैदिक शब्दों के आधार पर देव आदि भूतों के नामरूप तथा कर्त्तव्य विधि सृष्टि की"; इत्यादि।

सिद्धान्तः–एवं प्राप्तेऽभिधीयते–"संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु" इति तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिः, नामरूपव्याकरणम् तत् त्रिवृत् कुर्वतः, परस्यैवब्रह्मणः, तस्यैवनामरूपव्याकरणोपदेशात् त्रिवृत्करणं कुर्वत एव हि नामरूपव्याकरणमुपदिश्यते–"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति समानकर्त्तृकत्व प्रतीतेः। त्रिवृत् कारणं तु चतुर्मुखस्याण्डान्तर्वर्त्तिनो न संभवति, त्रिवृत्कृतैः तेजोबन्नैर्हि अण्डमुत्पाद्यते, चतुर्मुखस्य चाण्डे संभवः स्मर्यते–"तस्मिन्नण्डेऽभवद् ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः" इति। अतस्त्रिवृत्करणं परस्यैवब्रह्मणः, तत्समानकर्तृकं नामरूप व्याकरणं च तस्यैवेति विज्ञायते।

उक्त कथन पर सूत्र रूप से सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है-"संज्ञामूर्त्ति "इत्यादि। सूत्र में तु शब्द पूर्व पक्ष के निराकृति का सूचक है। संज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति अर्थात् नामरूप का व्याकरण उसको त्रिवृत् करते हुए परब्रह्म से ही संभव है, उसी से नामरूप व्याकरण, त्रिवृत् करते हुए बतलाया गया है-"इस देवता ने संकल्प किया कि–जो यह तीन देवता हैं इनमें जीवात्मरूप से प्रविष्ट होकर नाम रूप की अभिव्यक्ति करूँ और इन तीनों को तीन–तीन रूपों में व्यक्त करूँ" इत्यादि में परब्रह्म की ही समान कर्तृता बतलाई गई है। ब्रह्माण्ड से होने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा में त्रिवृत् करण की क्षमता नहीं है, त्रिवृत् कृत पृथ्वी जल और तेज से ही तो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, चतुर्मुख की अण्डोत्पत्ति स्मृति प्रसिद्ध है–"सबके पितामह ब्रह्मा उस ब्रह्माण्ड से हुए" इत्यादि से सिद्ध होता है कि–त्रिवृत् करण परब्रह्म का

ही कार्य है तथा उसी के समान, नामरूप व्याकरण भी उन्हीं का कार्य है।

कथं तर्हि "अनेन जीवेन" इति संगच्छते "आत्मनाजीवेन" सामानाधिकरण्यात् जीव शरीरं परंब्रह्मैव जीवशब्देनाभिधीयते यथा—"तत्तेज ऐक्षत्" तदपोऽसृजत् "त आप ऐक्षन्त" ता अन्नमसृजत" तेजप्रभृतिशरीरकं परमेवब्रह्माभिधीयते। अतो जीवसमष्टिभूतहिरण्यगर्भशरीरकस्य परस्यैवब्रह्मणः कर्म नामरूप-व्याकरणम्।

(प्रश्न) "अनेन जीवेन" की संगति कैसे होगी? (उत्तर) "आत्मन जीवेन" इस समानाधिकरण वाक्य से, जीव शरीरी परब्रह्म ही जीव शब्द से कहा गया, प्रतीत होता है। जैसेकि-"उस तेज ने इच्छा की" इत्यादि में तेज आदि के शरीरी परब्रह्म का ही, उल्लेख है। इसलिए जीव समष्टि भूत हिरण्यगर्भ के शरीरी परब्रह्म ही नामरूप व्याकरण के कर्त्ता हैं।

एवं च "प्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि" इति प्रविशतिउत्तम-पुरुषश्चाक्लिष्टौ मुख्यार्थावेव भवतः। प्रवेशव्याकरणयोः समानकर्तृकत्वमप्युपपद्यते। अतः"सेयं देवता"इत्यादिवाक्यस्यायमर्थः, इमाः तेजेऽबन्नरूपाः त्रिस्रो देवताः,अनेन जीवेन-जीवसमष्टिविशिष्टेन -आत्मानाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि-देवादिविचित्रसृष्टितन्ना-नमधेयानि च करवाणि। तदर्थमन्योन्यसंसर्गप्राप्तानामेषां तेजोबन्नानां विशेष सृष्टयसमर्थानां तत्सामर्थ्यायैकैकां त्रिवृतं करवाणि-इति। अतः परस्यैवब्रह्मणः कर्मेदंनामरूपव्याकरणम्।

तथा—"प्रवेश करके नामरूप की अभिव्यक्ति करूँगा" इस वाक्य में "प्रविश्य" पद से ही उत्तम पुरुष (मैं) का बोध सहजरूप से हो जाता है। प्रवेश और अभिव्यक्ति ये दोनों समानकर्तृत्व का बोध कराते हैं। चतुर्मुख कर्तृक सृष्टि प्रकरण के, नामरूपव्यक्तीकरण के उपदेश से ज्ञात होता है कि-यह देवादिकों कीविचित्र सृष्टि,चतुर्मुख के शरीरी परब्रह्म की ही कृति है। "सेयं देवता" इत्यादि वाक्य का अर्थ है कि—इमाः—तेज जल

पृथ्वी रूप तीन देवता "अनेन जीवेन" –जीवसमष्टि विशिष्ट आत्मा वाले इनमें प्रवेश करके नामरूप की अभिव्यक्ति करूँगा अर्थात्–देवादि विचित्र सृष्टि और उनका नामकरण करूँगा। नामरूप की अभिव्यक्ति में, एक दूसरे से संसर्ग हीन, विशिष्ट कार्य रचना में असमर्थ इन तीनों को, पृथक्–पृथक् कार्य सामर्थ्य के लिए तीन तीन करूँगा। इससे सिद्ध होता है कि-नामरूपाभिव्यक्तीकरण कर्म परब्रह्म परमात्मा का ही है।

अथ स्यात्-नामरूपव्याकरणस्य त्रिवृत्करणेनैककर्तृकत्वात्परमात्मकर्तृकमिति न शक्यतेवक्तुम्, त्रिवृत्करणस्यापि जीवकर्तृकत्वसंभवात्। अण्डसृष्ट्युत्तरकालं हि चतुर्मुखसृष्टि जीवेषु त्रिवृत्करण-प्रकार उपदिश्यते-"यथा तु खलु सोम्येमास्त्रिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति" अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो भागस्तत्पुरीषं भवति योमध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठः तन्मनः" इत्यादिना। तथा पूर्वस्मिन्नपिवाक्ये "यदग्नेरोहितं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इत्यादिना चतुर्मुखसृष्ट्याग्न्यादित्यचंद्रविद्युत्सु त्रिवृत्करणं प्रदर्श्यते नामरूपव्याकरणोत्तरकालं च त्रिवृत्करणं श्रूयते। "सेयं देवतेमास्त्रिस्रो देवताः, अनेनजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरोत्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत् "इति। तत्राह—

(शंका) ऐसा हमने मान लिया कि-नामरूप अभिव्यक्ति और त्रिवृत् करण परमात्मा की कृति है, त्रिवृत् करण; एकमात्र परमात्मा की ही कृति है ऐसा नहीं मान सकते, त्रिवृत्करण, जीव कर्तृक भी हो सकता है ब्रह्माण्ड सृष्टि के बाद चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपने सृष्टि जीवों में त्रिवृत्करण का इस प्रकार उपदेश दिया-"हे सौम्य ! ये तीनों देवता, पुरुष को प्राप्त कर कैसे तीन तीन हो जाते हैं, यह मुझसे समझो, खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाता है, उसका स्थूल भाग पुरीष, मध्यम भाग मांस और सूक्ष्म भाग मन बन जाता है।" इत्यादि, इसी के पूर्व के वाक्य में जैसे–"अग्नि में जो रक्तिमा है वह तेज की, जो धवलिमा है वह जल की तथा श्यामता पृथ्वी की है।" इत्यादि में चतुर्मुख से सृष्ट अग्नि चंद्र

और विद्युत् में त्रिवृत् करण दिखलाया गया है। नाम रूप अभिव्यक्ति के बाद भी त्रिवृत् करण का वर्णन मिलता है—"यही देवता, तीनों देवताओं में जीवात्मा रूप के प्रवेश करके, नामरूप को अभिव्यक्त कर त्रिवृत्करण करते हैं।—"इसका उत्तर देते हैं—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।२।४।१८।।

यदुक्तमण्डसृष्ट्युत्तरकालं चतुर्मुखसृष्टदेवतादिविशेषोऽयं "तासां त्रिवृतत्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति, त्रिवृत्करणोपदेश, इति तन्नोपपद्यते "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" इत्यत्र मांसमनसो पुरीषादणुत्वेनाणीयस्त्वेन च व्यपदिष्टयोः कारणानुविधायित्वेनाप्य तैजसत्वप्रसंगात् "आपः पीताः" इत्यत्रापि मूत्रप्राणयोः स्थविष्ठाणीयसोः पार्थिवत्वतैजसत्वप्रसंगात्। न चैवमिष्यते, मांसादिभौममिष्यते पुरीषवन्मांसमनसी अपि भौमे पार्थिवे इष्यते "अन्नमशितं त्रेधा" इति प्रक्रमात्। यथाशब्द-इतरयोश्च इतरयोरपि "आपः पीताः" "तेजोऽशितम्" इति पर्याययोर्यथाशब्दं विकारा इष्यंते। "आपः पीतास्त्रेधा विधीयंते" इत्यपामेव त्रेधा परिणामः शब्दात् प्रतीयते तथा—"तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते" इत्यपि तेजस एव त्रेधा परिणामः शब्दात् प्रतीयते, अतः पुरीषमांसमनांसि पृथिवी विकाराः मूत्रलोहितप्राणाः अब्विकाराः, अस्थिमज्जावाच-स्तेजोविकाराः, इति प्रतिपत्तव्यम्, "अन्नमयं हि सौम्यमनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयीवाक् "इति वाक्यशेषाविरोधाच्च। अतः "तासां त्रिवृत् त्रिवृतमेकैकामकरोत् 'इत्युक्तास्त्रिवृत्करण प्रकारः 'अन्नमशितम्' इत्यादिना न प्रदर्श्यंते, तथा सति मनप्राणवाचां त्र्याणामप्यणीयस्त्वेन तेजसत्वात् "अन्नमयं हि सोम्यमनः" इत्यादिर्विरुध्येत प्रागेव त्रिवृत्कृतानां पृथिव्यादीनां पुरुषं प्राप्तानाम् "अन्नमशितम्" इत्यादिनैकैकस्य त्रेधा परिणाम उच्यते। अण्ड-

सृष्टेः प्रागेव च तेजोबन्नानां त्रिवृत्करणेन भवितव्यम्, अत्रिवृत्कृतानां तेषां कार्यारम्भासामर्थ्यात्। अन्योन्यसंयुक्तानामेव हि कार्यारम्भसामर्थ्यम् तदेव हि त्रिवृत्करणम्। तथा च स्मर्यते–"नानावीर्याः पृथग् भूतास्ततस्ते संहतिं बिना, नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः, समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्पर समाश्रयाः, महदाद्या विशेषान्ता अंडमुत्पादयंतिते" इति। अतएव च–"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरोत्"तासां त्रिवृतंत्रिवृतमेकैकामकरोत् पाठक्रमोऽर्थक्रमेण बाध्यते। अंडान्तवर्त्तिष्वग्न्यादित्यादिषु-त्रिवृत् करणप्रदर्शनं श्वेतकेतोः शुश्रूषोरंडान्तर्वर्त्तित्वेन, तस्य वहिष्ठ वस्तुषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनायोगात् त्रिवृत्कृतानां कार्येषुअग्न्यादित्यादिषु क्रियते।

जो यह कहा कि–ब्रह्माण्ड सृष्टि के बाद चतुर्मुख द्वारा सृष्ट, देवता आदि का "तासां त्रिवृत्" इत्यादि में त्रिवृत् करण का उपदेश किया गया है। यह बात असंगत है, क्योंकि–" भुक्त अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाता है" इस वर्णन में मांस और मन को, पुरीष से, अणु और अणीयस कहा गया है, जो कि–कारण के अनुकूल कार्य है, यदि सृष्टि के बाद त्रिवृत् करण मानेंगे तो, जल और तेज भी, इसके कारण माने जावेंगे। "पिये हुए जल" इत्यादि में भी, मूत्र और प्राण, रूप स्थूल और सूक्ष्म में, पृथ्वी और तेज, कारण रूप से उपस्थित हो जावेंगे। इसलिए उक्त बात नहीं कह सकते। मांस आदि भौम ही कहलावेंगे, अर्थात् पुरीष की तरह मांस और मन भी भौम ही कहलावेंगे, "अन्नं त्रेधा" से ऐसा ही प्रतीत होता है। ऐसे ही "आपः पीताः "तेजोऽशितम्" इत्यादि में कहे गए विकारों को भी उक्त वेदोक्त रीति से ही मानना होगा। "पिया हुआ जल तीन रूप का हो जाता है" इस वेद मत्र से तीन रूप वाले परिणाम की स्पष्ट प्रतीति होती है। उक्त वैदिक नियम के अनुसार-पुरीष-मांस-मन -पार्थिव विकार, मूत्र-रक्त-प्राण-जलीय विकार, अस्थि-मज्जा-वाणी-तैजस -विकार हैं। 'हे सौम्य! यह मन अन्नमय है" जलमय प्राण तथा तेजोमयी वाणी है" इस प्रकरण के अंतिम वाक्य से यही बात निर्विरोध सिद्ध होती

है। "उनको प्रत्येक को तीन तीन किया" में कहा गया त्रिवृत् करण का प्रकार "भुक्त अन्न" के प्रकार की तरह नहीं है, यदि उसी प्रकार का मानेंगे तो, मन, प्राण और वाणी रूप अति सूक्ष्म तैजस रूपों की "हे सौम्य! मन अन्नमय है" इत्यादि से विरुद्धता होगी पहिले से ही तीन रूपों में विभक्त पृथ्वी आदि के पुरुष रूप को प्राप्त होजाने पर "भुक्त अन्न" आदि का ही त्रेधा परिणाम होता है, यही उक्त प्रसंग में कहा गया है। सृष्टि के पूर्व ही, पृथ्वी जल तेज आदि की तीन रूपों में विभक्ति हो सकती है, यदि वे प्रथम से ही तीन रूपों में विभक्त न रहें तो, उनमें कार्यारम्भ की क्षमता नहीं हो सकती। एक दूसरे से मिलकर ही उनमें कार्य की क्षमता संभव है। इन तीनों का पारस्परिक सम्मेलन ही त्रिवृत् करण कहलाता है वैसा ही स्मृति का भी मत है—'ये सारे भूत विभिन्न प्रकार की शक्ति वाले पृथक् पृथक् हैं, उन सबकी संहति के बिना, प्रजा की सृष्टि संभव नहीं है, महत्तत्व से लेकर विशेष तक, परस्पर संयुक्त होकर पारस्परिक आश्रय से ब्रह्माण्ड का उत्पादन करते हैं। "ब्रह्म, जीवात्मारूप से प्रविष्ट होकर नामरूप में अभिव्यक्त होता है. उसीने, प्रत्येक को तीन तीन किया" ऐसा वेदोक्त पाठ्यक्रम, उक्तस्मार्त्तअर्थ-क्रम से बाधित होता है। ब्रह्माण्ड मध्यवर्ती अग्नि और आदित्य आदि के त्रिवृत् करण का जो उपदेश है, उसका कारण यह है कि-शुश्रुषु श्वेतकेतु के लिए सृष्टि के पूर्ववर्त्ती त्रिवृत् करण का उपदेश सुबोध्य न होगा, इसलिए उसे त्रिवृत् कृत भूत कार्य आदि का त्रिवृत्करण बतलाया गया। इस प्रकार समझने से, वेदोक्त पाठ्यक्रम की संगति हो जाती है।

स्यादेत् "अन्नमशितम्" आपः पीताः "तेजोऽशितम्" इति त्रिवृत्कृतानामन्नादीनामेकैकस्य तेजोऽन्नात्मकत्वेन त्रिरूपस्य कथमन्नामापस्तेज इत्येकैकरूपेण व्यपदेश उपपद्यत इति—तत्राह—

(शंका) हमने ऐसा मान लिया कि-उपदेश की सुबोधता के लिए ऐसा किया गया, परंतु त्रिवृत् कृत अन्न आदि के जो तीन तीन रूप हैं, उनका जो "अन्नमशितम्" आपः पीताः" तेजोऽशितम्" इत्यादि में अन्न-जल और तेज नाम से पृथक् निर्देश है, उसकी कैसे संगति होगी? इसका उत्तर देते हैं—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।२।४।१६।।

वैशेष्या–विशेषभावः । त्रिवृत्करणेन त्रिरूपेऽप्येकैकस्मिन्नन्नाद्याधिक्यात्तत्रतत्रानादिवादः । द्विरुक्तिरध्याय समाप्तिं द्योतयति ।

सूत्रस्थ वैशेष्य का अर्थ है, विशेष भाव अर्थात् वैशिष्ट्य त्रिवृत् करण द्वारा, प्रत्येक तीन रूप होते हुए भी, एक–एक में, अन्न·जल·तेज आदि भाव की अधिकता है, इसलिए उन्हें अन्न आदि नामों से निर्देश किया गया है । पद की द्विरुक्ति, अध्याय समाप्ति की द्योतिका है ।

।। द्वितीय अध्याय समाप्त ।।

तृतीय अध्याय

प्रथम-पाद

१ तदन्तर प्रतिपत्त्यधिकरणः—

तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहतिसंपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।३।१।१॥

अतिक्रान्ताध्यायद्वयेननिखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोषगंधपरिमितोदारगुणसागरं सकलेतरविलक्षणं परंब्रह्म, मुमुक्षुभिरुपास्यतया वेदांता प्रतिपादयंतीत्ययमर्थः स्मृतिन्यायविरोध परिहार परपक्षप्रतिक्षेपवेदांतवाक्यपरस्परविरोधपरिहार रूपकार्यं स्वरूप संशोधनैः तद्दुर्धर्षणत्वहेतुभिः सह स्थापितः, अतोऽध्यायद्वयेन ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादितम् । उत्तरेणेदानीं तत्प्राप्त्युपायैः सह प्राप्तिप्रकारश्चिन्तयितुमिष्यते । तत्र तृतीयाध्याये उपायभूतोपासन विषया चिन्तावर्त्तते । उपासनारभाभ्यर्हितोपायश्च प्राप्यवस्तु व्यतिरिक्तवैतृष्ण्यम्प्राप्यतृष्णाचेति, तत्सिद्धयर्थं जीवस्य लोकान्तरेषु संचरतो जाग्रतस्वपतःसुषुप्तस्यमूर्छंतस्य दोषाः, परस्यब्रह्मणस्तद्रहितता, कल्याणगुणाकरत्वं च प्रथमद्वितीययोः पादयोः प्रतिपाद्यन्ते ।

पिछले दो अध्यायों में, समस्त जगत के एक मात्र कारण, निर्दोष असीम उदार गुणों के सागर, सबसे विलक्षण, परब्रह्म ही मुमुक्षुओं के उपास्य रूप से वेदांत वाक्यों के प्रतिपाद्य हैं, इस सिद्धान्त की स्थापना के लिए, स्मृति और तर्कों का विरोध करते हुए, विरोधी पक्षों का परिहार-तथा परस्पर विरोधी वेदांत वाक्यों की संगति दिखलाते हुए उक्त सिद्धान्त की विशुद्ध रूप से स्थापना की गई। इससे निश्चित होता है

कि इन दो अध्यायों में ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया। इसके बाद अब उन परमात्मा की प्राप्ति के उपायों से, प्राप्ति के प्रकार पर विचार करते हैं। इस तृतीय अध्याय में, उपाय रूप उपासना पर विचार किया गया है। उपासना में सर्वप्रथम, प्राप्तव्य से भिन्न वस्तुओं में वितृष्णा और प्राप्य के प्रति तीव्र आवेग, ये दो हितकर उपाय बतलाए गए हैं, इन दोनों की पुष्टि के लिए, प्रथम और द्वितीय पाद में, लोकान्तर संचरणशील जीव के, जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति और मूर्छा आदि अवस्थाओं से संबंधी दोष तथा परमात्मा में दोषों का अभाव तथा कल्याणमय गुणों की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है।

तत्र देहात् देहान्तरंगच्छन्नयंजीवो देहान्तरारंभहेतुभिर्भूत-सूक्ष्मैः संपरिष्वक्त एव गच्छति उत न? इति चिन्तायां यत्र यत्र जीवो याति, तत्र तत्र भूतसूक्ष्माणां सुलभत्वादसंपरिष्वक्तो यातीति प्राप्तम्। पश्चादपि पूर्वपक्षबीजान्युपन्यस्य निरसिष्यति।

यह जीव, एक देह से दूसरे में जाते समय, देहान्तर के आरंभ के कारणभूत सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित रहता है या नहीं? इस पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि-जीव जहाँ—जहाँ जाता हैं वहाँ—वहाँ उसे, सारे सूक्ष्म भूत सुलभ हो जाते हैं, इसलिए वह इन्हें साथ नहीं ले जाता। इसके बाद उक्त पक्ष की मूल बातों का विश्लेषण करते हुए खंडन करेंगे।

सिद्धान्तः—तत्र सिद्धान्तमाह—तदंतरप्रतिपत्तौ रंहति संप-रिष्वक्त इति। "संज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति" इति मूर्ति शब्देन देहः प्रस्तुतः, स तच्छब्देन परामृश्यते। तदन्तर प्रतिपत्तौ—देहान्तर गमने भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो जीवो रंहति—गच्छतीत्यर्थः। कुतः? प्रश्ननिरूप-णाभ्यां। पंचाग्निविद्यायामेवं प्रश्न प्रतिवचने आम्नायेते—श्वेतकेतुं किलारुणेयं पांचालः प्रवाहणः कर्मिणांगन्तव्यदेशं, पुनरावृत्ति प्रकारं देवयानपितृयाणपथव्यावर्त्तने, अमुष्य लोकस्याप्रापूरं च वेत्थेति पृष्ट्वेदमपि पप्रच्छ—"वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो

भंवति' ' इति । तमिमं पश्चिमं प्रश्नं प्रतिब्रुवंश्च द्युलोकमग्नि-त्वेन रूपयित्वा" तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धांजुह्वति, तस्या आहुतेः सोमोराजा संभवति" इत्यादिना—देवाख्याः जीवस्य प्राणाः अग्नित्वेन रूपिते द्युलोके श्रद्धाख्यं वस्तु प्रक्षिपंति, सा च श्रद्धा सोमराजाख्यामृतमयदेहरूपेण परिणमते, तं चामृतमयं देहं त एव प्राणाः पर्जन्येऽग्नित्वेनरूपिते प्रक्षिपंति, तच्च तत्र प्रक्षिप्तमन्नं भवति, तच्चान्नं त एव पुरुषेऽग्नित्व रूपिते प्रक्षिपंति, तच्च तत्र रेतो भवति, तच्चान्नं त एव योषायामग्नित्व रूपितायां प्रक्षिपंति, तच्च तत्र प्रक्षिप्तं गर्भो भवतीत्युक्त्वा आह—"इति तु पंचम्यामाहुतौ हुतायामापः पुरुषवचसो भंवति " इति । एव पंचम्यामाहुतो हुतायामापः पुरुषशब्दाभिलप्यां भवंतीत्यर्थः एवमुक्ते पूर्वाष्वप्या-हुतिष्वनुवर्त्तमानानामेवापां सूक्ष्मरूपाणामिदानीं पुरुषाकारत्वं भवतीत्युक्तं भवति । अत एवं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां देह-हेतुभूतैः सूक्ष्मैः सह तत्र तत्र यातीति गम्यते ।

उस पर सिद्धांत कहते हैं, "संज्ञामूर्त्ति" इत्यादि सूत्र में मूर्त्ति शब्द देह का वाचक है, इस प्रस्तुत सूत्र में उसे ही" तत्" शब्द से बतलाया गया है। "तदनंतर प्रतिपत्तौ" का अर्थ है कि-यह जीव देहान्तर प्राप्त करने पर सूक्ष्म भूतों से संसक्त होकर "रंहति" अर्थात् गमन करता है। ऐसा निर्णय प्रश्नोत्तरों से हो जाता है। पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में, इससे संबंधित प्रश्न—उत्तर किये गए, पंचाल राज प्रवाहण ने आरुणिश्वेकेतु से कर्म योगियों का गतिस्थान, पुनः आवृत्ति का प्रकार, देवयान पितृयान मार्ग का वर्णन, इत्यादि स्वर्ग आदि लोकों में जाने की इच्छा से पूछा "क्या तुम जानते हो कि पांच आहुतियों को प्राप्त कर ही जीव का पुरुष नाम होता है?" इस द्वितीय प्रश्न के पूछने पर द्युलोक को अग्नि रूप बतलाते हुए कहा कि- "इस अग्नि से देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते हैं, उस आहुति से सोमराज उत्पन्न होते हैं" इत्यादि से बतलाया गया है कि- द्युरूप अग्नि में सर्वप्रथम श्रद्धा की आहुति होती है वही श्रद्धा

अमृतरूप में परिणत हो जाती है, वे प्राण उस अग्निरूप से कल्पित पर्जन्य में निक्षिप्त होकर वर्षारूप में परिणत होते है। वे ही पृथ्वी रूप अग्नि में निक्षिप्त होकर अन्न रूप में परिणत होते हैं, वह अन्न, जीव के देह रूप अग्नि में प्रक्षिप्त होकर वीर्य रूप से परिणत हो जाताहै. उस वीर्य को अग्नि रूप स्त्री योनि मार्ग से धारण कर गर्भाकार में परिणत करती है। "इस प्रकार पांचवीं आहुति को प्राप्त कर ही वह पुरुष नाम धारी होता है" अर्थात् इस पांचवी आहुति को प्राप्त जल ही वह पुरुष नाम वाला होता है। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से ज्ञात होता है कि-देह के उपादानरूप भूतसूक्ष्मों के सहयोग से ही जीव उन स्थानों में जा पाता है।

ननु "आपः पुरुषवचसः" इत्युक्ते अपांपुरुषाकारपरिणाम प्रतीतेर्गच्छता जीवेन तासामेव परिष्वंगः प्रतीयते, अतः कथं सर्वेषां भूतसूक्ष्माणां परिष्वंग इति? तत्राह—

"जल ही पुरुष पद वाच्य होता है" इस कथन से तो, जल की ही पुरुषाकार परिणित बतलाकर उसका ही सहचर्य मात्र बतलाया गया है, फिर अन्य सूक्ष्म भूतो के साहचर्य की बात कैसे संगत होगी? इसका उत्तर देते हैं—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।३।१।२।

तु शब्दश्चोद्यंव्यावर्त्तयति, देहारंभकाणामपांकेवलानां न देहारंभसंभवः। देहाद्यारंभाय हि—"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति त्रिवृत्करणम्। केवलानामपां श्रवणं तु तासां भूयस्त्वात्। देहे च लोहितादिभूयस्त्वेनारंभकेष्वपां भूयस्त्वं गम्यते।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त तर्क का समाधान करता है। देहारंभ का कारण केवल जल ही देहरचना में समर्थ नहीं हो सकता देहारंभ में तो "उन तीनों में प्रत्येक को तीन तीन करता है" ऐसा त्रिवृत् करण ही, कारण होता है। केवल जल का ही जो वर्णन मिलता है वह, उसकी बहुलता का

ही द्योतक है, देह में रक्तवीर्य आदि, जल रूप में ही, बाहूल्य से होते हैं, इसलिए जल के बाहुल्य का वर्णन किया गया है।

प्राणगतेश्च ।३।१।३।।

इतश्च भूतसूक्ष्म परिष्वक्तस्य गमनमिति गम्यते उत्क्रामति जीवे प्राणानां तदनुगतिः श्रूयते "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामंतं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामंति" इति। स्मर्यंते च–"मनः षष्ठाणीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानिकर्षंति, शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" इति। न च निराश्रयाणां गतिरुपपद्यत इति तदाश्रयभूतानां भूतसूक्ष्माणामपि गतिरभ्युपगंतव्या।

इससे भी भूत सूक्ष्मों संसक्त गमन ज्ञात होता है कि उत्क्रण करते हुए जीव के साथ प्राणों का अनुगमन बतलाया गया है–"उसके उत्क्रमण करने पर प्राण भी अनुत्क्रमण करते हैं।" स्मृति में भी जैसे –"जीव सुषुप्ति और मृत्यु के समय, मन के सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियों को आकृष्ट करके स्थित रहता है। देहाधिपति जीव जिस समय शरीर ग्रहण करता है और जिस समय शरीर छोड़ता है, उस समय इन इन्द्रियों को अपने साथ उसी प्रकार ले जाता है, जैसे कि–वायु गंध को ले जाता है" इत्यादि। निराश्रित इन्द्रियों का कभी स्वतः गमन संभव नहीं है, इसलिए उनके आश्रयभूत भूतसूक्ष्मों की भी उनके साथ गति माननी होगी।

अग्न्यादिगतिश्रुतिरितिचेन्न भाक्तत्वात् ३।१।४।।

'यत्रास्यपुरुषस्यमृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः चक्षुरादित्यम्" इत्यादिना प्राणानां जीवमरणकाले अग्न्यादिष्वप्यय श्रवणात् न तेषां जीवेन सह गमनमिति गतिश्रुतिरन्यथा नेयेति चेत् न भाक्तत्वात्-अग्न्यादिष्वप्ययश्रवणस्य। कथं भाक्तत्वं? 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः" इत्यनपियद्भिः लोमादिभिः सह श्रवणात्। अतश्चक्षुराद्यप्ययश्रुतिरधिष्ठातृदेवतोपक्रमणपरा।

"मृत पुरुष की बाणी अग्नि को, प्राण वायु को, नेत्र सूर्य को प्राप्त होते हैं" इत्यादि में तो, जीव के मरण काल में, अग्नि आदि की प्राप्ति बतलाई गई है, जिससे, जीव के साथ गमन करने वाली श्रुति अन्यथा सिद्ध होती है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए यह श्रुति तो गौण है, "लोम ओषधि में, केश वनस्पति में, इत्यादि गौण श्रुति के साथ ही उक्त श्रुति का पाठ है इसलिए यह भी गौण है। चक्षु आदि के लीन होने की बात तो, केवल उनके अधिष्ठाता देवताओं से देह से, वर्हिर्गमन की ही बोधिका है।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव हि उपपत्तेः ।३।१।५॥

यदुक्तमद्भिः सूक्ष्माभिभूतान्तरसंसृष्टाभिः परिष्वक्तो जीवो गच्छतीति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामवगम्यत इति, तन्नोपपद्यते, द्युलोकाग्निविषये प्रथमे होमे अपां होम्यत्वाश्रवणात् "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धांजुहवति" इति श्रद्धैवहोम्यत्वेन श्रुता। श्रद्धानाम जीवस्य मनोवृत्तिविशेषत्वेन प्रसिद्धा। अतो नापस्तत्र होम्या इति चेत्, न यतः ताः आप एव श्रद्धाशब्देन तत्राभिधीयंते, कुतः? प्रश्न प्रतिवचनोपपत्तेः।

जो यह कहा कि-प्रश्नोत्तरों से ज्ञात होता है कि-अन्यान्य भूतों से संसक्त सूक्ष्म जल ही जीव के साथ गमन करता है, सो बात समझ में नहीं आती क्योंकि-द्युलोक रूपी अग्नि में प्रथम हवन के रूप में जल की हवनीयता नहीं सुनी जाती। जीव की मनोवृत्ति विशेष ही श्रद्धानाम से प्रसिद्ध है, इसलिए जल वहाँ पर होम्य नहीं हो सकता। यह शंका उपयुक्त नहीं है, जल ही यहाँ श्रद्धा शब्द से उल्लेख्य है, प्रश्नोत्तरों से ऐसा ही निश्चित होता है।

"वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवंति" इति प्रश्न प्रतिवचनोपक्रमेहि श्रद्धाद्युलोकाग्नौ होम्यत्वेन श्रुता, तत्रयदि श्रद्धा शब्देनापो नोच्येरन्, ततोऽन्यथाप्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमिति असंगतम् स्यात्। "इति तु पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसः" इति प्रतिवचन

निगमनं च श्रद्धाया अप्त्वमेव सूचयति "वेत्थ यथा" इति हि प्रश्नगतः प्रकारः "इति तु पंचम्याम्" इतीति शब्देन परिहारे निगम्यते। श्रद्धासोमराजवर्षान्नरेतोगर्भरूपेणापां परिणाममुक्त्वा हि एवमापः पुरुषवचस इति निगम्यते। श्रद्धाशब्दस्य चाप्सु वैदिकप्रयोगो दृश्यते—"अपः प्रणयति श्रद्धा वा आपः" इति। श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति" इति सोमाकारेण परिणामश्चापामेवोपपद्यते अतो भूतान्तरसंसृष्टाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो जीवो रंहतीत्युपपन्नम्।

"क्या तुम जानते हो कि–पांचवीं आहुति को प्राप्त, पुरुषवाची वह कैसे होता है? "इस प्रश्न के उत्तर के प्रारंभ में ही द्युलोकाग्नि के हवनीय पदार्थ के रूप में श्रद्धा का उल्लेख किया गया है। यदि उक्त प्रसंग में श्रद्धा का अर्थ जल नहीं करेंगे तो अन्यथा प्रश्न का अन्यथा उत्तर होगा, जो कि–असंगति होगी। "पांचवीं आहुति में पुरुषवाची होता है" इस उत्तर के कथन से श्रद्धा ही जल रूप से प्रतीत होती हैं। "वेत्थ यथा" इत्यादि प्रश्न के प्रकार का स्वरूप, "इति पंचम्याम्" वाक्य के "इति" शब्द से परिहार किये जाने पर ही स्पष्ट होता है। श्रद्धा-सोमराज-वर्षा-अन्नवीर्य-गर्भ आदि रूपों में जल का क्रमशः परिणाम बतलाकर, उस जल को ही पुरुषवाची बतलाया गया हैं। श्रद्धा शब्द का जल नाम से वैदिक प्रयोग भी मिलता है "अप का प्रणयन करने वाला श्रद्धा ही जल है" इत्यादि। "श्रद्धा का हवन करते हैं, इस आहुति से सोमराज होते हैं" इसमें जल का सोमाकार परिणाम सिद्ध किया गया है, इसलिए यह मानना चाहिए कि–अन्य भूतों से संसक्त होकर–जल विशिष्ट संसक्त जीव, गमन करता है।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः।३।१।६॥

यत् पुनरुक्तं अद्भिः संपरिष्वक्तो जीवो याति इत्ययमर्थ एतस्माद्वाक्यादवगम्यत इति, तन्नोपपद्यते, अस्मिन् वाक्ये जीवस्याश्रवणात्। अत्राहि श्रद्धादय एवाम्बुव्यवस्थाविशेषा होम्यत्वेन

श्रुता:, ननु जीवस्तत्परिष्वक्त इति चेत्, तन्न इष्टादिकारिणां प्रतीतेः, अस्मिन्नेववाक्ये हि उत्तर ब्रह्मज्ञानविधुरेष्टापूर्त्तदत्ताकारिणो द्युलोकं प्राप्य सोमराजानोभवंति, पुण्यकर्मावसाने च पुनरागत्य गर्भं प्राप्नुवंतीत्युच्यते" अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्तदत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवति "इत्यारभ्य" पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चंद्रमसमेष सोमोराजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयंति "तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेत: सिंचति तद्भूय एव भवति " इति । अत्रापिद्युलोकाग्नौ "श्रद्धांजुह्वति तस्या आहुतेस्सोमोराजा संभवति " इति तदेकार्थत्वात् श्रद्धावस्थदेहविशिष्टः सोमरूपदेहविशिष्टो भवतीत्युक्तमिति गम्यते । देहस्य जीवविशेषणतैक स्वरूपस्य वाचक: शब्दो विशेष्ये जीव एव पर्यवस्यति, अत: संपरिष्वक्तोजीवो यातीत्युपद्यते।

पुन: जो यह कहा कि–जलों से संसक्त जीव के गमन का अर्थ ही उक्त वाक्य में प्रतीत होता है, सो यह कथन असंगत है, क्योंकि–इस वाक्य में तो जीव का उल्लेख ही नहीं है। इस प्रसंग में तो, केवल जल ही अवस्था विशेष श्रद्धा आदि, हवनीय द्रव्य के रूप में कहा गया है, उससे समन्वित जीव का तो उल्लेख है नहीं। इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिए उक्त प्रसंग में इष्टापूर्त्त करने वालों का वर्णन किया गया है, इस वाक्य के शेषांश में ही कहा गया है कि–ब्रह्मज्ञान से रहित, केवल इष्टापूर्त्त करने वाले पुरुष द्युलोक में जाकर सोमराजा होते हैं और पुण्यकर्मों की समाप्ति हो जाने पर, पुन: गर्भ में आते हैं। कहते हैं कि– "जो ग्रहस्थ, प्रथम इष्टापूर्त्त और दत्त, इन तीन कर्मों के उपासक हैं, वे धूम्र दक्षिणायन मार्ग को प्राप्त होते हैं " पितृलोक से आकाश, से चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं, ये ही सोमराजा, देवताओं के अन्न हैं, इन्हें ही देवता भक्षण करते हैं " जब तक पुण्यक्षीण नहीं होते तब तक चन्द्र लोक में रुक कर पुन: उसी मार्ग से लौट आते हैं।" जो जो प्राणी अन्न खाकर वीर्य सिंचन करते हैं, उन्हीं में इनका जन्म होता है।" इत्यादि यहाँ पर भी द्युलोक रूपी अग्नि में " श्रद्धा की आहुति देते हैं" इस आहुति

से सोमराजा होते हैं" इस प्रसंग में उक्त अर्थ की ही प्रतीति होने से, श्रद्धावस्थ देह विशिष्ट ही, सोमरूप देह विशिष्ट होता है, ऐसा ज्ञात होता है। यह देह, जीव का ही विशेषण है देहवाचक शब्द भी, अपने विशेष्य जीव में ही पर्यवसित होगा यह स्वाभाविक है। इसलिए जीव भूतसूक्ष्म से संसक्त होकर ही गमन करता है, यह बात संगत हो जाती है।

ननु च "ते देवा भक्षयंति" इति देवैर्भक्ष्यमाणत्ववचनात् "सोमोराजा" इति न जीव उच्यते, जोवस्यानदनीयत्वात्। तत्राह–

(शका) "उसे देवता खाते हैं" ऐसे देवत्व के भक्षणत्व से ज्ञात होता है कि–" सोमोराजा" जीव के लिए नहीं कहा गया हैं, क्योंकि–जीव कोई भक्ष्य पदार्थ नहीं है। इसका उत्तर देते हैं–

भाक्तंवानात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति।३।१।७॥

वाशब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति। इष्टादिकारिणोऽनात्मवित्वात् स देवानां भोगोपकरणत्वेनेहामुत्र च वर्त्ततेइहेष्टादिना तदाराधनं कुर्वन्नुपकरोति, आराधनप्रीतैर्देवैर्दत्तममुंलोकंप्राप्य तत्रतत्समानभोगः तदुपकरणं भवति "यथा पशुरेवं स देवानाम्" इत्यनात्मविदो देवानामुपकरणत्वं दर्शयति श्रुतिः। स्मृतिरप्यात्मविदां ब्रह्मप्राप्तिमनात्मविदां च देवभोग्यत्वं दर्शयति "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यांति मामपि" इति। अतो जोवस्य देवानां भोगोपकरणत्वाभिप्रायमन्नत्वेन भक्ष्यत्ववचनं अतस्तद्भाक्तम्, तेनतृप्तिरेव च देवानां भक्षणमिति श्रूयते "न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एत देवामृतं दृष्टवा तृप्यन्ति" इति। तस्माद्भूतसूक्ष्मैसंपरिष्वक्तं जीवो रंहतीति सिद्धम्।

सूत्रस्थ वा शब्द तर्क का समाधान करता है। यज्ञ करने वालों में आत्मज्ञान का अभाव रहता है, इसलिए वे इस लोक और परलोक में

देवताओं के भोग्य होते हैं। इस लोक में, यज्ञ करके उनकी आराधना करते हुए उनका भोग साधन करते हैं, आराधना से प्रसन्न देवताओं से प्राप्त परलोक में उनके अनुरूप भोगोपकरण होते हैं। जैसे कि— "यह देवताओं का पशु है" इत्यादि श्रुति, अनात्मविद पुरुष को देवताओं का उपकरण बतलाती है। स्मृति भी आत्मविदों की ब्रह्म प्राप्ति तथा अनात्मविदों की देव भोग्यता का वर्णन करती है "देवों की आराधना करने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं, और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार जीवों को, देवों का भोगोपकरण बतलाने के लिए ही भक्षणीय अन्न बतलाया गया है, जो कि गौण कथन है। देवताओं की तृप्ति ही देवताओं का भोजन है जैसे कि-"वे देवता न खाते हैं न पीते हैं, वे तो अमृत पदार्थ को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।" इत्यादि से सिद्ध होता है कि-जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से संसक्त होकर ही गमन करता है।

२. कृतात्ययाधिकरण:-

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवंच ।३।१।८॥

केवलेष्टापूर्त्तदत्ताकारिणां धूमादिना पितृयानेन यथा गमनं कर्मफलावसानेन पुनरावर्त्तनं चाम्नातं "यावत् संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानंपुनर्निवर्तन्ते" इति। तत्र प्रत्यवरोहम् जीवः किमनुशयवान् प्रत्यवरोहति उतनेति संशय्यते। किं युक्तम्? कर्मणः कृत्स्नस्योपभुक्तत्वात् नानुशयवानिति प्राप्तम्। अनुशयो हि उपभुक्तशिष्टंकर्म। तच्च कृत्स्नफलोपभोगे सति नावशिष्यते। "यावत्संपातमुषित्वा" इति वचनात् कृत्स्नोपभोगश्च ज्ञायते। संपतंत्यनेन स्वर्गं लोकमिति सम्पातः कर्मोच्यते। श्रुत्यंतर च "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किंचेह करोत्ययम्, तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" इति।

जो केवल इष्टापूर्त्त और दत्त कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे धूम आदि पितृमार्ग से गमन करते हैं, और कर्मफल के समाप्त हो जाने पर पुनः लौट आते हैं ऐसा— "जब तक पुण्यक्षीण नहीं होते तब तक भोगने के बाद उसी मार्ग से लौट आते हैं" कहा गया। इस पर संशय होता कि—लौटने वाला जीव, सानुशय लौटता है अथवा नहीं? विवेचना से ज्ञात होता है कि-जब वह समस्त कर्मों को भोग चुकता है तब अनुशय रहित होकर लौटता है। उपभोग से बचे हुए कर्म को अनुशय कहते हैं वह संपूर्ण फल भोग के बाद तो बच नहीं सकता। "यावत् संपातमुषित्वा से संपूर्ण भोग ही ज्ञात होता है। जिससे स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है ऐसे कर्म को ही संपात कहते हैं। इसी प्रकार की दूसरी श्रुति भी है— "जीव इस जगह जो कुछ शुभाशुभ कर्म करता है, उस कर्म के शेष हो जाने पर, उन कर्मों से प्राप्त लोकों से पुनः यहीं लौट आता है" इत्यादि।

सिद्धान्तः— एवंप्राप्तेऽभिधीयते-अनुशयवान् प्रत्यवरोहति-इति। कुतः? दृष्टस्मृतिभ्यां-श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। श्रुतिस्तावद् "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते, रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा, अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिं आपद्येरन् श्वयोनिं वा शूकर योनिं वा चाण्डाल योनिं वा" इति प्रत्यवरूढान प्रतिश्रूयते। अमुष्माल्लोकात् प्रत्यवरूढेषु रमणीय कर्माणो रमणीयां ब्राह्मणादि योनिं प्रतिपद्यन्ते; कपूयचरणाः, कुत्सित कर्माणः कुत्सितां श्वशूकरचाण्डालादि योनिं प्रतिपद्यन्त इति प्रत्यवरूढानां पुण्यपापकर्मयोगं दर्शयति। स्मृतिरपि- "वर्णाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठा प्रेत्य कर्मफलमनुभूयतः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विश्वंचोविपरीता नश्यंति हि" इति। तथा —"ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिरूपंवर्णंबलमेधांप्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते तच्चचक्रवद् उभयोर्लोकयोः सुख एव वर्त्तते" इति।

उक्त संशय पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि–जीव सानुशय लौटता है ऐसा श्रुतिस्मृति से निश्चित होता है। श्रुति जैसे "इस लोक में जो शुभ कर्म करते हैं, वे शीघ्र ही शुभ, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य योनियों को प्राप्त करते हैं। जो अशुभ कर्म करते हैं वे शीघ्र ही, शूकर-कूकर-चांडाल आदि अशुभ योनियों को प्राप्त करते हैं।" ऐसा सानुशय प्रत्यावर्त्तन का वर्णन करती है। परलोक से रमणीय शुभ कर्मों से युक्त लौटने पर ही शुभ ब्राह्मण आदि शुभ योनियाँ प्राप्त होती हैं तथा अशुभ कर्मों के आचरण से शूकर आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं, इत्यादि लौटने वालों को ही पुण्य पाप कर्मो को बतलाया गया है। स्मृति में इसी प्रकार कहते हैं कि-"वर्ण और आश्रम कर्मो का भलीभाँति पालन करने वाले, मरणोपरान्त कर्मफलों का अनुभव करके अंत में विशिष्ट-देश-जाति-कुल-रूप-आयु-विद्या-धन-प्रतिष्ठा–सुख—आदि से युक्त होकर जन्म लेते हैं। इससे विपरीत आचरण करने वाले विपरीत नष्ट फल प्राप्त करते हैं।" तथा—"उसके बाद लौटने पर शेष कर्मफलानुसार जाति–रूप–वर्ण—बल–मेधा—प्रज्ञा—धन–धर्म के अनुष्ठान आदि को प्राप्त करते हैं, ऐसा करते हुए वे दोनों लोकों में सुख प्राप्त करते हैं" इत्यादि।

"यावत्संपातम्" इति फलदानप्रवृत्तकर्म विशेषविषयम्, "यत् किंचेहकरोत्ययम्" इतीदमपि तद्विषयमेव। अभुक्तफलानामकृत-प्रायश्चितानां च कर्मणां कर्मान्तरफलानुभवान्नाशोऽप्यनुपपन्नः। अतोऽमुं लोकं गताः सानुशय एव यथेतमनेव च पुनर्निवर्त्तन्ते- आरोहणप्रकारेण प्रकारान्तरेण च पुनर्निवर्त्तन्ते इत्यर्थः, आरोहणं हि धूमरात्रिपरपक्षदक्षिणायणषण्मासपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण। अवरोहणं तु चन्द्रमसःस्थानादाकाशवायुधूमाभ्रमेघ क्रमेण। तत्रा-काशावरोहणाद्यथेतम्, वाय्वादिप्राप्तेः पितृलोकाद्यप्राप्तेश्चानेवम्

"यावत् संपातम्" श्रुति का तात्पर्य है कि—जो कर्म, फल देने के लिए उन्मुख हैं, उन्हीं का भोग होगा, "यत्किंचित् करोत्ययम्" श्रुति भी यही बात कहती है। जिन कर्मों का फल न भोगा गया हो तथा वे प्रायश्चित से भी विनष्ट न हो पाये हों, उनका, अन्य कर्मों के फलभोग से नाश होना असंभव है। इसलिए चन्द्रगत पुरुष का सानुशय आरोहण

और सानुशय अवरोहण होता है, ऐसा ही मानना चाहिए। आरोहण के अनुसार या प्रकारान्तर से भी अवरोहण होता है। आरोहण क्रमशः धूम—रात्रि—कृष्णपक्ष दक्षिणायन—पितृलोक-आकाश-चन्द्रलोक तक होता है। अवरोहण चंद्रलोक से-आकाश-वायु—धूम-मेघ क्रम से होता है। आकाश आदि में तो अवरोहण समान होता है, किन्तु वायु आदि में अवरोहण का क्रम बदल जाता हैं, उसमें पितृलोक आदि की प्राप्ति नहीं होती।

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।३।१।६।।

"रमणीय चरणाः" "कपूयचरणाः" इति न चरणशब्देन पुण्य पापरूपं कर्माभिधीयते, चरणशब्दस्य लोकवेदयोराचारे प्रसिद्धेः, लौकिकाः खलु चरणमाचारः शीलंवृत्तमिति पर्यायानभिमन्यते, वेदे च- "यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि" यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि " इति चरणकर्मणी भेदेन व्यपदिश्येते, अतः चरणात्शीलात् योनिविशेषप्राप्तिः, नानुशयादिति चेत्, तत्र, चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते, केवलादाचारात् सुखदुःखप्राप्त्यसंभवात् । सुखदुःखेहि पुण्यपापरूप कर्मफले ।

"रमणीय चरणाः" कपूय चरणाः" इत्यादि में चरण शब्द से पाप पुण्यरूप कर्म अभिधेय नहीं हैं, चरण शब्द की तो लोक और वेद में आचार रूप से ही प्रसिद्धि है। लोग, प्रायः चरण शब्द को, आचार—शील—कुल आदि का पर्यायवाची मानते हैं। वेद में जैसे-"जो निर्दोष कर्म हैं वे ही आचरणीय हैं" "जो मेरे सुचरित हैं, वे ही तेरे लिए आचरणीय हैं" इत्यादि में चरण और कर्म दोनों का भिन्न रूप से उल्लेख है। यह नहीं कह सकते कि-चरण से ही योनि विशेष की प्राप्ति होती है। चरणविषयक श्रुति, कर्मोपलक्षणार्थक है। ऐसी आचार्य कार्ष्णाजिनि की मान्यता है कि केवल आचार से ही सुख—दुःख की प्राप्ति संभव नहीं है। सुख—दुःख तो, पाप—पुण्य रूप कर्म के ही फल होते हैं।

आनर्थक्यमिति चेन्नतदपेक्षत्वात् ।३।१।१०॥

एवं तर्हि अफलत्वादाचारस्य स्मृतिविहितस्यानर्थक्यमेवेति चेत्-तन्न-तदपेक्षत्वात् पुण्यस्यकर्मणः । आचारवत् एवं पुण्यकर्मस्वधिकारः "संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" "आचारहीनं न पुनंति वेदाः" इत्यादि वचनेभ्य अतश्चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति काष्र्णाजिने भिप्रायः ।

यदि कहें कि—ऐसा मानने से तो, निष्फलत्व हेतु स्मृति शास्त्रोक्त आचार निरर्थक हो जावेंगे? सो बात नहीं है, क्योंकि- सारे पुण्यकर्म सदाचार सापेक्ष ही होते हैं । जैसे कि—"संध्याहीन अपवित्र व्यक्ति सभी कर्मों में अयोग्य माना गया है " आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं करपाते" इत्यादि वचनों से ऐसा ही निश्चत होता है । इसलिए चरण श्रुति कर्मफलक्षणार्थक—ही है, ऐसा काष्र्णाजिनि का अभिप्राय है ।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरि : ।३।१।११॥

"पुण्यं कर्माचरति" पापं "कर्माचरति" इति कर्मणि चरतेः प्रयोगात् प्रथङनिर्देशस्य च प्रत्यक्षश्रुतिसिद्धाचारानुमितश्रुतिसिद्धविषयत्वेन गोवलीवर्दन्यायेनोपपत्तेः । मुख्ये संभवति न लक्षणा न्याय्येति सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्दाभिधेये, इति बादरिराचार्यो मन्यते । अत्र बादरिमतमेव स्वमतम्, आचारानुमितश्रुतिविहित संध्यावंदनादेः कर्मान्तराधिकारसंपादनं फलमिति तु स्वीकृतम् । अतः सानुशया एव प्रत्यवरोहंति ।

"पुण्य कर्म का आचरण करता है,, पाप कर्म का आचरण करता है" इत्यादि कर्माचरण के प्रयोग से, कर्म के अर्थ में "चर" धातु का प्रयोग—गोवलीवर्द न्याय (सांड जैसे गो से भिन्न होते हुए भी गो जाति का होने से गो शब्द से पुकारा जाता है) के अनुसार—उचित ही प्रतीत होता है मुख्यार्थ से ही जब कार्य चल जाय, तो लक्षणार्थ करना न्याय्य नहीं है, इसलिए जब पाप और पुण्य में ही जब चरण शब्द अभिधेय है

तब लक्षणा से अर्थ करना उचित नहीं है, ऐसा बादरि आचार्य का मत है। यह बादरि का मत ही अपना मत है। आचारानुमित श्रुतिविहित–संध्यावंदन आदि कर्म का जो, अन्यान्य कर्मों में अधिकार संपादन रूप-फल स्वीकारा गया है, वही उचित है। इससे सानुशय अवरोहण ही निश्चित होता है।

अनिष्टादिकार्याधिकरणः–

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।३।१।१२॥

केवलेष्टापूर्तदत्तकारिणश्चन्द्रमसं गत्वा सानुशया एव निवर्तन्ते इत्युक्तम्, इदानीमनिष्टादिकारिणोऽपि चन्द्रमसं गच्छंति, नेति चिन्त्यते, ये विहितं न कुर्वन्ति, निषिद्धं च कुर्वन्ति, त उभयेऽपि पापकर्मणोऽनिष्टादिकारिणः। किं युक्तम्? तेऽपि चंद्रमसं गच्छंतीति, कुतः? तेषामपि हि तद्गमनं श्रुतं "ये वैकेचास्माल्लोकात्प्रयंति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्यविशेषेण सर्वेषामेव गति श्रवणात्।

केवल इष्टापूर्त और दत्त कर्म करने वाले ही चान्द्रमसी गति को प्राप्त कर सानुशय लौटते हैं, यह बतलाया गया। अब अनिष्ट आदि के करने वाले की चान्द्रमसी गति होती है या नहीं? इस पर विचारते हैं। जो शास्त्र विहित कर्म नहीं करते और जो शास्त्र निषिद्ध कर्म करते हैं, वे दोनों ही पापकर्म करने वाले, अनिष्टकर्मी हैं। कह सकते हैं कि वे भी चांद्रमसी गति को प्राप्त होते हैं उनकी भी वैसी ही गति सुनीजाती है जो भी इस लोक से जाते हैं, वे सभी चन्द्रमस को प्राप्त होते हैं", इत्यादि में सभी की गति का वर्णन है।'

एवं तर्हि सुकृतदुष्कृतकारिणोरुभयोरप्यविशिष्टैव गतिः स्यात् नेत्याह।

ऐसा मानने से तो पाप और पुण्यकारी दोनों की ही एक सी गति होगी? ऐसा नहीं होता, यही बतलाते हैं—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौतद्गतिदर्शनात् ।३।१।१३।।

तु शब्दः शंकांव्यावर्त्तयति, इतरेषाम्-अनिष्टादिकारिणां चन्द्रावरोहावरोहौ संयमने-यम शासने तत्प्रयुक्त यातना अनुभूयैव, नान्यथा । कुतः ? तद्गतिदर्शनात्-दृश्यते हि पापकर्मणां यमवश्यतया तद्गमनम् " अयं लोको नास्ति न पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" वैवस्वतं संगमनम् जनानां यमं राजानम्" इत्यादिषु ।

तु शब्द शंका का समाधान करता है, अनिष्ट कर्म करने वाले लोगों का, चन्द्रमा में आरोहण तभी होता है, जब कि वे यम के शासन में नारकीय यातनाओं की अनुभूति कर चुकते हैं। अन्यथा उनकी चान्द्रमसी गति संभव नहीं है। उनकी गति का ऐसा ही वर्णन मिलता है " जो ऐसा सोचते हैं कि–दृश्य लोक ही सब कुछ है, परलोक कुछ भी नहीं है, वे लोग बार बार मेरी अधीनता प्राप्त करते हैं " लोगों को यम का दर्शन और यमालय में जाना पड़ता है।" इत्यादि ।

स्मरंति च ।३।१।१४।।

स्मरंति च सर्वेषां यमवश्यतां पराशरादयः "सर्वे चैते वशं यांति यमस्य भगवन् किल्" इत्यादिषु ।

पराशर आदि, सभी की यमवश्यता बतलाते हैं– "ये सभी यम की वश्यता प्राप्त करते हैं" इत्यादि ।

अपि सप्त ।३।१।१५।।

पापकर्मणां गंतव्यत्वेन रौरवादीन् सप्त नरकानपि स्मरंति ।

पापकर्म करने वालों के लिए, रौरव आदि सात नरकों का भी, गंतव्यस्थान के रूप से वर्णन करते हैं ।

तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः ।३।१।१६।।

तेष्वपि सप्तसु यमाज्ञयैव गमनादविरोधः । अतोऽनिष्टादि–

कारिणामपि यमलोकं प्राप्य स्वकर्मानुरूपं यातनाश्चानुभूय पश्चात् चंद्रावरोहावरोहौ स्तः ।

उन सात रौरवादि नरकों में भी यम की आज्ञा से ही गमन होता है। इससे निश्चित होता है कि-अनिष्टकारी भी यम लोक को प्राप्त कर अपने कर्मानुरूप यातनाओं को भोगकर बाद में चन्द्र पर आरोहण अवरोहण करते हैं।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—

इस मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।३।१७॥

तु शब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः अनिष्टादिकारिणामपि चंद्रप्राप्तिरस्तीत्येतन्नोपपद्यते। कुतः? विद्याकर्मणोरिति विद्याकर्मणोः फलभोगार्थत्वाद् देवयान पितृयाणयोः। एतदुक्तं भवति-अनिष्टादिकारिणां यथा विद्या विधुरत्वात् देवयानेन पथा गमनं न संभवति, तद्वदेव इष्टापूर्त्तदत्त-विधुरत्वात् पितृयानेन चंद्रगमनमपि न संभवति, इति। देवयान पितृयाणयोः विद्याविषयत्वं पुण्यकर्मविषयत्वं च कथमवगम्यत इति चेत्—प्रकृतत्वात्तयोः। प्रकृता हि देवयाने विद्या, पितृयाणे च कर्म "यद्यइत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते" इत्युक्त्वा "तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽह्नः" इत्यादिना देवयानवचनात्। "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्तेदत्तमित्युपासते" इत्युत्तवा-"ते धूममभिसंभवंति" इत्यादिना पितृयान वचनाच्च "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयंति चंद्रमसेव ते सर्वे गच्छंति" इत्येदपि वचनं "य इष्टादिकारिणः ते सर्वे" इति परिणेयम्।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्त मत का व्यावर्त्तक है। अनिष्ट कारियों की भी चांद्रमसी गति होती है, है ऐसा कथन उपयुक्त नहीं है, विद्या और कर्म के फलस्वरूप ही देवयान और पितृयान मार्ग से गति होती है।

कथन यह है कि-जैसे कि-अनिष्टकारी, अध्यात्मविद्या की उपासना के बिना देवयान में नहीं जा सकते, वैसे ही-ईष्टापूर्त्तादत्त कर्म के बिना, पितृयान मार्ग से भी चांद्रमसी गति असंभव है। यदि कहें कि- देवयान और पितृयान की विद्या विषयता और पुण्यकर्म विषयता कैसे ज्ञात हुई? दोनों शास्त्रों में ही वर्णन किया गया है। देवयान के लिए उपासना और पितृयान के लिए कर्म का ही उल्लेख है। "जो उन्हें इस प्रकार जानते हैं, अरण्य में जो श्रद्धा पूर्वक तप करके उपासना करते हैं" वे अर्चिरादिगति को प्राप्त कर, दिवसाभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से देवयान का तथा "जो ग्राम में इष्टापूर्त्तदान से इनकी उपासना करते है" वह धूममार्ग को प्राप्त करते है" इत्यादि से पितृयान का उल्लेख किया गया है। "जो कोई इस लोक से जाते हैं, वे सब चान्द्रमसी गति ही प्राप्त करते हैं" इस वचन को भी "जो इष्टादिकारी हैं वे सब" इत्यादि की तरह ही समझना चाहिए।

ननु पापकर्मणां चंद्रगमनाभावे पंचमाहुत्यसंभवात् शरीरारंभ एव नोपपद्यते, "पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवंति" इति हि शरीरारंभः श्रूयते, सा चाहुतिश्चंद्र प्राप्तिपूर्विकेति दर्शितम्, अतः शरीरारंभायैव तेषामपि चंद्रारोहावरोहाववश्याभ्युपेत्याविल्यत आह-

तर्क-यदि पाप करने वालों की चान्द्रमसी गति न होगी तो वे पांच आहुतियों को भी न प्राप्त होंगे, फिर उनका शरीरारंभ भी न होगा क्योंकि-"पांचवीं आहुति प्राप्त कर पुरुष नाम वाला होता है" ऐसा शरीरारंभ का वर्णन मिलता है, इसमें चंद्र प्राप्तिपूर्विका आहुति ही दिखलाई गई है इसलिए शरीरारंभ के लिए, उनका भी चंद्रारोहण अवरोहण स्वीकारना होगा। इस तर्क का परिहार करते हैं—

न तृतीयोपलब्धेः ।३।१।१८॥

तृतीयस्थानस्य शरीरारंभाय न पंचम्याहुत्यपेक्षा, कुतः? तथोपलब्धेः, तृतीयस्थानशब्देन केवलपापकर्माण उच्यन्ते, तेषां देहारंभे पंचमाहुत्यमपेक्षत्वमुपलभ्यते "वेत्थ यथा केनासौ लोको न संपूर्यते" इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचने "अथैतयोः पथोर्नकतरेण च

तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनिभूतानिभवंति जायस्वम्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते" इति तृतीय स्थानस्य द्युलोकारोहावरोहाभावेन द्युलोका संपूर्त्तिंवचनादस्य तृतीय स्थानस्य शरीरारम्भाय न पंचमाहुत्यपेक्षा। "पंचम्याहुतौ" इति चापां पंचमाग्निसंबंधस्य पुरुषवचस्त्वहेतुत्वमात्रं प्रतिपादयति, नान्यन्निवारयति, अवधारणाश्रवणात्।

तृतीय स्थानीय पापी के लिए पांच आहुतियों की अपेक्षा नहीं होती ऐसा ही शास्त्र में पाया जाता है। तृतीय स्थान शब्द से केवल पाप करने वालों का ही उल्लेख है, उनके लिए पंच आहुतियों की अनपेक्षा का इस प्रकार वर्णन किया गया है—"क्या तुम जानते हो कि-यह द्युलोक भर क्यो नहीं जाता? "इस प्रश्न के उत्तर में—' बार बारआने जाने वाले क्षुद्रव्यक्तियों का इन दोनों में से किसी भी मार्ग से आना जाना नहीं होता, उनकी तो यहीं मरने जीने की तीसरी गति होती, है इसलिए द्युलोक नहीं भरता "ऐसे तृतीय स्थान का उल्लेख किया गया है, जिसमें द्युलोक के गमनागमन का अभाव रहता है इस वचन से तृतीय स्थानीय की, शरीरारंभ में, पंचाहुति अनपेक्षा ज्ञात होती है। "पंचम्यामाहुतावापः" इत्यादि श्रुति तो केवल पंचाग्नि संबंधी जल को ही, पुरुष के स्वरूप का समुत्पादक सिद्ध करती है, अन्य कारणों का प्रतिषेध भी नहीं करती। श्रुति में ऐसा कोई निश्चयात्मक शब्द भी नहीं है।

स्मर्यतेऽपि च लोके ।३।१।१९॥

पुण्यकर्मणामपि केषांचित्पंचमाहुत्यनपेक्षया देहारंभोलोके स्मर्यंते द्रौपदीधृष्टद्युम्नप्रभृतीनाम्।

स्मृतियों में—पुण्य करने वालों में भी, किसी किसी का देहारंभ, पांचआहुतियों के बिना बतलाया गया है, द्रौपदी धृष्टद्युम्न आदि का इसी प्रकार का है।

दर्शनाच्च ।३।१।२०॥

श्रुतावपिदृश्यते केषांचित् पंचमाहुत्यनपेक्षयादेहारंभः 'तेषां

खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवंति आंडजंजीवजमुद्भिजम्" इति, एवमुद्भिजस्वेदजयोः भूतयोः पंचमाहुतिमंतरेणोत्पत्तिर्दृश्यते ।

श्रुति में भी किसी किसी का पंचआहुति के बिना देहारंभ दिखलाया गया है—"इन भूतों में तीन ही प्रकार के बीज होते हैं अंडज, जीवज और उद्भिज" उद्भिज स्वेदज की उत्पत्ति, पांच आहुतियों के बिना ही दिखलाई गई है।

ननुस्वेदजानामत्र न संकीर्त्तनमस्ति "त्रीण्येव बीजानि" इति वचनात् तत्राह—

यहाँ स्वेदजों का तो उल्लेख ही नहीं है "त्रीण्यैवबीजानि" ऐसा ही उल्लेख है? इसका समाधान करते हैं—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।३।१।२१॥

संशोकजस्य-स्वेदजस्यापि "आडजंजीवजमुद्भिजम्" इत्यत्र तृतीयेनोद्भिजशब्देनावरोधः संग्रहो विद्यत इत्यर्थः । अतः केवल पापकर्मणां चंद्रप्राप्तिर्नसंभवति ।

"अण्डजंजीवजमुद्भिजम्" में कही गइ तीसरी उद्भिज सृष्टि में ही स्वेदज का भी, उल्लेख हो जाता है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि—केवल पाप करने वालों की, चान्द्रमसी गति नहीं होती।

४—तत्स्वाभाव्यापत्यधिकरणः—

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपद्यतेः ।३।१।२२॥

इष्टादिकारिणोभूतसूक्ष्मपरिष्वक्ताः सानुशयाश्चन्द्रमसोऽवरोहंतीत्युक्तम्, अवरोहप्रकारश्च "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशम् आकाशाद्वायुं, वायुभूत्वा धूमो भवति, धूमोभूत्वा अभ्रंभवति, अभ्रंभूत्वा मेघोभवति, मेघोभूत्वा प्रवर्षंति" इति वचनात् । "यथेतमनेवं च" इत्युक्तम् तत्रास्याकाशादि प्रतिपत्तौ

देवमनुष्यादिभाववदाकाशादिभावः, उत् तत्सादृश्यापत्तिमात्रमिति विशये श्रद्धावस्थस्यसोमभाववदविशेषादाकाशादिभावः

इष्टादिकारी, भूतसूक्ष्म से परिष्वक्त होकर सानुशय चंद्रमार्ग से अवरोहण करते हैं, तथा अवरोहण का प्रकार "उसी मार्ग से लौटते हैं–आकाश से वायु–वायु से धूम-धूम से अभ्र–अभ्र से मेघ होकर वर्षते हैं इस प्रकार बतलाया गया। इस पर संशय होता है कि–जीव, मनुष्यादि देह की तरह होकर आकाश आदि से होकर आता है अथवा, आकाश आदि सदृशरूप बनकर आता है?. इस पर समझ में आता है कि श्रद्धावस्था में जैसी सोमभाव की प्रप्ति होती है, वैसा ही आकाशादि भाव भी होता है।

सिद्धान्तः– इति प्राप्ते तत्स्वाभाव्यापत्तिरेवेत्युच्यते। तत्स्वाभाव्यापत्तिः, तत्साहदृश्यापत्तिरित्यर्थः। कुत एतत्? उपपत्तेः सोमभावमनुष्यभावदौ हि सुखदुःखोपभोगाय तद्भावः, अत्रत्वाकाशादौ सुखदुःखोपभोगाभावाद् तद्भावानुपपत्तेस्तदापत्ति वचनं तत्संसर्गकृततत्सादृश्यापत्यभिप्रायम्।

उक्त संशय पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि–उसकी स्वाभाव्यापत्ति का उल्लेख है, स्वाभाव्यापत्ति का तात्पर्य है तत्सदृशता प्राप्ति। सोमभाव मनुष्यभावादि की प्राप्ति सुखदुःख के उपभोग के लिए ही होती है, आकाशआदि में सुखदुःख के भोग का अभाव रहता है, इसलिए तदापत्ति या आकाश आदि कहने का अभिप्राय यह है कि-आकाश के साथ मिलकर आकाश आदि का सा रूपधारण करता है।

५ नातिचिराधिकरणः—

नातिचिरेण विशेषात् ३।१।२३॥

आकाश प्राप्ति प्रभृति यावद् व्रीह्यादि प्राप्ति किं तत्र तत्र नातिचिरं तिष्ठति, उतानियम इति विशये, नियमहेत्वभावादनियमः।

सिद्धान्तः—इति प्राप्यते उच्यते—नातिचिरेण—इति । कुतः? विशेशात् उत्तरत्र ब्रीह्यादि प्राप्तौ "अतोवैखलु दुर्निष्प्रपतरम्" इति विशिष्यकृच्छ्र निष्क्रमणत्वाभिधानात् पूर्वंग ह्याकाशाद्विप्राप्तावचिर-निष्क्रमणं गम्यते । दुर्निष्प्रपतरमितिछान्दसः त शब्दलोपः दुर्निष्प्रपतरं—दुःखनिष्क्रमणतरमित्यर्थः ।

आकाश आदि प्राप्ति से लेकर धान्य आदि की प्राप्ति तक जीव, थोड़ा ही समय व्यतीय करता है, अथवा उसके समय का कोई नियम नहीं है? इस शंका पर विचार करने पर नियम का कोई हेतु तो समझ में आता नहीं इसलिए अनियम ही होगा ।

इस पर सिद्धान्त रूप से "नातिचिरेण" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। इसका तात्पय है कि—अधिक समय नहीं लगता, ब्रीहि आदि रूप प्राप्ति का जो उल्लेख है, उससे ऐसा ही ज्ञात होता है । "बड़े कष्ट से निकलना होता है" ऐसे विशेष कष्टपूर्ण निष्क्रमण से ज्ञात होता है कि—इसके पूर्व के आकाश आदि रूप का, बहुत थोड़े समय में, निष्क्रमण हो जाता है। "दुर्निष्प्रपतरम्" इस शब्द में वैदिक व्याकरण के अनुसार द्वितीय "त" शब्द का लोप हो गया है, जिससे अर्थ होता है, दुःखपूर्णनिष्क्रमण वाला ।

६ अन्याधिष्ठिताधिकरणः—

अन्याधिष्ठितेपूर्ववदभिलापात् ।३।१।२४।।

अवरोहन्तो जीवाः ब्रीह्यादिभावेन जायंत इति श्रूयते-"मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायंते" इति । ते किमन्यैर्भोक्तृभिर्ब्रीह्यादिशरीरैरधिष्ठितान् ब्रीह्यादीनां श्लिष्यंति उत ते भोक्तारो ब्रीह्यादिशरीरा जायंत इति विशये-"जायंते" इति वचनात् देवो जायते मनुष्यो जायते इतिवद् ब्रीह्यादिशरीरा एव—

लौटने वाले जीव, धान्य आदि भाव से उत्पन्न होते हैं — "मेघ होकर वर्षते हैं, वे ही जौ—चावल—औषधि—वनस्पति—तिल—उर्द होकर